महात्मा गांधी लिखित

आत्म-कथा

(प्रथम खण्ड)

अनुवादक

हरिभाऊ उपाध्याय

प्रकाशक

सस्ता-मंडल, अजमेर

तृतीय बार १२०००]

मुद्रक और प्रकाशक
जीतमल लूणिया
सस्ता-साहित्य प्रेस, अजमेर

अनुवादक की ओर से

यह मेरा अहोभाग्य है कि महात्माजी की आत्म-कथा के हिन्दी अनुवाद का अवसर मुझे मिला। 'नवजीवन' में 'आत्म-कथा' के प्रकाशित होने के पहले ही मैं 'हिन्दी-नवजीवन' को छोड़कर, महात्माजी की आज्ञा से, राजस्थान में काम करने के लिए आ चुका था। मेरे बाद कई भाइयों के हाथों में 'हिन्दी-नवजीवन' का काम रहा और 'आत्म-कथा' का अनुवाद भी उसमें कई मित्रों द्वारा हुआ। अतएव उसमें भाषा-शैली का एक-सा न रहना स्वाभाविक था। परन्तु उसे पुस्तक-रूप में प्रकाशित करने के लिए यह आवश्यक समझा गया कि अनुवाद किसी एक व्यक्ति से कराया जाय। यह निर्णय होते ही मैंने, भूखे भिखारी की तरह, झपट कर अनुवाद का भार अपने सिर पर ले लिया। सचमुच, वह दिन मेरे बड़े सद्भाग्य का दिन था।

अनुवाद मैंने गुजराती से किया है। मूल कथा महात्माजी गुजराती में ही लिख रहे हैं। अंगरेजी अनुवाद में बहुत स्वतन्त्रता ली गई है। अतएव अंगरेजी से हिन्दी उलथा करने में हिन्दी अनुवाद मूल गुजराती से बहुत दूर जा पड़ता। महात्माजी गुजराती में बड़े थोड़े में, और बहुत खूबी से, अपने हृदय के गूढ़ भावों को व्यक्त कर देते हैं। उनका अनुवाद करना, कई बार, बड़ा कठिन हो जाता है। भाव को विशद करने जाते हैं तो भाषा-सौन्दर्य नहीं निभ पाता और भाषा-सौन्दर्य पर ध्यान देने लगते हैं तो भाव में गड़बड़ी पड़ने लगती है। मैंने कहीं-कहीं भाषा के किंचित् अटपटेपन को स्वीकार करके भी महात्माजी की मार्मिक वाक्य-रचना को क़ायम रखने की कोशिश की है। पाठक महात्माजी के ऐसे वाक्यों को 'आर्ष'-वाक्य ही समझ लें। दूसरे, हिन्दी-भाषा ज्यों-ज्यों राष्ट्र-भाषा की

योग्यता और श्रेष्ठता को पहुँचती जायगी त्यों-त्यों उसका 'परदे की बीबी' बनी रहना असम्भव होता जायगा। उसे गुजराती, मराठी, बंगला आदि के सुन्दर और मार्मिक शब्द-प्रयोगों को अपना कर अपना भण्डार भरे बिना गुज़र नहीं। इस दृष्टि से तो इस अनुवाद के ऐसे शब्द-प्रयोग मेरी राय में केवल क्षम्य ही नहीं, स्वागत-योग्य भी हैं।

रहा अनुवाद। सो इसकी अच्छाई-बुराई के बारे में मुझे कुछ भी कहने का अधिकार नहीं। मूल वस्तु की अद्वितीयता से तो कोई इन्कार नहीं कर सकता। अनुवाद में यदि मूल की उत्तमता से पाठक को वंचित रहना पड़े तो अपनी इस असमर्थता का दोष-भागी मैं अवश्य हूँ।

जबसे मैंने अनुवाद को हाथ में लिया है, मैं मुश्किल से एक जगह ठहरने पाया हूँ—जहाँ ठहरने भी पाया हूँ, वहाँ अन्यान्य कामों में भी लगा रहना पड़ा है। अतएव जितना जल्दी मैं चाहता था, इस अनुवाद को पूरा न कर सका। इसका मुझे बड़ा दुःख है। पाठकों की बढ़ी हुई उत्सुकता को यदि यह अनुवाद पसन्द हुआ तो मेरा दुःख कम हो जायगा। अभी तो यह भाव कि मैं महात्माजी के इस प्रसाद को हिन्दी पाठकों के सामने पुस्तक-रूप में रखने का निमित्त-भागी बना हूँ, उस दुःख को कम कर रहा है। और जब मेरी दृष्टि इस अनुवाद के भावी कार्य की ओर जाती है, तब तो मुझे अपने इस सौभाग्य पर गर्व होने लगता है। मुझे विश्वास है कि महात्माजी की यह उज्ज्वल आत्म-कथा भूमण्डल के आत्मार्थियों के लिए एक दिव्य प्रकाश-स्तम्भ का काम देगी और उन्हें आशा तथा आत्मा का अमर सन्देश सुनावेगी।

उज्जैन,
फाल्गुन शुक्ल ८, सं० १९८४

हरिभाऊ उपाध्याय

प्रस्तावना

चार-पाँच साल पहले, अपने नज़दीकी साथियों के आग्रह से, मैंने आत्म-कथा लिखना मंजूर किया था और शुरुआत भी कर दी थी। परन्तु एक पृष्ठ भी न लिख सका था कि बम्बई में दंगा हो गया, और आगे का काम जहाँ का तहाँ रह गया। उसके बाद तो मैं इतने कामों में उलझता गया, कि अन्त को मुझे यरवदा में जाकर शान्ति मिली। यहाँ श्री जयरामदास भी थे। उन्होंने चाहा कि मैं, अपने दूसरे तमाम कामों को एक ओर रख कर, सबसे पहले आत्म-कथा लिख डालूँ। मैंने उन्हें कहलाया कि मेरे अध्ययन का क्रम बन चुका है, और उसके पूरा होने के पहले मैं आत्म-कथा शुरू न कर सकूँगा। यदि मुझे पूरे छः साल यरवदा में रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ होता, तो मैं अवश्य वहीं आत्म-कथा लिख डालता। पर अध्ययन-क्रम को पूरा होने में अभी एक साल बाकी था और उसके पहले मैं किसी तरह लिखना शुरू न कर सकता था। इस कारण वहाँ भी वह रह गई। अब स्वामी आनन्द ने फिर वही बात उठाई है। इधर मैं भी द० आ० के सत्याग्रह का इतिहास पूरा कर चुका हूँ, इसलिए आत्म-कथा लिखने को मन हो रहा है। स्वामी तो यह चाहते थे कि पहले मैं सारी कथा लिख डालूँ और फिर वह पुस्तकाकार प्रकाशित हो। पर मेरे पास एकसाथ इतना समय नहीं। हाँ, 'नवजीवन' के लिए तो रफ्ता-रफ्ता लिख सकता हूँ। इधर 'नवजीवन' के लिए भी हर हफ्ता मुझे कुछ-नकुछ लिखना ही पड़ता है, तो फिर आत्म-कथा ही क्यों न लिखूँ? स्वामी ने इस निर्णय को स्वीकार किया, और अब जाकर आत्म-कथा लिखने की बारी आई।

पर मैं यह निर्णय कर ही रहा था—वह सोमवार का मेरा मौन-दिन था—कि एक निर्मल-हृदय साथी ने आ कर कहा:—

"आप आत्म-कथा लिख कर क्या करेंगे? यह तो पश्चिम की प्रथा है। हमारे पूर्व में तो शायद ही किसी ने आत्म-कथा लिखी हो। और फिर आप लिखेंगे

भी क्या ? आज जिस बात को सिद्धांत के तौर पर मानते हैं, कल उसे न मानने लगें तो ? अथवा उस सिद्धांत के अनुसार जो काम आप आज करते हैं उनमें बाद को परिवर्तन करना पड़े तो ? आपके लेखों को बहुत लोग प्रमाण मान कर अपना जीवन बनाते हैं । उन्हें यदि गलत रास्ता मिला तो ? इसलिए अभी आत्म-कथा के रूप में कुछ लिखने की जल्दी न करें तो ठीक होगा ।"

इस दलील का थोड़ा-बहुत असर मुझपर हुआ । पर मैं आत्म-कथा कहाँ लिख रहा हूँ ? मैं तो आत्म-कथा के बहाने अपने उन प्रयोगों की कथा लिखना चाहता हूँ, जो मैंने सत्य के लिए समय-समय पर किये हैं । हाँ, यह बात सही है कि मेरा सारा जीवन ऐसे ही प्रयोगों से भरा हुआ है । इसलिए यह कथा एक जीवन-वृत्तान्त का रूप धारण कर लेगी । पर यदि इसका एक-एक पृष्ठ मेरे प्रयोगों के वर्णन से ही भरा हो तो इस कथा को मैं स्वयं निर्दोष मानूँगा । मैं यह मानता हूँ—अथवा यों कहिए, मुझे ऐसा मोह है—कि मेरे तमाम प्रयोग यदि लोगों के सामने आ जायँ, तो इससे उन्हें लाभ ही होगा । राजनैतिक क्षेत्र के मेरे प्रयोगों को तो भारतवर्ष जानता है—नहीं, उन्नत मानी जाने वाली दुनिया भी, थोड़ा-बहुत, जानती है । पर मेरी दृष्टि में उसका मूल्य बहुत कम है और चूँकि इन्हीं प्रयोगों के कारण मुझे 'महात्मा' पद मिला है, इसलिए मेरे नज़दीक तो उसका मूल्य बहुत ही कम है । अपने जीवन में बहुत बार इस विशेषण से मुझे बड़ा दुःख पहुँचा है । मुझे एक भी ऐसा क्षण याद नहीं पड़ता, जब इस विशेषण से मैं मन में फूल उठा होऊँ । पर, हाँ, अपने उन आध्यात्मिक प्रयोगों का वर्णन अवश्य मुझे प्रिय होगा, जिन्हें कि अकेला मैं ही जान सकता हूँ और जिनकी कि बदौलत मेरी राजनैतिक-क्षेत्र-सम्बन्धी शक्ति उत्पन्न हुई है । और यदि ये प्रयोग सचमुच आध्यात्मिक हों, तो फिर उनमें फूल उठने के लिए जगह ही कहाँ है ? इनके वर्णन का फल तो नम्रता की वृद्धि ही हो सकती है । ज्यों-ज्यों मैं विचार करता जाता हूँ, अपने भूतकाल के जीवन पर दृष्टि डालता

आता हूँ, त्यों-त्यों मुझे अपनी अल्पता साफ़-साफ़ दिखाई देती है। जो बात मुझे करनी है, आज ३० साल से जिसके लिए मैं उद्योग कर रहा हूँ, वह तो है—आत्म-दर्शन, ईश्वर का साक्षात्कार, मोक्ष। मेरे जीवन की प्रत्येक क्रिया इसी दृष्टि से होती है। मैं जो कुछ लिखता हूँ, वह भी सब इसी उद्देश से; और राजनैतिक क्षेत्र में जो मैं कूदा, सो भी इसी बात को सामने रखकर।

परन्तु शुरू ही से मेरी यह राय रही है कि जिस बात को एक आदमी कर सकता है उसे सब लोग कर सकते हैं। इसलिए मेरे प्रयोग खानगी तौर पर नहीं हुए और न वैसे रहे ही। इस बात से कि सब लोग उन्हें देख सकते हैं, उनकी आध्यात्मिकता कम होती होगी, यह मैं नहीं मानता। हाँ, कितनी ही बातें ऐसी ज़रूर होती हैं, जिन्हें हमारी आत्मा ही जानती है; जो हमारी आत्मा में ही समाई रहती हैं। परन्तु ऐसी बात तो मेरी पहुँच के बाहर की बात हुई। मेरे प्रयोग में तो आध्यात्मिक शब्द का अर्थ है नैतिक; धर्म का अर्थ है नीति; और जिस नीति का पालन आत्मिक दृष्टि से किया गया हो वही धर्म है; इसलिए इस कथा में उन्हीं बातों का समावेश रहेगा, जिनका निर्णय बालक, युवा, वृद्ध करते हैं और कर सकते हैं। ऐसी कथा को यदि मैं तटस्थ भाव से, निरभिमान रह कर, लिख सका, तो उससे अन्य प्रयोग करने वालों को अपनी सहायता के लिए कुछ मसाला अवश्य मिलेगा।

मैं यह नहीं कहता कि मेरे ये प्रयोग सब तरह सम्पूर्ण हैं। मैं तो इतना ही कहता हूँ कि जिस प्रकार एक विज्ञान-शास्त्री अपने प्रयोगों को अतिशय नियम और विचार-पूर्वक सूक्ष्मता के साथ करते हुए भी उत्पन्न परिणामों को अन्तिम नहीं बताता, अथवा जिस प्रकार उनकी सत्यता के विषय में यदि सशंक नहीं तो तटस्थ रहता है, उसी प्रकार मेरे प्रयोगों को समझना चाहिए। मैंने भरसक खूब आत्म-निरीक्षण किया है, अपने मन के एक-एक भाव की छानबीन की है, उनका विश्लेषण किया है। फिर भी मैं यह दावा हरगिज़ नहीं करना चाहता कि उनके परिणाम सबके लिए

अन्तिम हैं; वे सत्य ही हैं, अथवा वही सत्य हैं। हाँ, एक दावा अवश्य करता हूँ कि वे मेरी दृष्टि से सच्चे हैं और इस समय तक तो मुझे अंतिम जैसे मालूम होते हैं। यदि ये ऐसे न मालूम होते हों तो फिर इनके आधार पर मुझे कोई काम उठा लेने का अधिकार नहीं। पर मैं तो जितनी चीजें सामने आती हैं उनके, कदम-कदम पर, दो भाग करता जाता हूँ—ग्राह्य और त्याज्य। और जिस बात को ग्राह्य समझता हूँ उसके अनुसार अपने आचरण को बनाता हूँ, एवं जबतक ऐसा आचरण मुझे—अर्थात् मेरी बुद्धि को और आत्मा को सन्तोष देता है तबतक उसके शुभ परिणामों पर मुझे अवश्य अटल विश्वास रहता है।

यदि मैं केवल सिद्धान्तों का अर्थात् तत्त्वों का ही वर्णन करना चाहता होता तो मैं आत्म-कथा न लिखता। परन्तु मैं तो उनके आधार पर उठाये गये कार्यों का इतिहास देना चाहता हूँ, और इसीलिए मैंने इस प्रयत्न का पहला नाम रक्खा है 'सत्य के प्रयोग'। इसमें यद्यपि अहिंसा, ब्रह्मचर्य इत्यादि नियम, जो कि यों सत्य से भिन्न माने जाते हैं, उनके भी प्रयोग आ तो जायँगे परन्तु मेरे निकट तो सत्य ही सर्वोपरि है, और उसमें अगणित वस्तुओं का समावेश हो जाता है। यह सत्य स्थूल अर्थात् वाचिक सत्य नहीं है। यह तो वाचा की तरह विचार का भी सत्य है। यह सत्य केवल हमारा कल्पनागत सत्य ही नहीं, बल्कि स्वतंत्र चिरस्थायी सत्य, अर्थात् स्वयं परमेश्वर ही है।

परमेश्वर की व्याख्यायें अगणित हैं; क्योंकि उसकी विभूतियाँ भी अगणित हैं। विभूतियाँ मुझे आश्चर्य-चकित तो करती हैं, मुझे क्षण भर के लिए मुग्ध भी करती हैं; पर मैं तो पुजारी हूँ सत्य-रूपी परमेश्वर का ही। मेरी दृष्टि में वही एक-मात्र सत्य है, दूसरा सब कुछ मिथ्या है। पर यह सत्य अबतक मेरे हाथ नहीं लगा है, अभी तक मैं तो उसका शोधक-मात्र हूँ। हाँ, उसकी शोध के लिए मैं अपनी प्रिय से प्रिय वस्तु को भी छोड़ देने के लिए तैयार हूँ; और इस शोध-रूपी यज्ञ में अपने शरीर को भी होम देने की तैयारी करली है। मुझे विश्वास है कि इतनी शक्ति मुझमें

है । परन्तु जबतक इस सत्य का साक्षात्कार नहीं हो जाता तबतक मेरी अन्तरात्मा जिसे सत्य समझती है, उसी—काल्पनिक—सत्य को अपना आधार मान कर , दीप—स्तम्भ समझ कर, उसके सहारे मैं अपना जीवन व्यतीत करता हूँ ।

यह मार्ग यद्यपि तलवार की धार पर चलने जैसा दुर्गम है तथापि मुझे तो अनुभव से अत्यन्त सरल मालूम हुआ है । इस रास्ते जाते हुए अपनी भयंकर भूलें भी मेरे लिए मामूली हो गई हैं । क्योंकि इन भूलों के करते हुए भी मैं खाइयों और खन्दकों से बच गया हूँ और अपनी समझ के अनुसार तो आगे भी बढ़ा हूँ । पर यहीं तक बस नहीं; हाँ, दूर-दूर से विशुद्ध सत्य की—ईश्वर की—झलक भी देख रहा हूँ । मेरा यह विश्वास दिन-दिन बढ़ता जाता है कि सृष्टि में एक-मात्र सत्य की ही सत्ता है और उसके सिवा दूसरा कोई नहीं है । यह विश्वास किस तरह बढ़ता गया है, यह बात मेरे जगत् अर्थात् 'नवजीवन' इत्यादि के पाठक चाहें तो शौक़ से मेरे प्रयोगों में हिस्सेदार बनें तथा उस सत्य परमात्मा की झलक भी मेरे साथ-साथ देखें । फिर मैं यह बात अधिकाधिक मानता जाता हूँ कि जितनी बातें मैं कर सकता हूँ, उतनी एक बालक भी कर सकता है । और इसके लिए मेरे पास सबल कारण हैं । सत्य की शोध के साधन जितने कठिन दिखाई देते हैं, उतने ही सरल हैं । अभिमानी को जो बात अशक्य मालूम होती है वही एक भोले-भाले शिशु को बिलकुल सरल मालूम होती है । सत्य के शोधक को एक रज-कण से भी नीचे रहना पड़ता है । सारी दुनिया रज-कण को पैरों तले रौंदती है; पर सत्य का पुजारी तो जबतक इतना छोटा नहीं बन जाता कि रज-कण भी उसे कुचल सके, तबतक स्वतन्त्र सत्य की झलक भी होना दुर्लभ है । यह बात वसिष्ठ-विश्वामित्र के आख्यान में अच्छी तरह स्पष्ट करके बताई गई है । ईसाई-धर्म और इस्लाम भी इसी बात को साबित करते हैं ।

आगे जो प्रकरण क्रमशः लिखे जायँगे उनमें यदि पाठक को मेरे

अभिमान का भास हो तो अवश्य समझना चाहिए कि मेरी शोध में कमी है और मेरी वे झलकें मृग-जल के सदृश हैं। मैं तो चाहता हूँ कि चाहे मुझ जैसे अनेकों का क्षय हो जाय, पर सत्य की सदा जय हो। अल्पात्मा को नापने के लिए सत्य का गज कभी छोटा न बने।

मैं चाहता हूँ, मेरी विनय है, कि मेरे लेखों को कोई प्रमाणभूत न मानें। उनमें प्रदर्शित प्रयोगों को उदाहरण-रूप मानकर सब अपने-अपने प्रयोग यथाशक्ति और यथामति करें, इतनी ही मेरी इच्छा है। मुझे विश्वास है कि इस संकुचित क्षेत्र में, आत्म-सम्बन्धी मेरे लेखों से, बहुत-कुछ सहायता मिल सकेगी। क्योंकि एक भी ऐसी बात जो कहने लायक है, मैं छिपाऊँगा नहीं। पाठकों को अपने दोषों का परिचय मैं पूरा-पूरा कराने की आशा रखता हूँ। क्योंकि मुझे तो सत्य के वैज्ञानिक प्रयोगों का वर्णन करना है। यह दिखाने की, कि मैं कैसा अच्छा हूँ, मुझे तिलमात्र इच्छा नहीं है। जिस नाप से मैं अपने को नापना चाहता हूँ और जो नाप हम सबको अपने लिए रखना चाहिए, उससे देखते हुए तो मैं अवश्य कहूँगा।

मो सम कौन कुटिल खल कामी।
जिन तन दियो ताहि बिसरायो ऐसो निमकहरामी।

क्योंकि जिसे मैं सोलहों आने विश्वास के साथ अपने श्वासोच्छ्वास का स्वामी मानता हूँ, जिसे मैं अपने नमक का देने वाला मानता हूँ, उससे मैं अभी तक दूर हूँ और यह बात मुझे प्रतिक्षण काँटे की तरह चुभ रही है। इसके कारण रूप अपने विकारों को मैं देख तो सकता हूँ; पर अब भी उन्हें निर्मूल नहीं कर पाया हूँ।

पर अब इसे समाप्त करता हूँ। प्रस्तावना से हटकर यहाँ प्रयोगों की कथा में प्रवेश नहीं कर सकता। यह तो कथा-प्रकरणों में ही पाठक को मिलेगी।

आश्रम, साबरमती
मार्गशीर्ष शुक्ल ११, सं० १९८४ } मोहनदास करमचंद गांधी

आत्म-कथा

[प्रथ   खण्ड]

विषय सूची

पहला भाग

दूसरा भाग

तीसरा भाग

जन्म

गांधी परिवार, ऐसा मालूम होता है, पहले पंसारी * का काम करता था। परन्तु मेरे दादा से लेकर तीन पुश्त तक वह, काठियावाड़ के भिन्न-भिन्न राज्यों में, दीवान-गिरी करता आया है। ऐसा जान पड़ता है कि उत्तमचन्द गांधी, उर्फ ओता गांधी, बड़े टेक रखने वाले थे। उन्हें एक राज-दरबारी साज़िश के कारण, पोरबन्दर छोड़ कर, जूनागढ़-राज्य में जा कर आश्रय लेना पड़ा था। वहाँ जाकर उन्होंने बायें हाथ से नवाब साहब को सलाम किया। लोगों को यह अविनय-सा दिखाई दिया और जब एक ने इसका कारण पूछा तो उत्तर मिला—"दाहिना हाथ तो पोरबन्दर के सिपुर्द हो चुका है।"

ओता गांधी ने एक-एक करके अपने दो विवाह किये थे। पहली पत्नी से चार लड़के हुए थे और दूसरी से दो। अपना बचपन याद करते हुए मुझे यह ख़याल बिलकुल नहीं आता कि ये भाई सौतेले लगते थे। उनमें पांचवें करमचन्द गांधी, उर्फ कबा गांधी और अन्तिम तुलसीदास गांधी थे। दोनों भाई, एक एक करके, पोरबन्दर में दीवान रहे थे। कबा गांधी मेरे पिताजी थे। पोरबन्दर का दीवानपद छोड़ने के बाद वे 'राजस्थानी कोर्ट' के सभासद रहे थे। इसके पश्चात् राजकोट में और फिर कुछ समय वांकानेर में

* गुजरात-काठियावाड़ में पंसारी को गांधी कहते हैं।—अनुवादक

दीवान रहे। मृत्यु के समय वे राजकोट-दरबार के पेन्शनर थे।

कबा गांधी के भी एक एक करके चार विवाह हुए थे। पहली दो पत्नियों से दो लड़कियां थीं; अन्तिम पुतलीबाई से एक कन्या और तीन पुत्र हुए जिनमें सबसे छोटा मैं हूं।

मेरे पिताजी कुटुम्ब-प्रेमी, सत्यप्रिय, शूर और उदार परन्तु साथ ही क्रोधी थे। मेरा ख्याल है, कुछ विषयासक्त भी होंगे। उनका अन्तिम विवाह चालीस वर्ष की अवस्था के बाद हुआ था। वे रिश्वत से सदा दूर भागते थे, और इसी कारण अच्छा न्याय करते थे, ऐसी प्रसिद्धि उनकी हमारे कुटुम्ब में, तथा बाहर भी थी। वे राज्य के बड़े वफ़ादार थे। एक बार एक असिस्टेन्ट पोलिटिकल एजेन्ट ने राजकोट के ठाकुर साहब का अपमान किया तो उन्होंने उसका सामना किया। फलतः साहब बिगड़ पड़े और कबा गांधी से कहा, माफ़ी मांगो। उन्होंने साफ़ इन्कार कर दिया। इससे कुछ घण्टे के लिए उन्हें हवालात में भी रहना पड़ा। पर वे टस से मस न हुए—तब, साहब को उन्हें छोड़ देने का हुक्म देना पड़ा।

पिताजी को धन जोड़ने का लोभ न था। इससे हम भाइयों के लिए वे बहुत थोड़ी सम्पत्ति छोड़ गये थे।

पिताजी ने शिक्षा केवल अनुभव से प्राप्त की थी। वे उतनी ही शिक्षा पाये होंगे जिसे आज हम अपर प्राइमरी कहते हैं। इतिहास, भूगोल का ज्ञान तो बिलकुल न था। इतना होते हुए भी व्यावहारिक ज्ञान इतने ऊंचे दरजे का था कि सूक्ष्म से सूक्ष्म प्रश्नों को हल करने में अथवा हज़ार आदमियों से काम लेने में उन्हें कठिनाई न पेश आती थी। धार्मिक शिक्षा नहीं के बराबर थी।

परन्तु मन्दिरों में जाने से, कथा-पुराण सुनने से, जो धर्म-ज्ञान असंख्य हिन्दुओं को सहज ही मिलता रहता है, वह उन्हें मिलता था। अपने अन्तिम दिनों में एक विद्वान् ब्राह्मण की सलाह से जो कि हमारे कुटुम्ब के मित्र थे, उन्होंने गीता पाठ शुरू किया था, और नित्य कुछ श्लोक पूजा के समय ऊँचे स्वर से पाठ किया करते थे।

माताजी साध्वी स्त्री थीं ऐसी छाप मेरे दिल पर पड़ी है। वे बहुत भावुक थीं। पूजा-पाठ किये बिना कभी भोजन न करतीं, हमेशा हवेली—वैष्णव मन्दिर—जाया करतीं। जब से होश सँभाला, मुझे कभी याद नहीं पड़ता कि उन्होंने कभी चातुर्मास छोड़ा हो। कठिन से कठिन व्रत वे धारण करतीं और उन्हें निर्विघ्न पूरा करतीं। बीमार पड़ जाने पर भी व्रत न छोड़तीं। ऐसा एक समय मुझे याद है जब उन्होंने चान्द्रायण-व्रत किया था। बीच में बीमार पड़ गईं, पर व्रत न छोड़ा। चातुर्मास में एक बार भोजन करना तो उनके लिए मामूली बात थी। इतने से सन्तोष न पा कर, एक बार, चातुर्मास में उन्होंने हर तीसरे दिन उपवास किया। दो तीन उपवास उनके लिए एक नगण्य बात थी। एक चातुर्मास में उन्होंने ऐसा व्रत लिया कि सूर्यनारायण के दर्शन होने पर ही भोजन किया जाय। इस चौमासे में हम लड़के लोग आसमान की तरफ देखा करते कि कब सूरज दिखाई पड़े और कब मां खाना खाय। इस बात को तो सब लोग जानते हैं कि चौमासे में बहुत बार सूर्य-दर्शन मुश्किल से होते हैं। मुझे ऐसे दिन याद हैं, जब कि हमने सूर्य को निकलता हुआ देखकर पुकारा है—"मां—मां, वह सूरज निकला" और जबतक मां जल्दी

जल्दी दौड़ कर आतीं हैं, सूरज छिप जाता था। मां यह कहती हुई वापिस जातीं कि 'और कोई बात नहीं, ईश्वर नहीं चाहता कि आज खाना खाऊँ' और अपने कामों में मशगूल हो जातीं।

माता व्यवहार-कुशल थीं। राज-दरबार की सब बातें जानतीं। रनवास में उनकी बुद्धिमत्ता ठीक आंकी जाती थी। जब मैं बच्चा था, मुझे दरबारगढ़ में कभी-कभी वह साथ ले जातीं और 'बा-मा साहेब' (ठाकुर साहब की विधवा माता) के साथ के उनके कितने ही संवाद मुझे अब भी याद हैं।

ऐसे माता-पिता के यहां आश्विन बदी १२, संवत् १९२५ अर्थात् २ अक्टूबर, १८६९ ईसवी को पोरबन्दर अथवा सुदामा पुरी में मेरा जन्म हुआ।

मेरा बचपन पोरबंदर में ही बीता। ऐसा याद पड़ता है कि किसी पाठशाला में मैं पढ़ने बैठाया गया था। मुश्किल से कुछ पहाड़े पढ़ा हूँगा। उस समय मैं और लड़कों के साथ मेहताजी—मास्टर साहब को सिर्फ गाली देना सीखा—इतना याद पड़ता है, और कोई बात याद नहीं आती। इससे यह अनुमान करता हूँ कि मेरी बुद्धि मंद रही होगी और स्मरणशक्ति उन पंक्तियों के कच्चे पापड़ की तरह होगी जो कि हम लड़के गाया करते थे—

एकड़े एक, पापड़ शेको ;
पापड़ कच्चो, ... मेरो ...

पहली खाली जगह मास्टर साहब का नाम रहता था। उन्हें मैं अमर करना नहीं चाहता। दूसरी खाली जगह में जो गाली छोड़ दी गई है, उसकी पूर्ति करने की आवश्यकता नहीं।

(२)

बचपन

पोरबन्दर से पिताजी 'राजस्थानिक कोर्ट' के सभ्य होकर जब राजकोट गये तब मेरी उम्र कोई ७ साल की होगी। राजकोट की पाठशाला में मैं भर्ती कराया गया। इस पाठशाला के दिन मुझे अच्छी तरह याद हैं। मास्टरों के नाम-ठाम भी याद हैं। पोरबन्दर की तरह वहाँ की पढ़ाई के संबंध में कोई खास बात जानने लायक नहीं। मैं मुश्किल से मामूली दरजे का विद्यार्थी माना जाता होऊँ। पाठशाला से ऊपर के स्कूल में और वहाँ से हाईस्कूल में गया। यहां तक पहुँचते हुए मेरा बारहवां साल पूरा हो गया। मुझे याद नहीं पड़ता कि अबतक मैंने किसी भी शिक्षक से झूठ बोला हो, और किसी से मित्रता जोड़ी हो। मैं बहुत झेंपू लड़का था, मदरसे में अपने काम से काम रखता। घण्टी लगते समय पहुँच जाता, और स्कूल बंद होते ही घर भाग आता। 'भाग आना' शब्द का प्रयोग मैंने जान बूझ कर किया है। क्यों कि मुझे किसी के साथ बातें करना न सुहाता था। मुझे यह डर भी बना रहता कि 'कोई मेरी दिल्लगी उड़ावेंगे तो'?

हाईस्कूल के प्रथम ही वर्ष की परीक्षा के समय का, एक घटना

लिखने योग्य है। शिक्षा-विभाग के इन्सपेक्टर, जाइल्स साहब, निरीक्षण करने आये। उन्होंने पहली कक्षा के विद्यार्थियों को पांच शब्द लिखवाये। उनमें एक शब्द था केटल (Kettle)। उसे मैंने ग़लत लिखा। मास्टर साहब ने मुझे अपने बूट से ठोकर दे कर चेताया। पर मैं क्यों चेतने लगा? मेरे दिमाग़ में यह बात न आई कि मास्टर साहब मुझे आगे के लड़के की स्लेट देख कर सही लिखने का इशारा कर रहे हैं। मैं यह मान रहा था कि मास्टर साहब तो इस बात के लिए गश्त लगा रहे थे कि कहीं हम एक-दूसरे को देख-देख कर न लिख लें। सब लड़कों के पांचों शब्द सही निकले, और मैं ही अकेला गदाई साबित हुआ। बाद को मास्टर साहब ने मेरी 'मूर्खता' बताई, परन्तु उनकी अक़ का कुछ असर मेरे दिल पर न हुआ। दूसरों को देख-देख कर लिखना मुझसे न सधा।

ऐसा होते हुए भी मास्टर साहब के प्रति नम्रता का परिचय देने में मुझसे ग़लती न हुई। बड़े-बूढ़ों के ऐब न देखने का गुण मुझ में स्वाभाविक तौर पर था। बाद को तो इन मास्टर साहब के दूसरे ऐब भी मेरी नज़र में आये। फिर भी उनके प्रति मेरा आदर-भाव कायम ही रहा। मैं इतना जानता था कि बड़े-बूढ़ों की आज्ञा का पालन करना चाहिए, जैसा वे कहें करना चाहिए; पर वे जो कुछ करें उसके क़ाज़ी हमें न बनना चाहिए।

इसी समय दूसरी दो घटनायें हुई हैं, जो मुझे सदा याद रही हैं। मामूली तौर पर मुझे कोर्स की पुस्तकों के अलावा कुछ भी पढ़ने का शौक न था इस ख़याल से कि पाठ याद करना चाहिए, उलहना सहन न होगा, मास्टर साहब को धोखा न दिया

जायगा, में पाठ याद करता, पर मन न लगा करता। इससे सबक कई बार कच्चा रह जाता। ऐसी हालत में दूसरी पुस्तकें पढ़ने को जी कैसे चाहता? परन्तु पिताजी की खरीदी एक पुस्तक 'श्रवण-पित्र-भक्ति नाटक' पर मेरी नजर पड़ी। इसे पढ़ने को दिल चाहा। बड़े अनुराग और चावसे मैंने उसे पढ़ा। इन्हीं दिनों शीशे में तसबीर दिखाने वाले लोग भी घर आया करते। उनमें मैंने यह दृश्य भी देखा कि श्रवण अपने माता-पिता को कावड़ में बैठा कर तीर्थयात्रा के लिए ले जा रहा है। ये दोनों दृश्य मेरे अन्तस्तल पर अंकित हो गये। मेरे मन में यह बात उठा करती कि मैं भी श्रवण की तरह बनूँ। श्रवण जब मरने लगा तो उस समय का उसके माता-पिता का विलाप अब भी याद है। उस ललित छन्द को मैं बाजे पर बजाया भी करता। बाजा सीखने का मुझे शौक था और पिताजी ने एक बाजा खरीद भी दिया था।

इसी अरसे में एक नाटक कम्पनी आई। और मुझे उसका नाटक देखने की इजाजत मिली। हरिश्चन्द्र का खेल किया गया। इस नाटक को देखते मैं अघाता न था। बार-बार उसे देखने को मन हुआ करता, पर यों बार-बार जाने कौन देने लगा? जो हो; अपने मन में मैंने इस नाटक को सैकड़ों बार खेला होगा। हरिश्चन्द्र के सपने आते। यही धुन लगी कि 'हरिश्चन्द्र की तरह सत्यवादी सब क्यों न हों?' यही धारणा होती कि हरिश्चन्द्र के जैसी विपत्तियाँ भोगना और सत्य का पालन करना ही सच्चा सत्य है। मैंने तो यही मान रक्खा था कि नाटक में जैसी विपत्तियाँ हरिश्चन्द्र पर पड़ी हैं, वैसी ही वास्तव में उस पर पड़ी

होंगी। हरिश्चन्द्र के दुःखों को देख कर, उन्हें याद कर कर, मैं खूब रोया हूँ। आज मेरी बुद्धि कहती है कि, संभव है, हरिश्चन्द्र कोई ऐतिहासिक व्यक्ति न हो। पर मेरे हृदय में तो हरिश्चन्द्र और श्रवण आज भी जीवित हैं। मैं मानता हूँ कि आज भी यदि मैं उन नाटकों को पढ़ूँ तो आँसू आये बिना न रहें।

(३)

बाल-विवाह

जी चाहता है कि यह प्रकरण मुझे न लिखना पड़े तो अच्छा; परन्तु इस कथा में मुझे ऐसी कितनी ही कड़वी घूंटें पीनी पड़ेंगी। सत्य के पुजारी होने का दावा करके मैं इससे कैसे बच सकता हूँ?

यह लिखते हुए मेरे हृदय को बड़ी व्यथा होती है कि १३वर्ष की उम्र में मेरा विवाह हुआ। आज मैं अपनी आंखों के सामने १२–१३ वर्ष के बच्चों को देखता हूँ और जब मुझे अपने विवाह का स्मरण हो आता है, तब मुझे अपने पर दया आने लगती है और उन बच्चों को इस बात के लिए बधाई देने की इच्छा होती है कि वे मेरी हालत से अब तक बचे हुए हैं। तेरह साल की उम्र में हुए मेरे विवाह के समर्थन में एक भी नैतिक दलील मेरे दिमाग़ में नहीं समा सकती।

पाठक यह न समझें कि मैं सगाई की बात लिख रहा हूँ। सगाई का तो अर्थ होता है दो लड़के लड़कियों के विवाह करने का इक़रार, जिसे मां-बाप आपस में ही कर लेते हैं। सगाई टूट सकती है। सगाई हो जाने पर यदि लड़का मर जाय तो कन्या

विधवा नहीं हो सकती। सगाई के मामले में वर कन्या को पूछने का प्रयोजन नहीं होता। दोनों को खबर हुए बिना भी सगाई हो सकती है। मेरी एक-एक करके तीन सगाइयाँ हुई। मुझे कुछ भी पता नहीं कि ये सगाइयाँ कब हो गईं। जब मुझसे कहा गया कि एक एक कर के दो कन्यायें मर गईं, तब से मैं जानने लगा कि मेरी तीन सगाइयाँ हुईं। कुछ ऐसा याद पड़ता है कि तीसरी सगाई सात साल की उम्र में हुई होगी। पर मुझे कुछ याद नहीं आता कि सगाई के समय मुझे उसकी खबर की गई हो। विवाह में तो वर-कन्या की उपस्थिति की आवश्यकता होती है, उसमें धार्मिक विधि-विधान होते हैं। यहाँ मैं सगाई की नहीं विवाह की ही बात कर रहा हूँ। विवाह का स्मरण तो मुझे पूरे तौर पर है।

पाठक जान ही गये हैं कि हम तीन भाई थे। सबसे बड़े की शादी हो चुकी थी। मझले भाई मुझसे दो-तीन वर्ष बड़े थे। मेरे पिताजी ने तीन विवाह एक साथ करने का निश्चय किया — एक तो मंझले भाई का, दूसरे मेरे चचेरे भाई का, जिनकी उम्र मुझसे शायद एकाध साल ज्यादा हो, और तीसरा मेरा। इसमें हमारे कल्याण की कोई बात न थी। हमारी इच्छा की तो बात ही क्या? यह तो केवल माता-पिता की सुविधा और खर्च-वर्च के ख्याल का विषय था।

हिन्दू-संसार में विवाह कोई ऐसी-वैसी चीज नहीं। वर-कन्या के माँ-बाप विवाह के पीछे बरबाद हो जाते हैं। धन भी लुटाते हैं और समय भी बरबाद करते हैं। महीनों पहले से तैयारियाँ होने लगती हैं, तरह-तरह के कपड़े तैयार होते हैं, जेवर बनते हैं, जाति-भोजों का तखमीना बनाया जाता है, खाने की चीजों की बाजियाँ सी

लगती हैं। स्त्रियां, सुर हो या बे-सुर, गीत गा-गा कर अपना गला बैठा लेती हैं, बीमार भी पड़ जाती हैं, और पड़ौसियों की शांति भंग करती हैं सो अलग। पड़ौसी भी तो जब उनके यहां अवसर आता है तब ऐसा ही करते हैं इसलिए इस सारे शोरगुल को तथा भोजों की जूठन आदि गंदगी को सब लोग चुप-चाप सहन कर लेते हैं।

यह इतना झंझट तीन बार अलग अलग करने के बजाय एक ही बार कर डालना क्या अच्छा नहीं ? 'कम खर्च वाला नशीन'। क्योंकि तीन विवाह एक साथ होने से खर्च भी खुले हाथ किया जा सकता था। पिताजी और चाचाजी वृद्ध थे। हम लोग थे उनके सब से छोटे लड़के। इसलिए हमारे विवाह सम्बन्धी अपनी लालसा को तृप्त करने का भाव भी उनके मन में था ही। इन कारणों से तीन विवाह एक-साथ करने का निश्चय हुआ और उसके लिए; जैसा कि मैं लिख चुका हूँ, महीनों पहले तैयारियां होती रहीं और सामग्रियां जुटती रहीं।

हम भाइयों ने तो सिर्फ तैयारियों से ही जाना कि विवाह होने वाले हैं। मुझे तो इस समय इन मनसूबों के अलावा कि अच्छे-अच्छे कपड़े पहनेंगे, बाजे बजते देखेंगे, तरह-तरह की भोजन मिठाई मिलेगी, एक नई लड़की के साथ हँसी-खेल करेंगे, और किसी विशेष भाव का रहना याद नहीं आता। विषय-भोग करने का भाव तो पीछे से उत्पन्न हुआ। यह किस प्रकार हुआ। सो मैं बता तो सकता हूँ; परन्तु इसकी जिज्ञासा पाठक न रक्खें। अपनी इस शर्म पर मैं परदा पड़ा रखना चाहता हूँ। जो बातें जानने योग्य हैं वे सब आगे आ जायंगी, वे भी इसलिए कि जो मध्य-

बिन्दु मैंने अपनी दृष्टि के सामने रखा है, उसका कुछ सम्बन्ध उनके ब्योरे के साथ है।

हम दो भाइयों को राजकोट से पोरबंदर ले गये, वहां हलदी लगाने इत्यादि की जो विधियाँ हुईं वे रोचक तो हैं पर उनका वर्णन छोड़ देने ही लायक है।

पिताजी दीवान थे तो क्या हुआ, थे तो आखिर नौकर ही न। फिर राजप्रिय थे, इसलिए और भी पराधीन। ठाकुर साहब ने आखिरी वक्त तक उन्हें जाने न दिया। फिर जब इजाजत भी दी तो दो दिन पहले, जब कि सवारी का जगह-जगह इन्तजाम करना पड़ा। पर—! पर दैव ने कुछ और ही सोच रक्खा था। राज-कोट से पोरबंदर ६० कोस। बैलगाड़ी से ५ दिन का रास्ता था। पिताजी तीन दिन में आये। आखिरी मंजिल पर तांगा उलट गया। पिताजी को सख्त चोट आई। हाथ पांव और बदन में पट्टियाँ बाँधे घर आये। हमारे लिए और उनके लिए भी विवाह का आनंद आधा रह गया। परन्तु इससे विवाह थोड़े ही रुक सकते थे? मुहूर्त कहीं टल सकता था? मैं तो विवाह के बाल-उल्लास में पिताजी की चोट को भूल ही गया।

मैं जितना पितृ-भक्त था इतना ही विषय-भक्त भी था। यहां विषय से मतलब इन्द्रियों के विषय से नहीं, बल्कि भोग-मात्र से है। यह होश तो अभी आना बाकी था कि माता-पिता की भक्ति के लिए पुत्र को अपने सब सुख छोड़ देने चाहिएँ। ऐसा होते हुए भी, मानो इस भोगेच्छा की सजा मुझे मिलनी हो, मेरी जिन्दगी में एक ऐसी दुर्घटना हुई, जो मुझे आज भी कांटे की तरह चुभती है। जब-जब निष्कुलानन्द की यह पंक्ति—

'त्याग न टके रे वैराग बिना, करीये कोटि उपायजी'

गाता हूँ अथवा सुनता हूँ, तब-तब यह दुर्घटना और कटु प्रसंग मुझे याद आता है और शर्मिन्दा करता रहता है।

पिताजी ने मानों थप्पड़ मार कर मुँह लाल रक्खा। शरीर में चोट और पीड़ा के रहते हुए भी विवाह-कार्य में पूरा पूरा योग दिया। पिताजी किस अवसर पर कहाँ कहाँ बैठे थे, यह सब मुझे ज्यों का त्यों याद है। बाल-विवाह पर विचार करते हुए पिताजी के कार्य पर जो टीका-टिप्पणी आज मैं कर रहा हूँ, उसका स्वप्न भी उस समय न आया था। उस समय तो मुझे सब बातें अच्छी और उचित मालूम होती थीं। क्योंकि विवाह की उत्सुकता थी और पिताजी जो कुछ करते थे सब ठीक ही जान पड़ता था। उस समय की स्मृति आज भी मेरे मन में ताज़ा है।

कैसे पाणि-ग्रहण हुआ, सप्तपदी में किस प्रकार वर-वधू साथ बैठे, किस तरह दोनों ने एक-दूसरे को कंसार* खिलाया, और किस प्रकार हम दोनों एक साथ रहने लगे; इसका चित्र आज भी मेरी आँखों के सामने खड़ा हो जाता है। ओह, वह पहली रात! दो अबोध बालक बिना जाने, बिना समझे, संसार-सागर में कूद पड़े!! भाभी ने सिखाया कि पहली रात को मुझे क्या-क्या करना चाहिए। यह याद नहीं पड़ता कि मैंने धर्म-पत्नी से यह पूछा हो कि उन्हें किसने सिखाया था। अब भी पूछा जा सकता है; पर अब तो इसकी इच्छा तक नहीं होती। पाठक इतना ही

* कंसार गेहूं की लपसी जैसा पदार्थ होता है, जिसे विधि समाप्त होने पर वर-वधू एक-दूसरे को खिलाते हैं। —अनुवादक

जान लें कि कुछ-कुछ ऐसा याद पड़ता है कि हम दोनों एक-दूसरे से डरते और शरमाते थे। मैं क्या जानता कि बातें कैसे करें, क्या क्या करें ? सिखाई बातें भी कहाँ तक मदद कर सकती हैं? पर ऐसे मामलों में किसी के सिखाने की जरूरत नहीं रहती। जहाँ संस्कार प्रबल हैं, वहाँ सिखाना फ़जूल हो जाता है। धीरे-धीरे परिचय बढ़ता गया—आजादी के साथ एक दूसरे से बोलने-बतलाने लगे। हम दोनों हम-उम्र थे। मैं शीघ्र पति-देव बन बैठा।

पतिदेव

जिन दिनों मेरा विवाह हुआ, छोटे-छोटे निबन्ध — पैसे-पैसे या पाई-पाई के सो याद नहीं पड़ता— छपा और बिका करते। इनमें दाम्पत्य प्रेम, मितव्ययता, बाल-विवाह इत्यादि विषयों की चर्चा रहा करती। इनमें से कोई-कोई निबन्ध मेरे हाथ पड़ता और उसे मैं पढ़ जाता। यह मेरी आदत थी कि जो बात अच्छी न लगती उसे भूल जाता, और जो अच्छी लगती उसके अनुसार आचरण करता। यह पढ़ा कि एक-पत्नी-व्रत का पालन करना पति का धर्म है। बस यह मेरे हृदय में अंकित हो गया। सत्य की लगन तो थी ही। इसलिए पत्नी को धोखा देने का भी अवसर न था। और यह भी समझ चुका था कि दूसरी स्त्री से सम्बन्ध जोड़ना पाप है। फिर कोमल वय में एक-पत्नी-व्रत के भंग होने का अवसर भी कम ही रहता है।

परन्तु इन सद्विचारों का एक बुरा परिणाम निकला। 'यदि मैं एक-पत्नीव्रत का पालन करता हूँ, तो पत्नी को भी एक-पतिव्रत का पालन करना चाहिए।' इस विचार से मैं असहिष्णु-ईर्ष्यालुपति बन गया। 'पालन करना चाहिए' में से 'पालन करवाना चाहिए'

इस नतीजे पर जा पहुँचा। और यदि पालन करवाना हो तो फिर मुझे चौकीदारी करनी चाहिए। पत्नी की पवित्रता पर तो संन्देह करने का कोई कारण न था; परन्तु ईर्ष्या कहीं कारण देखने जाती है? 'मेरी पत्नी हमेशा कहाँ-कहाँ जाती है, यह जानना मेरे लिए ज़रूरी है, मेरी इजाजत लिए बगैर वह कहीं नहीं जा सकती।' यह भाव मेरे और उनके बीच दुःखद झगड़े का मूल बन बैठा। बिना इजाजत के कहीं न जा पाना तो एक तरह की क़ैद ही हो गई। परन्तु कस्तूरबाई ऐसी मिट्टी की न बनी थीं जो ऐसी क़ैद को बरदाश्त करतीं। जहाँ जी चाहे, बिना मुझ से पूछे ज़रूर चली जातीं। ज्यों-ज्यों मैं दबाता त्यों-त्यों वह अधिक आजादी लेतीं, और त्यों ही त्यों मैं और बिगड़ता। इस कारण हम बाल-दम्पती में अबोला रहना एक मामूली बात हो गई। कस्तूरबाई जो आजादी लिया करतीं उसे मैं निर्दोष मानता हूँ। एक बालिका जिसके मन में कोई पाप नहीं है, देव-दर्शन को जाने के लिए अथवा किसी से मिलने जाने के लिए क्यों ऐसा दबाव सहन करने लगी? 'यदि मैं उस पर दबाव रक्खूँ तो फिर वह मुझ पर क्यों न रक्खे?'—पर यह बात तो अब समझ में आती है। उस समय तो मुझे पतिदेव की सत्ता सिद्ध करनी थी।

पर इससे पाठक यह न समझें कि हमारे इस गार्हस्थ्यजीवन में कहीं मिठास थी ही नहीं। मेरी वक्रता का मूल था प्रेम। मैं अपनी पत्नी को आदर्श स्त्री बनाना चाहता था। मेरे मन में एक-मात्र यही भाव रहता था कि पत्नी स्वच्छ हो, स्वच्छ रहे, मैं सीखूँ सो सीखे, मैं पढ़ूँ सो पढ़े और दोनों एक-मन दो-तन बनकर रहें।

मुझे खयाल नहीं पड़ता कि कस्तूर बाई के भी मनमें ऐसा भाव रहा हो। वह निरक्षर थीं। स्वभाव उनका सरल और स्वतंत्र था। वे परिश्रमी भी थीं, पर मेरे साथ कम बोला करतीं। अपने अज्ञान पर उन्हें असंतोष न था। अपने बचपन में मैंने कभी उन की ऐसी इच्छा नहीं देखी कि यह पढ़ते हैं, तो मैं भी पढ़ूँ। इससे मैं मानता हूँ कि मेरी भावना एंक तर्फा थी। मेरा विषय-सुख एक ही स्त्री पर अवलम्बित था और मैं उस सुख की प्रतिध्वनि की आशा लगाये रहता था। अस्तु। प्रेम यदि एकपक्षीय भी हो तो वहाँ सर्वांश में दुःख नहीं हो सकता।

मुझे कहना चाहिए कि मैं—अपनी पत्नी से जहाँ तक सम्बन्ध है, विषयासक्त था। स्कूल में भी उसका ध्यान आता, और यह विचार मन में चला ही करता कि कब रात हो, और कब हम मिलें। वियोग असह्य होता था। कितनी ही ऊट-पटाँग बातें कह-कह कर मैं कस्तूर बाई को देर तक सोने न देता। इस आसक्ति के साथ ही यदि मुझ में कर्त्तव्य-परायणता न होती तो, मैं समझता हूँ, या तो किसी बुरी बीमारी में फँस कर अकाल ही काल-कवलित हो जाता अथवा अपने और दुनिया के लिए भारभूत हो कर वृथा जीवन व्यतीत करता होता। 'सुबह होते ही नित्यकर्म तो हर हालत में करने चाहिएँ, झूठ तो बोल ही नहीं सकते,' आदि अपने इन विचारों के बदौलत मैं कई संकटों से बच गया हूँ।

मैं ऊपर कह गया हूँ कि कस्तूर बाई निरक्षर थीं। उन्हें पढ़ाने की मुझे बड़ी चाह थी। पर मेरी विषय-वासना मुझे कैसे पढ़ाने देती? एक तो मुझे जबरदस्ती पढ़ाना था, फिर रात में ही मौका मिल सकता था। माता-पितादि के सामने तो पत्नी की तरफ देख

तक नहीं सकते—बात करना तो दूर रहा ! उस समय काठिया-वाड़ में घूँघट निकालने का निरर्थक और जंगली रिवाज था, आज भी थोड़ा-बहुत बाकी है। इस कारण पढ़ाने के अवसर भी मेरे प्रतिकूल थे। इसलिए, मुझे स्वीकार करना चाहिए, कि युवा-वस्था में पढ़ाने की जितनी कोशिशें मैंने कीं वे सब प्रायः बेकार गई। और, जब मैं विषय-निद्रा से जगा तब तो सार्वजनिक जीवन में पड़ चुका था। और, इस कारण अधिक समय मेरे पास न रह गया था। शिक्षक रख कर पढ़ाने के मेरे यत्न भी विफल हुए। इसके फलस्वरूप आज कस्तूर बाई मामूली गुजराती लिखने-पढ़ने से अधिक साक्षर न हो पाई। यदि मेरा प्रेम विषय से दूषित न हुआ होता, तो मानता हूँ कि आज वह विदुषी हो गई होतीं। उनके पढ़ने के आलस्य पर मैं विजय प्राप्त कर पाता। क्योंकि मैं जानता हूँ कि शुद्ध प्रेम के लिए दुनिया में कोई बात असंभव नहीं।

इस तरह अपनी पत्नी के साथ विषय-रत रहते हुए भी मैं कैसे बहुत-कुछ बच गया, इसका एक कारण मैंने ऊपर बताया। इस सिल्सिले में एक और बात का उल्लेख करने योग्य है। सैकड़ों अनुभवों से मैंने यह निचोड़ निकाला है कि जिसकी निष्ठा सच्ची है, उसे खुद परमेश्वर ही बचा लेता है। हिन्दू संसार में जहां बाल-विवाह की घातक प्रथा है तहाँ, उसके साथ ही, उसमें से कुछ मुक्ति दिलाने वाला भी एक रिवाज है। बालक वर-वधू को मां-बाप बहुत समय तक एक-साथ नहीं रहने देते। बाल-पत्नी का आधे से ज्यादा समय मायके में जाता है। हमारे साथ भी ऐसा ही हुआ। अर्थात् हम १३ और १८ साल की उम्र के दरम्यान थोड़ा थोड़ा करके, तीन साल से अधिक साथ न रह सके होंगे।

छः आठ महीने रहना हुआ नहीं कि पत्नी के माँ-बाप का बुलौवा आया नहीं। उस समय तो वे बुलौवे बड़े नागवार मालूम होते। परन्तु सच पूछिए तो उन्हीं के बदौलत हम दोनों बहुत बच गये। फिर १८ साल की अवस्था में मैं विलायत गया—खासे लम्बे और उम्दा वियोग का अवसर आया। विलायत से लौटने पर भी हम एक-साथ तो छः महीने मुश्किल से रहे होंगे। क्योंकि मुझे राजकोट-बम्बई बार-बार आना जाना पड़ता था। इतने ही में दक्षिण आफ्रिका का निमन्त्रण आ पहुँचा। और इस बीच तो मेरी आँखें बहुत-कुछ खुल भी चुकी थीं।

(५)

हाईस्कूल में

मैं पहले लिख चुका हूँ कि जब मेरा विवाह हुआ तब मैं हाईस्कूल में पढ़ता था। उस समय हम तीनों भाई एक ही स्कूल में पढ़ते थे। बड़े भाई बहुत ऊपर के दरजे में थे और जिन भाई का विवाह मेरे साथ हुआ वे मुझ से एक दरजा आगे थे। विवाह का परिणाम यह हुआ कि हम दोनों भाइयों का एक साल बेकार गया। मेरे भाई को तो और भी बुरा परिणाम भोगना पड़ा। विवाह के पश्चात् वे विद्यालय में रही न सके। परमात्मा जानते हैं, विवाह के कारण कितने नवयुवकों को ऐसे अनिष्ट परिणाम भोगने पड़ते हैं! विद्याध्ययन और विवाह ये दोनों बातें, हिन्दू-समाज में ही एक-साथ हो सकती हैं।

मेरा अध्ययन चलता रहा। हाईस्कूल में मैं गदाई नहीं माना जाता था। शिक्षकों का प्रेम-सम्पादन हमेशा करता रहता। हर-साल माँ-बाप को विद्यार्थी की पढ़ाई तथा चाल-चलन के सम्बन्ध में प्रमाणपत्र भेजे जाते। उसमें किसी दिन मेरी पढ़ाई या चाल-चलन की शिकायत नहीं गई। दूसरे दरजे के बाद तो इनाम भी पाये और पाँचवें तथा छठे दरजे में तो क्रमशः ४) और १०)

मासिक की छात्रवृत्तियाँ भी मिली थीं। छात्रवृत्ति मिलने में मेरी मेरी योग्यता की अपेक्षा तदबीर ने ज्यादा मदद की। ये छात्र-वृत्तियाँ सब लड़कों के लिए न थीं, सोरठ प्रान्त के लड़कों में प्रथम आनेवाले के लिए थी, और उस समय चालीस-पचास विद्यार्थियों की कक्षा में सोरठ प्रांत के विद्यार्थी बहुत नहीं हो सकते थे।

अपनी तरफ़ से तो मुझे यह याद पड़ता है कि मैं अपने को बहुत योग्य न समझता था। इनाम अथवा छात्रवृत्ति मिलती तो मुझे आश्चर्य होता; परन्तु हाँ, अपने आचरण का मुझे बड़ा ख्याल रहता था। सदाचार में यदि चूक होती तो मुझे रोना आ जाता। यदि मुझ से कोई ऐसा काम बन पड़ता कि जिसके लिए शिक्षक को उलहना देना पड़े अथवा उनका ऐसा ख्याल भी हो जाय तो यह मेरे लिए असह्य हो जाता। मुझे याद है कि एक बार मैं पिटा भी था। मुझे इस बात पर तो दुःख न हुआ कि पिटा; परन्तु इस बात पर महादुःख हुआ कि मैं दंड का पात्र समझा गया। मैं फूट-फूटकर रोया। यह घटना पहली अथवा दूसरी कक्षा की है। दूसरी घटना सातवीं कक्षा की है। उस समय दोराबजी एदलजी गीमी हेड मास्टर थे, वे विद्यार्थि-प्रिय थे। क्योंकि वे नियमों का पालन करवाते, विधि-पूर्वक काम करते और काम लेते तथा पढ़ाई अच्छी करते। उन्होंने ऊँचे दरजे के विद्यार्थियों के लिए कसरत-क्रिकेट लाजिमी कर दी थी। मेरा मन उसमें न लगता था। लाजिमी होने के पहले तो मैं कसरत क्रिकेट या फुटबाल में कभी न जाता था। न जाने में मेरा झेंपूपन भी एक कारण था। अब मैं देखता हूँ कि कसरत की वह अरुचि मेरी भूल थी। उस समय मेरे ऐसे गलत विचार थे कि कसरत का

शिक्षा के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। पीछे जाकर मैं समझा कि व्यायाम अर्थात् शारीरिक शिक्षा के लिए भी विद्याध्ययन में उतना ही स्थान होना चाहिए जितना कि मानसिक शिक्षा को है।

फिर भी मुझे कहना चाहिए कि कसरत में न जाने से मुझे कोई नुक़सान न हुआ। इसका कारण है। पुस्तकों में मैंने पढ़ा था कि खुली हवा में घूमना अच्छा होता है। यह मुझे पसन्द आया और तभी से घूमने जाने की आदत मुझे पड़ गई थी, वह अब तक है। घूमना भी एक प्रकार का व्यायाम है और इस कारण मेरा शरीर थोड़ा-बहुत सुगठित हो गया।

अरुचि का दूसरा कारण था पिताजी की सेवा-शुश्रूषा करने की तीव्र इच्छा। स्कूल बन्द होते ही तुरन्त घर पहुँचकर उनकी सेवा में जुट जाता। जब कसरत लाज़िमी कर दी गई तब इस सेवा में विघ्न उपस्थित होने लगा। मैंने अनुरोध किया कि पिता जी की सेवा करने के लिए कसरत से माफी मिलनी चाहिए; परन्तु गीमी साहब क्योंकर माफ़ी देने लगे? एक शनिवार को सुबह का स्कूल था। शाम को ४ बजे कसरत में जाना था। मेरे पास घड़ी न थी। आकाश में बदल छा रहे थे, इस कारण समय का पता न रहा। बादलों से मुझे धोखा हुआ। जब तक कसरत के लिए पहुँचता हूँ तब तक तो सब लोग चले गये थे। दूसरे दिन गीमी साहब ने हाजिरी देखी तो मैं गैरहाज़िर पाया गया। मुझ से कारण पूछा। कारण तो जो था सो ही मैंने बतलाया। उन्होंने उसे सच न माना और मुझ पर एक या दो आना (ठीक याद नहीं कितना) जुर्माना हो गया। मुझे इस बात से अत्यन्त दुःख हुआ कि मैं झूठा समझा गया। मैं यह कैसे साबित करता कि मैं

झूठ नहीं बोला। पर कोई उपाय न रहा था। मन मसोस कर रह जाना पड़ा। मैं रोया और समझा कि सच बोलने वाले और सच करने वाले को ग़ाफ़िल भी न रहना चाहिए। अपनी पढ़ाई के दरम्यान मुझसे ऐसी ग़फ़लत वह पहली और आख़िरी थी। मुझे कुछ कुछ स्मरण है कि अन्त को मैं वह जुर्माना माफ़ करा पाया था।

अन्त को कसरत से छुट्टी मिल ही गई। पिताजी की चिट्ठी जब हेडमास्टर को मिली कि मैं अपनी सेवा-शुश्रूषा के लिए स्कूल के बाद इसे अपने पास चाहता हूँ तब जाकर उससे छुटकारा मिला।

व्यायाम की जगह मैंने घूमना जारी रक्खा। इस कारण शरीर से मेहनत न लेने की भूल के लिए शायद मुझे सजा न भोगनी पड़ी हो; परन्तु एक दूसरी भूल की सजा मैं आज तक पा रहा हूँ। पढ़ाई में खुशख़त होने की जरूरत नहीं, यह कुबुद्धि मेरे मन में न जाने कहाँ से आ गई थी, जो ठेठ विलायत जाने तक रही। फिर, और ख़ास कर दक्षिण आफ्रिका में, जहां वकीलों के और दक्षिण आफ्रिका में जन्मे और पढ़े नवयुवकों के अक्षर मोती के दाने की तरह देखे, तब तो मैं बहुत लजाया और पछताया। मैंने देखा कि ख़त का ख़राब होना अधूरी शिक्षा की निशानी है। मैंने पीछे से अपना ख़त सुधारने की कोशिश भी की; परन्तु पक्के घड़े मिट्टी चढ़ सकती है? जिस बात की अवहेलना मैंने जवानी में की उसे मैं फिर आज तक न सुधार सका। हरएक नवयुवक और युवती मेरे उदाहरण को देखकर चेते और समझे कि अच्छा ख़त विद्या का आवश्यक अंग है। ख़त सुधारने के लिए लेखन-कला आवश्यक है। मैं तो अपनी यह राय बना

रहा हूँ कि बालकों को आलेखन-कला पहले सिखानी चाहिए। जिस प्रकार पक्षियों और वस्तुओं आदि को देख कर बालक उन्हें याद रखता और आसानी से पहचान लेता है उसी प्रकार अक्षरों को भी पहचानने लगता है और जब आ-लेखन-कला सीख कर चित्र इत्यादि निकालना सीख जाता है तब यदि अक्षर लिखना सीखे तो उसके अक्षर छापे की तरह हो जावें।

इस समय के मेरे विद्यार्थी-जीवन की दो बातें उल्लेख करने योग्य हैं। विवाह के बदौलत जो मेरा एक साल टूट गया था उसकी कसर दूसरी कक्षा में पूरी कराने की प्रेरणा मास्टर साहब ने की। परिश्रमी विद्यार्थियों को ऐसा करने की इजाज़त उन दिनों तो मिलती थी। अतएव मैं छः महीने तीसरे दरजे में रहा और गर्मियों की छुट्टी के पहले वाली परीक्षा के बाद चौथे दरजे में ले लिया गया। इस कक्षा से कुछ विषयों की शिक्षा अंगरेजी में दी जाती है। पर अंगरेजी मैं कुछ न समझ पाता। भूमिति रेखा-गणित भी चौथे दरजे से शुरू होता है। एक तो मैं उसमें पीछे था, और फिर समझ में भी कुछ न आता था। भूमिति शिक्षक समझाते तो अच्छे थे, पर मेरी कुछ समझ में ही न आता था। मैं बहुत बार निराश हो जाता। कभी कभी यह भी दिल में आता कि दो दरजों की पढ़ाई एक साथ करने से तो अच्छा हो कि मैं तीसरी कक्षा में ही फिर चला जाऊँ। पर ऐसा करने से मेरी बात बिगड़ती और जिस शिक्षक ने मेरी मिहनत पर विश्वास रख कर दरजा चढ़ाने की सिफारिश की थी उनकी भी बात बिगड़ती। इस भय से नीचे उतरने का विचार तो बंद ही रखना पड़ा। परिश्रम करते करते जब 'युक्लिड' के तेरहवें प्रमेय तक पहुँचा तब मुझे

एकाएक लगा कि भूमिति तो सब से सहज विषय है। जिस बात में केवल का सीधा और सरल उपयोग करना है उसमें मुश्किल क्या है ? उसके बाद से भूमिति मेरे लिए सहज और सरल विषय हो गया।

संस्कृत मुझे रेखागणित से भी अधिक मुश्किल मालूम पड़ी। रेखागणित में तो रटने की कोई बात न थी; परन्तु संस्कृत में, मेरी दृष्टि से, सब रटना था। यह विषय भी चौथी कक्षा से शुरू होता था। छठी कक्षा में जाकर तो मेरा दिल बैठगया। संस्कृत शिक्षक बड़े सख़्त आदमी थे। विद्यार्थियों को बहुतेरा पढ़ा देने का लोभ उन्हें रहा करता। संस्कृत-वर्ग और फ़ारसी-वर्ग में एक प्रकार की प्रतिस्पर्धा रहती। फारसी के मौलवी साहब नरम आदमी थे। विद्यार्थी लोग आपस में बातें करते कि फ़ारसी बड़ी सरल है, और मौलवी साहब भी भले आदमी हैं। विद्यार्थी जितना याद करता है, उतने ही पर वे निभा लेते हैं। सहज होने की बात से मैं भी ललचाया और एक दिन फ़ारसी के दरजे में जाकर बैठा। संस्कृत-शिक्षक को इससे दुःख हुआ। उन्होंने मुझे बुलाया। "यह तो सोचो कि तुम किसके लड़के हो ? अपने धर्म की भाषा तुम नहीं पढ़ना चाहते ? तुमको जो कठिनाई हो सो मुझे बताओ। मैं तो समस्त विद्यार्थियों को अच्छी संस्कृत पढ़ाना चाहता हूँ। आगे चल कर तो उसमें रस की घूँटें मिलेंगी। तुम को इस तरह निराश न होना चाहिए। तुम फिर मेरी कक्षा में आकर बैठो।" मैं शरमिन्दा हुआ। शिक्षक के प्रेम की अवहेलना न कर सका। आज मेरी आत्मा कृष्णशंकर मास्टर का उपकार मानती है, क्योंकि जितनी संस्कृत मैंने उस समय पढ़ी थी, यदि

उतनी भी न पढ़ा होता तो आज मैं संस्कृत शास्त्रों का आनंद ले रहा हूँ वह न ले पाता। बल्कि मुझे तो इस बात का पश्चात्ताप रहता है कि मैं अधिक संस्कृत न पढ़ सका। क्योंकि आगे चल कर मैंने समझा कि किसी भी हिन्दू-बालक को संस्कृत का अच्छा अध्ययन किये बिना न रहना चाहिए।

अब तो मैं यह मानता हूँ कि भारतवर्ष के उच्च शिक्षण-क्रम में मातृभाषा के उपरान्त राष्ट्र-भाषा हिन्दी, संस्कृत, फ़ारसी, अरबी और अंगरेजी के लिए भी स्थान होना चाहिए। इतनी भाषाओं की गिन्ती से किसी को डर जाने की जरूरत नहीं; यदि विधि-पूर्वक भाषायें पढ़ाई जायँ और सब विषयों का अध्ययन अंगरेजी के द्वारा करने का बोझ हम पर न हो तो पूर्वोक्त भाषायें भार-रूप न मालूम हों, बल्कि उनमें बड़ा रस आने लगे। फिर जो एक भाषा को विधि-पूर्वक सीख लेता है उसे दूसरी भाषाओं का ज्ञान सुगमता से हो जाता है। सच पूछिए तो हिन्दी, गुजराती, संस्कृत इन्हें एक ही भाषा मानना चाहिए। यही बात फारसी और अरबी के लिए कह सकते हैं। फ़ारसी यद्यपि संस्कृत के जैसी है, और अरबी हिब्रू के जैसी, तथापि दोनों भाषायें इस्लाम के प्रादुर्भाव के पश्चात् फली-फूली हैं। इस लिए दोनों में निकट सम्बन्ध है। उर्दू को मैंने प्रथक् भाषा नहीं माना, क्योंकि उसके व्याकरण का समावेश हिंदी में होता है। उसके शब्द तो फारसी और अरबी ही। ऊँचे दरजे की उर्दू जाननेवाले के लिए अरबी और फारसी जानना आवश्यक होता है, जैसा कि उच्चकोटि की गुजराती, हिंदी बंगला, मराठी जानने वाले के लिए संस्कृत जानना जरूरी है।

(६)

दुःखद प्रसंग—१

पहले कह गया हूँ कि हाईस्कूल में मेरी बहुत कम लोगों से अभिन्न मित्रता थी। घनिष्ट मित्र तो मेरे दो ही थे, सो भी जुदा जुदा समय पर। एक की मित्रता अधिक समय तक न निभी, हालाँ कि मैंने अपनी तरफ़ से उसे नहीं तोड़ा। दूसरे से मित्रता के कारण पहले मित्र ने मेरा साथ छोड़ दिया। पर यह दूसरी मित्रता मेरे जीवन का एक दुःखद प्रकरण है। यह मित्रता बहुत दिनों तक चली। एक सुधारक की दृष्टि रखकर मैंने यह मित्रता की थी। उस व्यक्ति की मित्रता पहले मेरे मँझले भाई के साथ थी। वह उनका सहपाठी था। मैं उसके कई ऐबों को जानता था। परन्तु मैंने उसे अपना वफ़ादार साथी मान लिया था। मेरी माताजी, बड़े भाई और धर्म-पत्नी तीनों को उसकी सोहबत बुरी मालूम पड़ती थी। पत्नी की चेतावनी पर तो मैं—अभिमानी पति—क्यों ध्यान देने लगा? हाँ, माता के वचन को तोड़ना मेरे लिए कठिन होता था। बड़े भाई की बात भी मैं सुन लेता। परन्तु मैंने उन्हें यों समझा दिया—'आप जो उसकी बुराइयाँ बताते हैं, उन्हें तो मैं जानता हूँ। पर उसके गुणों को आप नहीं जानते। मुझे वह खराब रास्ते नहीं ले जा

सकता; क्योंकि मैंने उसके साथ जो सम्बन्ध बांधा है, वह केवल उसे सुधारने के लिए बाँधा है मुझे विश्वास है कि यदि वह सुधर गया तो बड़ा अच्छा आदमी साबित होगा। मैं चाहता हूँ कि आप मेरी तरफ़ से बिल्कुल निःशंक रहें।' मैं नहीं समझता कि इस बात से उन्हें संतोष हुआ हो: पर इतना जरूर हुआ कि उन्होंने मुझ पर विश्वास रक्खा और मुझे अपने रास्ते जाने दिया।

पीछे जाकर मैंने देखा कि मेरा अनुमान ठीक न था। सुधार करने के लिए भी मनुष्य को गहरे पानी में न पैठना चाहिए। जिनका सुधार हमें करना हो उनके साथ मित्रता नहीं हो सकती। मित्रता में अद्वैत-भाव होता है। ऐसी मित्रता संसार में बहुत थोड़ी देखी जाती है। समान गुण और शील वालों में ही मित्रता शोभती और निभती है। मित्र एक दूसरे पर अपना असर छोड़े बिना नहीं रह सकते। इस कारण मित्रता में सुधार के लिए बहुत कम गुंजाइश होती है। मेरा मत यह है कि अभिन्न मित्रता अनिष्ट है; क्योंकि मनुष्य दोष को झट ग्रहण कर लेता है। गुण ग्रहण करने के लिए प्रयास की जरूरत है। जिसे आत्मा की—ईश्वर की मित्रता की जरूरत है उसे एकाकी ही रहना उचित है, या फिर, सारे जगत के साथ मित्रता करनी उचित है। ये विचार चाहे उचित हों वा अनुचित; परन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि मेरा अभिन्न मित्रता जोड़ने और बढ़ाने का प्रयत्न विफल साबित हुआ।

जिन दिनों इन महाशयों से मेरा संपर्क हुआ, राजकोट में सुधार की लहर ऊँची उठ रही थी। इन मित्र ने खबर दी कि बहुतेरे हिन्दू शिक्षक छुपे-छुपे मांसाहार और मद्यपान करते हैं। राजकोट के दूसरे प्रसिद्ध व्यक्तियों के नाम भी उसने लिये। हाई-

स्कूल के कितने ही विद्यार्थियों के नाम भी मेरे पास आये। यह देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ और साथ ही दुःख भी। जब मैंने इसका कारण पूछा तो यह बताया गया—'हम मांस नहीं खाते इसीलिए कमजोर होगये हैं। अंगरेज जो हम पर हुकूमत कर रहे हैं, इसका कारण है उनका मांसाहार। तुम जानते ही हो, मैं कितना हट्टा-कट्टा और मजबूत हूँ और कितना दौड़ सकता हूँ। इसका कारण मेरा मांसाहार ही है। मांसाहारी को फोड़े-फुनसी नहीं होते, हों भी तो जल्दी अच्छे हो जाते हैं। देखो, हमारे शिक्षक लोग मांस खाते हैं, इतने भले भले आदमी खाते हैं, सो क्या बिना सोचे-समझे ही? तुमको भी खाना चाहिए। खाकर तो देखो कि तुम्हारे बदन में कितनी ताकत आ जाती है।'

ये दलीलें एक ही दिन में नहीं पेश हुईं। अनेक उदाहरणों से सजा कर ये कई बार पेश की गईं। मेरे मँझले भाई तो उनके जाल में फँस ही चुके थे। उन्होंने भी इस बात का समर्थन किया। इन मित्र के और अपने भाई के मुकाबले में मैं दुबला-पतला और कमजोर था। उनके शरीर ज्यादा सुगठित थे। उनका शरीरबल मुझ से बहुत ज्यादा था। वे निर्भय थे। इन मित्र के पराक्रम मुझे मुग्ध कर लेते। वे जितना चाहे दौड़ सकते। गति भी बहुत तेज थी। बहुत लम्बा और ऊँचा कूद सकते थे। मार सहने की शक्ति भी वैसी ही थी। इस शक्ति का प्रदर्शन भी वे समय समय पर करते। अपने अन्दर जो सामर्थ्य नहीं होता उसे दूसरे में देखकर मनुष्य को आश्चर्य होता ही है। वैसा ही मुझे हुआ। आश्चर्य से मोह पैदा हुआ। मुझमें दौड़ने-कूदने की शक्ति नहीं के बराबर थी। मेरे मन ने कहा 'इन मित्र के समान बलवान् मैं भी क्यों न बनूँ?'

फिर मैं बड़ा डरपोक भी था। चोर, भूत, सांप आदि के भय से सदा घिरा हुआ रहता। इन भयों से मुझे कष्ट भी बहुत होता। रात में कहीं अकेला जाने की हिम्मत न होती। अंधेरे में तो कहीं न जाता। बिना चिराग के सोना प्रायः असंभव था। कहीं यहाँ से भूत-पिशाच निकल कर न आ जायँ, वहाँ से चोर और अन्यत्र से सांप न आ घुसे, यह डर बना रहता इसलिए रोशनी जरूर रखता। इधर अपनी पत्नी के सामने भी, जो कि पास ही सोती और अब कुछ-कुछ युवती हो चली थी, यह भय की बातें करते हुए संकोच होता था। क्योंकि मैं इतना जान चुका था कि वह मुझ से अधिक हिम्मत वाली है, इस कारण मैं उससे और शरमाता था। उसे सांप वगैरा का भय तो कहीं छू तक नहीं पाया था। अँधेरे में अकेली चली जाती। मेरी इन कमजोरियों का हाल उन मित्र को मालूम था। वह तो मुझ से कहा करता कि मैं जीते साँपों को हाथ से पकड़ लेता हूँ। चोर से तो वह डरता ही न था, न भूत-प्रेतों को ही मानता था। उसने यह बात मेरे मन में जमा दी कि यह सब मांसाहार का प्रताप है।

इन दिनों नर्मद कवि की यह कविता स्कूल में गाई जाती—

अंग्रेजी राज करे, देशी रहे दबाई,
देशी रहे दबाई, जो ने बेनां शरीर भाई
पेलो पांच हाथ पूरो, पूरो मांस खेव †।

इन सब का मेरे दिल पर बड़ा असर हुआ। मैं मांस खानेके

† भाव यह है कि अंगरेज इसी कारण हट्टे-कट्टे हैं और हमपर राज करते हैं कि वे मांस खाते हैं, और हिन्दुस्तानी इसीलिए मुर्दा बने हुए हैं कि वे मांसाहार नहीं करते।—अनु०

लिए राज़ी हो गया। मैं मानने लगा कि मांसाहार अच्छी चीज है। उससे मैं बलवान् और निर्भय बनूँगा। सारा देश यदि मांस खाने लगे तो अंगरेजों को हरा सकता है।

मांसाहार के आरम्भ का दिन निश्चित हुआ।

इस निश्चय—इस आरम्भ—का अर्थ सब पाठक न समझ सकेंगे। गांधी-परिवार वैष्णव-संप्रदाय का अनुयायी था। माता-पिता कट्टर वैष्णव माने जाते थे। हवेली में हमेशा जाते। कितने ही मन्दिर तो हमारे कुटुम्ब के ही गिने जाते। फिर गुजरात में जैन सम्प्रदाय का भी बहुत जोर था। उसका असर हर जगह और हर काम में देखा जाता था। इसलिए मांसाहार के प्रति जो विरोध, जो तिरस्कार गुजरात में और श्रावकों तथा वैष्णवों में दिखाई पड़ता है, वह हिन्दुस्तान में, या सारी दुनिया में कहीं नहीं दिखाई पड़ता। ये थे मेरे संस्कार।

फिर माता-पिता का मैं परम भक्त ठहरा। मैं मानता था कि यदि उन्हें मेरे मांसाहार का पता लग जायगा तो वे तो बे-मौत के प्राण छोड़ देंगे। जान अनजान में सत्य का भी सेवक तो मैं था ही। पर यह नहीं कह सकता कि यह ज्ञान मुझे उस समय नहीं था कि यदि मांस खाने लगा तो माता-पिता के सामने झूठ बोलना पड़ेगा।

ऐसी स्थिति में मेरा माँस खाने का निश्चय, मेरे लिए बड़ी गम्भीर और भयंकर बात थी।

परन्तु मैं तो सुधार करना चाहता था। माँस शौक के लिए नहीं खाना चाहता था, स्वाद के लिए मांसाहार का श्रीगणेश नहीं करना था। मैं तो बलवान, निर्भय, साहसी, होना चाहता था,

दूसरों को ऐसा बनने की प्रेरणा करना चाहता था, और फिर अंगरेजों को हराकर भारतवर्ष को स्वतंत्र करना चाहता था। 'स्वराज्य' शब्द उस समय नहीं सुना था। कहना चाहिए कि इस सुधार की उमंग में मेरी अक्ल बौरिया गई थी।

दुःखद प्रसंग—२

नियत दिन आया। उस समय की मेरी दशा का हू-बहू वर्णन करना कठिन है। एक ओर सुधार का उत्साह, जीवन में महत्व-पूर्ण परिवर्तन करने का आश्चर्य, और दूसरी ओर चोर की तरह लुक-छिप कर काम करने की शरम. नहीं कह सकता इनमें किस भाव की प्रधानता थी। हम एकान्त जगह की तलाश में नदी की तरफ चले। दूर जाकर एक ऐसी जगह मिली जहाँ कोई सहसा न देख सके, और वहाँ मैंने जीवन में पहली बार पका हुआ मांस देखा। साथ में भटियारे के यहां की डबल रोटी भी थी। दो में से एक भी चीज़ न भाई। मांस चमड़े की तरह लगा। खाना असंभव हो गया। मुझे क़ै सी होने लगी। खाना यों ही छोड़ना पड़ा।

मेरे लिए यह रात बहुत भारी साबित हुई। नींद किसी तरह न आती। ऐसा मालूम होता मानो बकरा मेरे शरीर के अन्दर जीवित है अ र सपने में मानों वह बें-बें चिल्लाता है। मैं चौंक उठता, पछताता, पर फिर सोचता कि मांसाहार के बिना तो गति ही नहीं, यों हिम्मत न हारनी चाहिए। मित्र भी पिंड छोड़ने

वाले न थे। उन्होंने अब मांस को तरह तरह से पकाना और सुस्वादु बनाना तथा ढक कर रखना शुरू किया। नदी किनारे ले जाने के बजाय राज्य के एक भवन में वहां के बबर्ची से इन्तजाम करके, छुपे-छुपे जाने की तजवीज की; और वहां मेज, कुर्सी इत्यादि सामग्रियों के ठाठ-बाट में मुझे लुभाया। इसका अभीष्ट असर मेरे दिल पर हुआ। डबल रोटी के प्रति तिरस्कार कम हुआ, बकरों क ममता छूटी और मांस का तो नहीं कह सकता, पर मांस वाले पदार्थों का स्वाद लग गया। इस तरह एक साल गया होगा और इस बीच पांच छः बार मांस खाने को मिला होगा। क्योंकि एक तो हमेशा राज्य का भवन न मिलता, और दूसरे मांस के सुस्वादु पदार्थ भी हमेशा तैयार न हो पाते। फिर ऐसे भोजनों के लिए खर्च भी करना पड़ता। मेरे पास तो कानी कौड़ी भी न थी। मैं देता क्या? खर्च का इन्तजाम सोचना उस मित्र के जिम्मे रहा था। मुझे आजतक खबर नहीं कि उसने क्या इन्तजाम किया था। उसका इरादा तो था मुझे मांस की चाट लगा देना, मुझे भ्रष्ट कर देना। इसलिए खर्च का भार वह खुद ही उठाता था। पर उसके पास अखूट खजाना तो था नहीं, इस कारण ऐसे भोजनों का अवसर कभी ही आता।

जब-जब ऐसे भोजनों में शरीक होता तब-तब घर खाना न खाया जाता। जब माता खाने को बुलाती तो बहाना करना पड़ता आज भूख नहीं, खाना पचा नहीं। जब-जब ये बहाने बनाने पड़ते तब-तब मेरे दिल को सख्त चोट पहुँचती। इतनी झूठ बात, फिर माँ के सामने! फिर यदि माँ-बाप जान जाँय कि लड़के मांस खाने लग गये हैं, तब तो उन पर बिजली ही टूट पड़ेगी। ये

विचार मेरे हृदय को हरदम नोचते रहते। इस कारण मैंने निश्चय किया 'हाँ, मांस खाना तो आवश्यक है, उसका प्रचार करके हिन्दुस्तान को सुधारना भी आवश्यक है, पर माता-पिता को धोखा देना और झूठ बोलना यह मांस न खाने से भी ज्यादा बुरा है। इसलिए मात-पिता के जीते जी मांस न खाना चाहिए। उनकी मृत्यु के बाद, स्वतन्त्र हो जाने पर, खुल्लम-खुल्ला खाना चाहिए; और जब तक वह समय न आवे तब तक मांस के रास्ते न जाना चाहिए, यह निश्चय मैंने अपने मित्र पर प्रकट कर दिया और उस दिन से जो मांसाहार छूटा सो छूटा ही। माता-पिता ने कभी न जाना कि उनके दो पुत्र मांसाहार कर चुके हैं।

मात-पिता को धोखा न देने के शुभ विचार से मैंने मांसाहार छोड़ा, परन्तु उन मित्र की मित्रता न छोड़ी। मैं जो दूसरों को सुधारने के लिए आगे बढ़ा था सो खुद ही बिगड़ गया और सो भी ऐसा कि बिगड़ जाने का भान तक न रहा।

उसीकी मित्रता के कारण मैं व्यभिचार में भी फँस जाता, परन्तु बाल-बाल बच गया। एक बार यह महाशय मुझे चकले में ले गये। वहां एक बाई के मकान में जरूरी बातें समझा कर, भेजा। पैसे देना-दिवाना मुझे कुछ न था। वह सब पहले ही हो चुका था। मेरे लिए तो सिर्फ पापाचार करना बाकी था।

मैं मकान में दाखिल तो हुआ, पर ईश्वर जिसे बचाना चाहता है वह गिरने की इच्छा करते हुए भी बच जाता है। उस कमरे में जाकर मैं तो मानों अन्धा और गूँगा बन गया। कुछ बोलने का ही औसान न रहा। मानों शरम के गूँगा बन कर उस बाई की खटिया पर बैठ गया। एक लफ्ज तक जबान से

निकला । बाई झल्लाई और मुझे दो चार बुरी-भली सुना कर सीधा दर्वाज़े का रास्ता दिखलाया ।

इस समय तो मेरे मन में लगा, मानों यह मर्दानगी को लांछन लग गया, और धरती फट जाय तो उसमें समा जाऊँ । परन्तु बाद को, इससे मुझे उबार लेने पर, मैंने ईश्वर का सदा उपकार माना है । मेरे जीवन में ऐसे ही दो-चार प्रसंग और आये हैं । बहुतों में मैं बिना प्रयत्न के, दैव-योग से बच गया हूँ । विशुद्ध और सूक्ष्म दृष्टि से तो मैं गिर ही चुका था; क्योंकि विषय की इच्छा करते ही मैं उसका भोग तो कर चुका । फिर भी लौकिक दृष्टि से हम उस आदमी को बचा हुआ ही मानते हैं जो इच्छा करते हुए भी प्रत्यक्ष कर्म से बच जाता है । और मैं इन अवसरों पर इसी तरह, इतने ही अंश तक, बचा हुआ समझा जा सकता हूँ । फिर कितने ही काम ऐसे हैं, जिनके करने से बचना व्यक्ति के तथा उसके सम्पर्क में आने वालों के लिए बहुत लाभदायक साबित होता है । और जब विचार-शुद्धि हो जाती है तब उस कर्म से बच जाने को वह ईश्वर का अनुग्रह मानता है । जिस प्रकार हम यह अनुभव करते हैं कि न गिरने का यत्न करते हुए भी मनुष्य गिर ही जाता है, उसी प्रकार पतन की इच्छा हो जाने पर भी अनेक संयोगों के कारण मनुष्य बच जाता है । इसमें कहाँ पुरुषार्थ के लिए स्थान है, कहाँ दैव के लिए, अथवा किन नियमों के वशवर्त्ती होकर मनुष्य गिरता है, या बचता है, ये प्रश्न गूढ़ हैं । ये आज तक हल नहीं हो सके हैं और यह कहना कठिन है कि इनका अन्तिम निर्णय हो सकेगा या नहीं । पर हम आगे चलें ।

मुझे अब तक इस बात का भान न हुआ कि इस मित्र की

मित्रता अनिष्ट है। अभी और कड़ुए अनुभव होना बाकी थे। यह तो मुझे तभी मालूम हुआ, जब मैंने उसके ऐसे दोषों का प्रत्यक्ष अनुभव किया, जिसकी मुझे कभी कल्पना तक न हुई थी। पर मैं, जहाँ तक हो, समयानुक्रम से अपने अनुभव लिख रहा हूँ, इसलिए वे बातें आगे समय पर आ जावेंगी।

एक बात इसी समय की है, वह कहनी पड़ेगी। हम दम्पती में जो कितनी ही बार मतभेद और मनमुटाव हो जाया करता, उसका कारण यह मित्रता भी थी। मैं पहले कह चुका हूँ कि मैं जैसा प्रेमी था वैसा ही वहमी पति भी था। यह मित्रता मेरे वहम को बढ़ाती रहती थी; क्योंकि मित्र की सच्चाई पर मुझे अविश्वास बिलकुल न था। इस मित्र की बातें मान कर मैंने अपनी धर्म-पत्नी को कई बार दुःख दिया है। इस हिंसा के लिए मैंने कभी अपने को माफ नहीं किया। हिन्दू-स्त्री ही ऐसे दुःखों को सहन कर सकती होगी। और इसीलिए मैंने स्त्री को हमेशा सहनशीलता की मूर्त्ति माना है। नौकर-चाकर पर यदि झूठा वहम आने लगे तो वे नौकरी छोड़कर चले जाते हैं, पुत्र पर ऐसी बीते तो बाप का घर छोड़ कर चला जाता है, मित्रों में वहम पड़ जाय तो मित्रता टूट जाती है, पत्नी को यदि पति पर शक हो तो बेचारी मन मसोस कर रह जाती है; पर यदि पति के मन में पत्नी के लिए शक पड़ जाय तो बेचारी को भोग भोगे ही छुटकारा। वह कहाँ जाय? उच्च वर्ण की हिन्दू स्त्री अदालत में जाकर तलाक भी नहीं दे सकती। ऐसा एक-पक्षी न्याय उसके लिए रक्खा गया है। यही न्याय मैंने उसके साथ बरता, इस दुःख को मैं कभी नहीं भूल सकता। इस वहम का सर्वथा नाश तो तभी हुआ, जब

मुझे अहिंसा का सूक्ष्म ज्ञान   था। अर्थात जब मैं ब्रह्मचर्य की महिमा को समझा और समझा कि पत्नी पति की दासी नहीं, वरन् सहचारिणी है, सहधर्मिणी है, दोनों एक दूसरे के सुख-दुःख के समान भागी हैं और पति को अच्छा-बुरा करने की जितनी स्वतन्त्रता है उतनी ही पत्नी को भी है। इस वहम के समय को जब याद आती है तब मुझे अपनी मूर्खता और विषयांध निर्दयता पर क्रोध आता है. और मित्रता-विषयक अपनी मूर्च्छा—मूढ़ता—पर दया उपजती है।

(८)

चोरी और प्रायश्चित

मांसाहार के समय के और उसके पहले के अपने कुछ दूषणों का वर्णन करना अभी बाकी है। वे या तो विवाह के पहले के हैं या तुरन्त उसके बाद के ।

अपने एक रिश्तेदार के साथ मुझे सिगरेट पीने का चस्का लग गया। पैसे तो हमारे पास थे ही नहीं। दो में से किसी को भी यह तो नहीं मालूम होता था कि सिगरेट पीने में कुछ फ़ायदा है या उसकी गंध में कुछ स्वाद है; पर इतना जरूर मालूम हुआ कि केवल धुँआ फूकने में ही कुछ आनन्द है। मेरे चचाजी को सिगरेट पीने की आदत थी। और उनको तथा औरों को धुँआ उड़ाते हुए देखकर हमें भी फूँक लगाने की इच्छा हुआ करती। पैसे तो थे ही नहीं, इसलिए चचाजी की पी हुई सिगरेटों की जूठन चुरा-चुरा कर हम लोग पीने लगे।

परन्तु यह जूठन भी हर वक्त नहीं मिल सकती थी, और उसमें बहुत धुँआ भी नहीं निकलता था। इसलिए हम नौकर के पैसों में से एक-एक दो-दो पैसे चुराने और सिगरेट ख़रीदने लगे। पर यह दिक़्क़त थी कि उन्हें रक्खें कहाँ ? यह तो जानते कि बड़े-बूढ़ों के सामने सिगरेट नहीं पी सकते । ज्यों-त्यों करके दो-

चार पैसे चुराकर कुछ सप्ताह काम चलाया। इसी बीच सुना कि एक किस्म के पौधे (उसका नाम भूल गया) की टहनी बीड़ी की तरह सुलगती है, और उसे पी सकते हैं। हम उसे ला-लाकर पीने लगे।

पर हमें सन्तोष न हुआ। यह पराधीनता हमें खलने लगी। बड़े-बूढ़ों की आज्ञा के बिना कुछ भी नहीं कर सकते, यह दिन-दिन नागवार होने लगा। अन्त को उकताकर, हमने आत्म-हत्या करने का निश्चय किया।

परन्तु आत्म-हत्या करें किस तरह? ज़हर लावें कहाँ से? हमने सुना था कि धतूरे के बीज खाने से आदमी मर जाता है। जंगल में घूम-फिरकर बीज लाये। शाम का समय ठीक किया। केदारजी के मन्दिर में जाकर दीपक में घी डाला, दर्शन किया, और एकान्त ढूँढ़ा पर ज़हर खाने की हिम्मत न होती थी। "तुरन्त ही मृत्यु न हो तो? मरने से आख़िर क्या लाभ? पराधीनता ही में क्यों न पड़े रहें?' ये विचार मन में आने लगे। फिर दो-चार बीज खा ही डाले। ज्यादा खाने की हिम्मत न चली। दोनों मौत से डर गये, और यह तय किया कि रामजी के मन्दिर में जाकर दर्शन करके ख़ामोश हो रहें और आत्म-हत्या के ख़याल को दिल से निकाल डालें।

तब मैं समझा कि आत्म-हत्या का विचार करना तो सहल है; पर आत्म-हत्या करना सहल नहीं। अतएव जब कोई आत्म-हत्या करने की धमकी देता है, तब मुझ पर उसका बहुत कम असर होता है, अथवा यह कहूँ कि बिलकुल ही नहीं होता।

आत्म-हत्या के इस विचार का एक परिणाम यह निकला कि

हमारी सिगरेट की जूठन पीने की, नौकर के पैसे चुराने की और उसकी सिगरेट ला कर पीने की टेव छूट गई। बड़ा होने पर तो मुझे कभी सिगरेट पीने की इच्छा तक न हुई। और मैं सदा इस टेव को जङ्गली, हानिकारक और गन्दी मानता आया हूँ। पर अब तक मैं यह न समझ पाया कि सिगरेट पीने का इतना ज़बरदस्त शौक़ दुनिया को क्यों है? रेल के जिस डिब्बे में बहुतेरी बीड़ियाँ फूँकी जाती हों, वहाँ बैठना मेरे लिए मुश्किल हो पड़ता है और उसके धुंए से दम घुटने लगता है।

सिगरेट की जूठन चुराने तथा उसके लिए नौकर के पैसे चुराने से बढ़कर एक दोष चोरी का मुझ से और हुआ है, और उसे मैं इससे बहुत बुरा समझता हूँ। सिगरेट का चस्का जब लगा तब मेरी उम्र १२-१३ साल की होगी। शायद इससे भी कम हो। दूसरी चोरी के समय १५ वर्ष की रही होगी। यह चोरी थी मेरे मांसाहारी भाई के सोने के कड़े के टुकड़े की। उन्होंने २५) के लगभग कर्ज़ कर रक्खा था। हम दोनों भाई इस सोच में पड़े कि यह चुकावें किस तरह। मेरे भाई के हाथ में सोने का ठोस कड़ा था। उसमें से एक तोला सोना काटना कठिन न था।

कड़ा कटा। कर्ज़ चुका। पर मेरे लिए यह घटना असह्य हो गई। आगे से चोरी न करने का मैंने निश्चय किया। मन में लगा कि पिताजी के सामने जा कर चोरी क़ुबूल कर लूँ। पर उनके सामने मुँह खुलना मुश्किल था। यह डर तो न था कि पिताजी खुद मुझे पीटने लगेंगे। क्योंकि मुझे नहीं याद पड़ता कि उन्होंने हम भाइयों में से कभी किसी को पीटा हो। पर यह खटका ज़रूर था, कि वे खुद बड़ा सन्ताप करेंगे, शायद अपना सिर भी

पीटलें। अतएव मैंने मन में कहा—'यह जोखिम उठाकर भी अपनी बुराई क़ुबूल कर लेना चाहिए, इसके बिना शुद्धि नहीं हो सकती'।

अन्त को यह निश्चय किया कि चिट्ठि लिख कर अपना दोष स्वीकार कर लूँ। मैंने चिट्ठी लिख कर खुद ही उन्हें दी। चिट्ठी में सारा दोष क़ुबूल किया था और सज़ा चाही थी। आजिज़ी के साथ यह प्रार्थना की थी कि आप किसी तरह अपने को दुःखी न बनावें और प्रतिज्ञा की थी कि आगे मैं कभी ऐसा न करूँगा।

पिताजी को चिट्ठी देते हुए मेरे हाथ-पाँव काँप रहे थे। उस समय वे भगंदर की बीमारी से पीड़ित थे। लकड़ी के तख्तों पर उनका बिछौना रहता था। उनके सामने जा कर बैठ गया।

उन्होंने चिट्ठी पढ़ी आँखों से मोती के बूँद टपकने लगे। चिट्ठी भीग गई। थोड़ी देरके लिए उन्होंने आँखें मूँद लीं। चिट्ठी फाड़ डाली। चिट्ठी पढ़ने को जो वे उठ बैठे थे सो फिर लेट गये।

मैं भी रोया। पिताजी के दुःख को अनुभव किया। यदि मैं चितेरा होता तो आज भी उस चित्र को हूबहू खींच सकता। मेरी आँखों के सामने आज भी वह दृश्य ज्यों का त्यों दिखाई दे रहा है।

इस मोती-बिन्दु के प्रेम-बाण ने मुझे बींध डाला। मैं शुद्ध हो गया। इस प्रेम को तो वही परख सकता है; जिसे उसका अनुभव हुआ है—

राम-बाण वाग्यां रे होय ते जाणे *

मेरे लिए यह अहिंसा का पदार्थ-पाठ था। उस समय तो मुझे इसमें पितृ-वात्सल्य से अधिक कुछ न दिखाई दिया; पर

---

* प्रेम-बाण से जो बिंधा हो वही उसके प्रभाव को जानता है।—अनु०

आज मैं इसे शुद्ध अहिंसा के नाम से पहचानता हूँ। ऐसी अहिंसा जब व्यापक रूप ग्रहण करती है तब उसके स्पर्श से कौन अलिप्त रह सकता है? ऐसी व्यापक अहिंसा के बल को नापना असम्भव है।

ऐसी शांतिमय क्षमा पिताजी के स्वभाव के प्रतिकूल थी। मैंने तो यह अन्दाज़ा किया था कि वे गुस्सा होंगे, सख्त-सुस्त कहेंगे, शायद अपना सिर भी पीट लें। पर उन्होंने तो असीम शांति का परिचय दिया। मैं मानता हूँ कि यह दोष की शुद्ध हृदय से की गई स्वीकृति का परिणाम था। जो मनुष्य अधिकारी व्यक्ति के सामने स्वेच्छापूर्वक अपने दोष शुद्ध हृदय से कह देता है और फिर कभी न करने की प्रतिज्ञा करता है, वह मानों शुद्धतम प्रायश्चित करता है। मैं जानता हूँ कि मेरी इस दोष-स्वीकृति से पिताजी मेरे संबंध में निःशंक हो गये और उनका महाप्रेम मेरे प्रति और भी बढ़ गया।

(९)

पिताजी की मृत्यु और मेरी शर्म

यह जिक्र मेरे सोलहवें साल का है। पाठक जानते हैं, कि पिताजी भगंदर की बीमारी से बिलकुल बिछौने पर ही लेटे रहते। उनकी सेवा-शुश्रूषा अधिकांश में माताजी, एक पुराना नौकर और मेरे जिम्मे थी। मैं 'नर्स'—परिचारक का काम करता था। घाव को धोना, उसमें दवा डालना, जरूरत हो तब मरहम लगाना, दवा पिलाना; और जरूरत हो तब घर पर दवा तैयार करना, यह मेरा खास काम था। रात को हमेशा उनके पैर दबाना और जब वे कहें तब, अथवा उनके सो जाने के बाद, जा कर सोना मेरा नियम था। यह सेवा मुझे अतिशय प्रिय थी। मुझे नहीं याद पड़ता कि किसी दिन मैंने इसमें गफलत की हो। ये दिन मेरे हाईस्कूल के थे। इस कारण भोजन पान से जो समय बचता वह या तो स्कूल में या पिताजी की सेवा-शुश्रूषा में जाता। जब वे कहते, अथवा उनकी तबीयत के अनुकूल होता, तब शाम को घूमने चला जाता। इसी वर्ष पत्नी गर्भवती हुई। आज मुझे इसमें दुहेरी शर्म मालूम होती है। एक तो यह कि विद्यार्थी-जीवन होते हुए मैं संयम न रख सका,

और दूसरे यह कि यद्यपि मैं स्कूल की पढ़ाई पढ़ने को और इससे भी बढ़कर माता-पिता की भक्ति को धर्म मानता था—यहाँ तक कि इस संबंध में बाल्यावस्था से ही श्रवण मेरा आदर्श रहा था—तथापि विषय-लालसा मुझ पर हावी हो सकी थी। यद्यपि मैं रात को पिताजी के पांव दबाया करता, तथापि मन शयन-गृह की तरफ दौड़ा करता और वह भी ऐसे समय कि जब स्त्री-संग धर्म-शास्त्र, वैद्यक-शास्त्र और व्यवहार-शास्त्र तीनों के अनुसार त्याज्य था। जब उनकी सेवा-शुश्रूषा से मुझे छुट्टी मिलती तब मुझे खुशी होती और पिताजी के पैर छू करके मैं सीधा शयन-गृह में चला जाता। पिताजी की बीमारी बढ़ती जाती थी। वैद्यों ने अपने अपने लेप आजमाये, हकीमों ने मरहमपट्टियाँ आजमाईं, मामूली हाजमे आदि की घरेलू दवायें कीं, अंगरेज डाक्टर ने भी अपनी अक़ल आजमा देखी। अंगरेज डाक्टर ने कहा—नश्तर लगाने के सिवा दूसरा रास्ता नहीं। हमारे कुटुम्ब के मित्र-वैद्य बीच में पड़े और ढलती उम्र में ऐसा नश्तर लगवाने की सलाह उन्होंने नहीं दी। दवाओं की बीसों बोतलें खपीं, पर व्यर्थ गईं और नश्तर भी नहीं लगाया गया। वैद्यराज क़ाबिल और नामांकित थे। मेरा ख़्याल है कि यदि उन्होंने नश्तर लगाने दिया होता तो घाव के अच्छा होने में कोई दिक़्क़त न आती। आपरेशन बम्बई के तत्कालीन प्रसिद्ध सर्जन के मार्फ़त होने वाला था। पर अन्त नजदीक आ गया था, इसलिए ठीक बात उस समय कैसे सूझ सकती थी? पिताजी बम्बई से बिना नश्तर लगाये वापिस लौटे। और नश्तर-सम्बन्धी खरीदा हुआ सामान साथ लेते आये। उन्होंने अधिक जीने की आशा छोड़ दी थी। कमजोरी बढ़ती गई और

हर क्रिया बिछौने में ही करने की नौबत आ गई । परन्तु उन्होंने इसे स्वीकार न किया और उठने-बैठने का कष्ट उठाना मंजूर किया । वैष्णव-धर्म का यह कठिन शासन है । बाह्य-शुद्धि अति आवश्यक है । परन्तु पाश्चात्य वैद्यक-शास्त्र हमें सिखाता है कि मल-त्याग तथा स्नान आदि की समस्त क्रियायें पूरी पूरी स्वच्छता के साथ बिछौने में हो सकती हैं और फिर भी रोगी को कष्ट नहीं उठाना पड़ता । जब देखिए तब बिछौना स्वच्छ ही रहता है । ऐसी स्वच्छता को मैं तो वैष्णव-धर्म के अनुकूल ही मानता हूँ । परन्तु इस समय पिताजी का स्नानादि के लिए बिछौने को छोड़ने का आग्रह देखकर मैं तो आश्चर्य-चकित रहता और मन में उनकी स्तुति किया करता ।

अवसान की घोर रात्रि नजदीक आई । इस समय मेरे चचाजी राजकोट में थे । मुझे कुछ ऐसा याद पड़ता है कि पिता जी की बीमारी के बढ़ने के समाचार सुनकर वे आ गये थे । दोनों भाइयों में प्रगाढ़ प्रेम-भाव था । चचाजी दिन भर पिताजी के बिछौने के पास ही बैठे रहते और हम सबको सोने के लिए रवाना करके खुद पिताजी बिछौने के पास सोते । किसी को यह ख्याल न था कि यह रात आखिरी साबित होगी । भय तो सदा रहा ही करता था । रात के साढ़े दस या ग्यारह बजे होंगे । मैं पैर दबा रहा था । चचाजी ने मुझसे कहा—'अब तुम जा कर सोओ, मैं बैठूँगा ।' मैं खुश हुआ और शयन-गृह में चला गया । पत्नी बेचारी भर-नींद में थी, पर मैं उसे क्यों सोने देने लगा ? जगाया । पाँच-सात ही मिनट हुए होंगे कि नौकर ने दरवाजा खटखटाया ।

मैं चौंका ! उसने कहा—'उठो, पिताजी की हालत बहुत ख़राब है।' बहुत ख़राब हैं, यह तो मैं जानता ही था, इसलिए 'बहुत खराब' का विशेष अर्थ समझ गया। एक-बारगी बिछौने से छटककर पूछा—

'कहो तो, बात क्या है ?'

'पिताजी गुजर गये !'—उत्तर मिला।

अब पश्चात्ताप किस काम का ? मैं बहुत शर्मिंदा हुआ, बड़ा खेद हुआ। पिताजी के कमरे में दौड़ा गया। मैं समझा कि यदि मैं विषयान्ध न होता, तो अन्त समय तक पिताजी के पैर दबाता रहता। अब तो चचाजी के मुँह से ही सुना। "बापू ❀ तो हमें छोड़कर चले गये !" अपने जेठे भाई के परम भक्त, चचाजी; उनकी अन्तिम सेवा के सौभाग्य के भागी हुए। पिताजी को अपने अवसान का ख़्याल पहले हो चुका था। उन्होंने इशारे से लिखने की सामग्री माँगी काग़ज़ पर उन्होंने लिखा 'तैयारी करो।' इतना लिखकर अपने हाथ बँधा तावीज़ तोड़ फेंका। सोने की कण्ठी पहने हुए थे, उसे भी तोड़ फेंका। एकक्षण में प्राण-पखेरू उड़गये।

पिछले प्रकरण में मैंने अपनी जिस शर्म की ओर संकेत किया था, वह यही शर्म थी। सेवा के समय में भी विषयेच्छा !! इस काले धब्बे को मैं आज तक न पोंछ सका, न भूल सका। और मैंने हमेशा माना है कि यद्यपि माता-पिता के प्रति मेरी भक्ति अपार थी, उसके लिए मैं सब-कुछ छोड़ सकता था, यह उस

❀ काठियावाड़ में पिता को 'बापू' कहते हैं। —अनु०

सेवा में अक्षम्य कमी थी। इसीलिए मैंने अपने को एक पत्नी-व्रत का पालन करने वाला मानते हुए भी विषयान्ध माना है। इससे छूटने में मुझे बहुत समय लगा है और छुटने के पहले बहुत धर्मसंकट सहना पड़ा है।

अपनी इस दुहेरी शर्म का प्रकरण पूरा करने के पहले यह भी कह देता हूँ कि पत्नी ने जिस बालक को जन्म दिया वह दो-चार दिन साँस लेकर चलता हुआ। दूसरा क्या परिणाम हो सकता था? इस उदाहरण को देख कर जो माँ-बाप अथवा जो दम्पती चेतना चाहें वे चेतें।

(१०)

धर्म की झलक

छः सात साल की उम्र से लेकर १६ वर्ष तक विद्याध्ययन किया; परन्तु स्कूल में कहीं धर्म-शिक्षा न मिली। जो चीज शिक्षकों के पास से सहज ही मिलनी चाहिए वह न मिली। फिर भी वायु-मंडल में से तो कुछ न कुछ धर्म-प्रेरणा मिला करती थी। यहाँ धर्म का व्यापक अर्थ करना चाहिए धर्म से मेरा अभिप्राय है आत्म-साक्षात्कार से, आत्म-ज्ञान से।

वैष्णव-सम्प्रदाय में जन्म होने के कारण बार बार 'हवेली' जाना होता था। परन्तु उसके प्रति श्रद्धा न उत्पन्न हुई। हवेली का वैभव मुझे पसन्द न आया। हवेलियों में होने वाले अनाचारों की बातें सुन-सुन कर मेरा मन उनके सम्बन्ध में उदासीन हो गया। वहाँ से मुझे कुछ धर्म-प्रेरणा न मिली।

परन्तु जो चीज़ मुझे हवेली से न मिली, वह अपनी दाई के पास से मिली। वह हमारे कुटुम्ब में पुरानी नौकरानी थी। उसका प्रेम मुझे आज भी याद आता है। मैं पहले कह चुका हूँ कि मैं भूत-प्रेतादि से डरा करता था। रम्भा ने मुझे बताया कि इसकी दवा राम-नाम है। राम-नाम की अपेक्षा रम्भा पर मेरी अधिक

श्रद्धा थी। इसलिए बचपन में मैंने भूत-प्रेतादि से बचने के लिए राम-नाम का जप शुरू किया। यह सिलसिला यों बहुत दिन तक जारी न रहा; परन्तु बचपन में जो बीजारोपण हुआ वह व्यर्थ न गया। राम-नाम जो आज मेरे लिए अमोघ शक्ति हो गया है, उसका कारण वह रम्भा बाई का बोया हुआ बीज ही है।

मेरे चचेरे भाई रामायण के भक्त थे। इसी अर्से में उन्होंने हम दो भाइयों को 'राम-रक्षा' का पाठ सिखाने का प्रबन्ध किया। हमने उसे मुखाग्र करके प्रातःकाल स्नान के बाद पाठ करने का नियम बनाया। जब तक पोरबन्दर में रहे, तब तक तो यह निभता रहा। राजकोट के वातावरण में उसमें शिथिलता आगई। इस क्रिया पर भी कोई खास श्रद्धा न थी। दो कारणों से 'राम-रक्षा' का पाठ मैं करता था। एक तो बड़े भाई को मैं आदर की दृष्टि से देखता था, और दूसरे मुझे गर्व था कि मैं 'राम-रक्षा' का पाठ शुद्ध-उच्चार-सहित करता हूँ।

परन्तु जिस चीज़ ने मेरे दिल पर गहरा असर डाला, वह तो थी रामायण का पारायण। पिताजी की बीमारी का बहुतेरा समय पोरबन्दर में गया। वहाँ वे रामजी के मन्दिर में रोज़ रात को रामायण सुनते। कथा कहने वाले थे रामचन्द्रजी के एक परम-भक्त बीलेश्वर के लाधा महाराज। उनके सम्बन्ध में यह आख्यायिका प्रसिद्ध थी कि उन्हें कोढ़ हो गया था। उन्होंने कुछ दवा न की—सिर्फ बीलेश्वर महादेव पर चढ़े हुए बिल्व-पत्रों को कोढ़ वाले अंगों पर बाँधते रहे, और राम-नाम का जप करते रहे। अन्त में उनका कोढ़ समूल नष्ट हो गया। यह बात चाहे सच हो या झूठ, हम सुनने वालों ने तो सच ही मानी। हाँ, यह

जरूर सच है कि लाधा महाराज ने जब कथा आरम्भ की थी तब उनका शरीर बिलकुल नीरोग था। लाधा महाराज का स्वर मधुर था। वे दोहा चौपाई गाते और अर्थ समझाते। खुद उसमें लीन हो जाते और श्रोताओं को भी लीन कर देते। मेरी अवस्था इस समय कोई १३ साल की होगी; पर मुझे याद है कि उनकी कथा में मेरा बड़ा मन लगता था। रामायण पर जो मेरा अत्यन्त प्रेम है, उसका पाया यही रामायण-श्रवण है। आज मैं तुलसी-दास की रामायण को भक्ति-मार्ग का सर्वोत्तम ग्रंथ मानता हूँ।

कुछ महीने बाद हम राजकोट आये। वहाँ ऐसी कथा न होती थी। हाँ, एकादशी को भागवत अलबत्ते पढ़ी जाती थी। कभी कभी मैं वहाँ जाकर बैठता; परन्तु कथा-पण्डित उसे रोचक न बना पाते थे। आज मैं समझता हूँ कि भागवत ऐसा ग्रन्थ है कि जिसे पढ़कर धर्म-रस उत्पन्न किया जा सकता है। मैंने उसका गुजराती अनुवाद बड़े चाव-भाव से पढ़ा है। परन्तु मेरे इक्कीस दिन के उपवास में जब भारत-भूषण पण्डित मदनमोहन माल-वीयजी के श्रीमुख से मूल संस्कृत के कितने ही अंश सुने. तब मुझे ऐसा लगा कि बचपन में यदि उनके सदृश भगवद्भक्त के मुँह से भागवत सुनी होती, तो बचपन में ही मेरी गाढ़ प्रीति उस पर जम जाती। मैं अच्छी तरह इस बात को अनुभव कर रहा हूँ कि बचपन में पड़े शुभ-अशुभ संस्कार बड़े गहरे हो जाते हैं और इसलिए यह बात अब मुझे बहुत खल रही है कि लड़कपन में ही कितने ही अच्छे ग्रन्थों का श्रवण-पठन न हो पाया।

राजकोट में मुझे सब सम्प्रदायों के प्रति समानभाव रखने की शिक्षा अनायास मिली। हिन्दू-धर्म के प्रत्येक सम्प्रदाय के प्रति

आदर-भाव रखना सीखा, क्योंकि माता-पिता हवेली भी जाते थे, राम-मंदिर भी जाते थे और हम भाइयों को भी ले जाते अथवा भेज देते थे।

फिर पिताजी के पास एक न एक जैन-धर्माचार्य अवश्य आया करते। पिताजी भिक्षा देकर उनका आदर-सत्कार भी करते। वे पिताजी के साथ धर्म तथा व्यवहार-चर्चा किया करते। इसके सिवा पिताजी के मुसलमान तथा पारसी मित्र भी थे। बहुत बार वे अपने-अपने धर्म की बातें सुनाया करते और पिताजी आदर और भाव के साथ उनकी बातें सुनते। मैं पिताजी का 'नर्स' था, इसलिए ऐसी चर्चा के समय मैं भी प्रायः उपस्थित रहा करता। इस सारे वायुमण्डल का यह असर हुआ कि मेरे मन में सब धर्मों के प्रति समानभाव पैदा हुआ।

हाँ, ईसाई-धर्म इसमें अपवाद था। उसके प्रति तो जरा अरुचि ही उत्पन्न हो गई। इसका कारण था। उस समय हाई-स्कूल के एक कोने में एक ईसाई व्याख्यान दिया करते। वे हिन्दू देवताओं और हिन्दूधर्म वालों की निन्दा किया करते। यह मुझे सहन न होता। मैं एकाध ही बार इन व्याख्यानों को सुनने के लिए खड़ा रहा हूँगा। पर फिर वहाँ खड़ा होने को जी न चाहा। इसी समय सुना कि एक प्रसिद्ध हिन्दू ईसाई हो गये हैं। गाँव में यह चर्चा फैली हुई थी कि उन्हें जब ईसाई बनाया गया तब गो-माँस खिलाया गया; और शराब पिलाई गई। उनका लिबास भी बदल दिया गया और ईसाई होने के बाद वे कोट-पतलून और हैट लगाने लगे। यह देखकर मुझे व्यथा पहुँची। 'जिस धर्म में में जाने के लिए गो-माँस खाना पड़ता हो, शराब पीनी पड़ती

हो और अपना पहनाव बदलना पड़ता हो, उसे क्या धर्म कहना चाहिए ?' मेरे मन में यह विचार उत्पन्न हुआ। फिर तो यह भी सुना कि ईसाई हो जाने पर वे महाशय अपने पूर्वजों के धर्म की, रीति-रिवाज की, और देश की भरपेट निन्दा करते फिरते हैं। इन सब बातों से मेरे मन में ईसाई-धर्म के प्रति अरुचि उत्पन्न हो गई।

इस प्रकार, यद्यपि, दूसरे धर्मों के प्रति समभाव उत्पन्न हुआ, तो भी यह नहीं कह सकते कि ईश्वर के प्रति मेरे मन में श्रद्धा थी। इस समय पिताजी के पुस्तक संग्रह में से मनुस्मृति का भाषान्तर मेरे हाथ पड़ा। उसमें सृष्टि की उत्पत्ति, आदि का वर्णन पढ़ा। उस पर श्रद्धा न जमी। उलटे कुछ नास्तिकता आ गई। मेरे दूसरे चचेरे भाई, जो अभी मौजूद हैं, उनकी बुद्धि पर मुझे विश्वास था। उनके सामने मैंने अपनी शंकायें रक्खीं। परन्तु वे मेरा समाधान न कर सके। उन्होंने उत्तर दिया—'बड़ा होने पर इन प्रश्नों का उत्तर तुम्हारी बुद्धि अपने आप देने लगेगी। ऐसे-ऐसे सवाल बच्चों को न पूछना चाहिए।' मैं चुप हो रहा, पर मन को शान्ति न मिली। मनुस्मृति के खाद्याखाद्य-प्रकरण में तथा दूसरे प्रकरणों में भी प्रचलित प्रथा का विरोध दिखाई दिया। इस शंका का उत्तर भी मुझे प्रायः ऊपर लिखे अनुसार ही मिला तब यह सोचकर मनको समझा लिया कि जिस दिन बुद्धि की शक्ति बढ़ेगी, तब अधिक पठन और मनन करूँगा और समझूँगा।

मनुस्मृति को पढ़कर मैं उस समय तो उससे अहिंसा की प्रेरणा न पा सका। मांसाहार की बात ऊपर आ ही चुकी है।

उसे तो मनुस्मृति का भी सहारा मिल गया। यह भी जँचता था कि सांप, खटमल आदि को मारना नीति-विहित है। इस समय, मुझे याद है कि मैंने धर्म समझ कर खटमल इत्यादि को मारा है।

पर एक बात ने मेरे दिल में जड़ जमा ली। सृष्टि नीति के पाये पर खड़ी है, नीति-मात्र का समावेश सत्य में होता है। पर सत्य की खोज तो अभी बाक़ी है। दिन दिन सत्य की महिमा मेरी दृष्टि में बढ़ती गई, सत्य की व्याख्या विस्तार पाती गई और अब भी पाती जा रही है।

फिर एक नीति-विषयक छप्पय तो हृदय में अंकित ही हो गया। अपकार का बदला अपकार नहीं, बल्कि उपकार ही हो सकता है, यह बात जीवन-सूत्र बन बैठी। उसने मुझ पर अपनी सत्ता जमाना शुरू किया। अपकार करने वाले का भला चाहना और करना मेरे अनुराग का विषय हो चला। उसके अगणित प्रयोग किये। वह चमत्कारी छप्पय यह है—

> पाणी आपने पाय, भलुं भोजन तो दीजे,
> आवी नमावे शीश, दण्डवत कोडे कीजे।
> आपण घासे दाम, काम महोरानुं करीए;
> आप उगारे प्राण, ते तणा दुःखमां मरीए।
> गुण केडे तो गुण दश गणो; मन वाचा कर्मे करी,
> अवगुण केडे जे गुण करे ते जगमां जीत्यो सही।†

> † जल-फल का उपकार पेट भर भोजन दीजे।
> समुद नमन के लिए दण्डवत प्यारे कीजे॥
> कौड़ी पा कर मित्र मुहर बदले में देना।
> होवे कष्ट-सहाय, प्राण उसके हित देना॥
> गुण के बदले दस गुना, गुण करना यह धर्म है।
> अवगुण बदले गुण करे, सत्य-धर्म का मर्म है॥

([illegible])

विलायत की तैयारी

१८८७ ईसवी में मैट्रिक की परीक्षा पास की। बम्बई और अहमदाबाद दो परीक्षा-केन्द्र थे। देश की दरिद्रता और कुटुम्ब की आर्थिक अवस्था के बहुत मामूली होने के कारण, मेरी स्थिति के काठियावाड़-निवासी के लिए नज़दीकी और सस्ते अहमदाबाद को पसन्द करना स्वाभाविक था। राजकोट से अहमदाबाद मैंने यह पहली ही बार अकेले यात्रा की।

घर के बड़े-बूढ़ों की यह इच्छा थी कि अब आगे कॉलेज की पढ़ाई पढ़ूँ। कॉलेज तो बम्बई में भी था और भावनगर में भी। भावनगर में खर्च कम पड़ता था इसलिए वहीं, शामलदास कॉलेज में, पढ़ने का निश्चय हुआ। वहाँ सब कुछ मुझे मुश्किल दिखने लगा। अध्यापकों के व्याख्यानों में न मन लगता, न समझ ही पड़ती। उसमें अध्यापकों का दोष न था। मेरी पढ़ाई ही कच्ची थी। उस समय के शामलदास कॉलेज के अध्यापक तो प्रथम पंक्ति के माने जाते थे। पहला सत्र पूरा करके घर आया।

हमारे कुटुम्ब के पुराने मित्र और सलाहकार एक विद्वान् व्यवहार-कुशल ब्राह्मण—मावजी दवे थे। पिताजी के स्वर्गवास के

बाद भी उन्होंने हमारे कुटुम्ब के साथ सम्बन्ध कायम रक्खा था। छुट्टियों के दिनों में वे घर आये। माताजी और बड़े भाई के साथ बातें करते हुए मेरी पढ़ाई के विषय में पूछताछ की। यह सुनकर कि मैं शामलदास कालेज में पढ़ता हूँ, उन्होंने कहा—"अब ज़माना बदल गया है। तुम भाइयों में से यदि कोई कबा गांधी की गद्दी कायम रखना चाहो तो यह बिना पढ़ाई के नहीं हो सकता। यह अभी पढ़ रहा है। इसलिए उस गद्दी को कायम रखने का भार इस पर डालना चाहिए। इसे अभी ४—५ साल बी० ए० होने में लगेंगे। इसके बाद भी ५०)—६०) की नौकरी भले ही मिले; दीवान—पद नहीं मिल सकता। फिर अगर उसके बाद, मेरे लड़के की तरह; वकील बनाओगे तो कुछ और साल लगेंगे, और तब तक तो दीवानगिरी के लिए कितने ही वकील तैयार हो जायँगे। आपको चाहिए कि इसे विलायत पढ़ने भेजें। केवलराम (मावजी दवे का पुत्र) कहता है कि वहां पढ़ाई आसान है। तीन साल में पढ़ कर लौट आवेगा। खर्च भी ४—५ हज़ार से ज्यादा न लगेगा। देखो न, वह नया बैरिस्टर आया है। कैसे ठाट-बाट से रहता है। वह यदि चाहे तो आज दीवान बन सकता है। मेरी सलाह तो यह है कि मोहनदास को आप इसी साल विलायत भेज दें। विलायत में केवलराम के बहुतेरे मित्र हैं। वह परिचय-पत्र दे देगा तो इसे वहां कोई कठिनाई न होगी।"

जोशीजी ने (मावजी दवे को हम इसी नाम से पुकारा करते थे) मानों उन्हें अपनी सलाह के मंजूर हो जाने का कुछ भी सन्देह न हो, मेरी ओर मुख़ातिब होकर पूछा:—

"क्यों, तुम्हें विलायत जाना पसन्द है या यहीं पढ़ना?" मेरे

लिए यह 'नेकी और पूछ-पूछ' वाली मसल हो गई। मैं कालेज की कठिनाइयों से तंग तो आ ही गया था। मैंने कहा—"विलायत भेजें तो बहुत ही अच्छा। कालेज में जल्दी-जल्दी पास हो जाने की आशा नहीं मालूम होती। पर मुझे डाक्टरी के लिए क्यों नहीं भेजते?"

मेरे भाई बीच में बोले—"बापू को यह पसन्द न था। तुम्हारी बात जब निकलती तो कहते, हम तो वैष्णव हैं। हाड-मांस नोंचने का काम हम कैसे करें? बापू तो तुम को वकील ही बनाना चाहते थे।"

जोशीजी ने बीच ही में हाँ में हाँ मिलाई—"मुझे गांधीजी की तरह डाक्टरी से तो नफरत नहीं। हमारे शास्त्रों ने इसका तिरस्कार नहीं किया है। परन्तु डाक्टरी पास करके तुम दीवान नहीं बन सकते। मैं तो तुमको दीवान, और इससे भी बढ़कर देखना चाहता हूँ। तभी तुम्हारे विशाल कुटुम्ब का काम चल सकता है। ज़माना दिन-दिन बदलता जाता है और मुश्किल होता जाता है। इसलिए बैरिस्टर बनना ही बुद्धिमानी है।"

माताजी की ओर देखकर कहा—"आज तो मैं जाता हूँ। मेरी बात पर विचार कीजिएगा। वापस आने पर मैं विलायत जाने की तैयारी के समाचार सुनने की आशा रक्खूँगा। कोई दिक्कत हो तो मुझे खबर कीजिएगा।"

जोशीजी गये। इधर मैंने हवाई किले बांधना शुरू किये।

बड़े भाई शशोपंज में पड़ गये। रुपये का क्या इन्तजाम करें? फिर इस उम्र में इतनी दूर कैसे भेज दें?

माताजी भी बड़ी दुविधा में पड़ गई। दूर भेजने की

बात ही उन्हें अच्छी न लगी। परन्तु शुरू में तो उन्होंने यही कहा—"हमारे कुटुम्ब में तो अब चाचाजी ही बड़े-बूढ़े हैं। इसलिए पहले तो उन्हीं की सलाह लेनी चाहिए। यदि वे इजाजत दे दें तो फिर सोचेंगे।

बड़े भाई को एक और विचार सूझा—'पोरबन्दर राज्य पर हमारा हक़ है। लेली साहब एडमिनिस्ट्रेटर हैं। हमारे परिवार के सम्बन्ध में उनका अच्छा मत है। चचाजी पर उनकी खास मिहरबानी है। शायद वे राज्य की ओर से तुम्हारी थोड़ी-बहुत मदद भी कर दें।'

मुझे यह सब पसन्द आया। मैं पोरबन्दर जाने के लिए तैयार हुआ। उस समय रेल न थी। बैलगाड़ियां चलती थीं। ५ दिन का रास्ता था। मैं डरपोक था यह तो ऊपर कह ही गया हूँ। पर इस समय मेरा डर न जाने कहाँ चला गया। विलायत जाने की धुन सवार हुई। मैंने धोराजी तक की गाड़ी की। धोराजी से एक दिन पहले पहुँचने के इरादे से ऊँट किया। ऊँट की सवारी का यह पहला अनुभव था।

पोरबन्दर पहुँचा। चाचाजी को साष्टांग प्रणाम किया। सारा किस्सा उनसे कहा। उन्होंने विचार करके उत्तर दिया—

"विलायत जाकर अपना धर्म क़ायम रख सकोगे कि नहीं यह मैं नहीं जानता। सारी बातें सुनकर तो मुझे सन्देह ही होता है। देखो न, बड़े-बड़े बैरिस्टरों से मिलने का मुझे मौक़ा मिलता है। मैं देखता हूँ कि उनकी और साहब लोगों की रहन-सहन में कोई फ़र्क़ नहीं। उन्हें खान-पान का कोई परहेज नहीं होता। सिगार तो मुँह से अलग ही नहीं होती। पहनाव भी देखो तो नंगा

यह सब अपने कुटुम्ब को शोभा नहीं देगा। पर मैं तुम्हारे साहस में विघ्न डालना नहीं चाहता। मैं थोड़े ही दिन में तीर्थ-यात्रा को जाने वाला हूँ। मेरी जिंदगी के अब थोड़े ही दिन बाक़ी हैं। सो मैं, जो कि जिंदगी के किनारे तक पहुँच गया हूँ, तुमको विलायत जाने की-समुद्र-यात्रा करने की इजाजत—कैसे दूँ? पर मैं तुम्हारा रास्ता न रोकूँगा। असली इजाजत तो तुम्हारी माताजी की है। अगर वह तुम्हें इजाजत दे दें तो तुम शौक से जाओ। उनसे कहना कि मैं तुम्हें न रोकूँगा। मेरी आशीष तो तुम्हें हुई है।"

"इससे ज्यादा की आशा मैं आपसे नहीं कर सकता। अब मुझे माताजी को राज़ी कर लेना है। परन्तु लेली साहब के नाम आप चिट्ठी तो दे देंगे न।" मैंने कहा।

चाचाजी बोले "यह तो मुझ से कैसे हो सकता है? पर साहब भले आदमी हैं। तुम चिट्ठी लिखो। अपने कुटुम्ब की याद दिलाना तो वे जरूर मिलने का समय देंगे; और उन्हें जँचा तो मदद भी कर देंगे।"

मुझे ख्याल नहीं आता कि चचाजी ने साहब के नाम चिट्ठी क्यों न दी? पर कुछ-कुछ ऐसा अनुमान होता है कि विलायत जाने के धर्म-विरुद्ध कार्य में इतनी सीधी मदद देते हुए उन्हें संकोच हुआ होगा।

मैंने लेली साहब को चिट्ठी लिखी। उन्होंने अपने रहने के बंगले पर मुझे बुलाया। बंगले के जीने पर चढ़ते-चढ़ते साहब मुझ से मिले और यह कहते हुए ऊपर चढ़ गये कि—"पहले बी० ए० हो लो, फिर मुझ से मिलो। अभी कुछ मदद नहीं हो सकती।" मैं बहुत तैयारी करके, बहुतेरे वाक्यों को रटकर

गया था। बहुत झुककर दोनों हाथों से सलाम किया था, पर मेरी सारी मिहनत फिजूल गई।

अब मेरी नज़र अपनी पत्नी के गहनों पर गई। बड़े भाई पर मेरी अपार श्रद्धा थी। उनकी उदारता की सीमा न थी। उनका प्रेम पिता की तरह था।

मैं पोरबन्दर से विदा हुआ और राजकोट आकर सब बातें सुनाईं। जोशीजी से सलाह-मशवरा किया। उन्होंने कर्ज़ करके भी विलायत भेजने की सलाह दी। मैंने सुझाया कि धर्म-पत्नी के गहने बेंच डाले जायँ। गहनों से २—३ हज़ार से ज़्यादा रकम मिलने की आशा न थी। किन्तु भाई साहब ने, जिस तरह हो रुपये का इन्तज़ाम करने का बीड़ा उठाया।

पर माताजी क्योंकर मानतीं? उन्होंने विलायत के जीवन के सम्बन्ध में पूछ-ताछ शुरू की। किसीने कहा, नवयुवक विलायत जाकर बिगड़ जाते हैं। कोई कहता था, वे मांस खाने लगते हैं। किसी ने कहा, वहां शराब पिये बिना नहीं चलता। माताजी ने यह सब मुझसे कहा। मैंने समझाया कि तुम मुझ पर विश्वास रक्खो, मैं विश्वासघात न करूँगा। मैं कसम खाकर कहता हूँ कि मैं इन मैं इन तीनों बातों से बचूँगा। और अगर ऐसी जोखिम की ही बात होती तो जोशी जी क्यों जाने की सलाह देते?

माताजी बोलीं—मुझे तेरा विश्वास है। पर दूर देश में तुम्हारा कैसे क्या होगा? मेरी तो अकल काम नहीं करती। मैं बेचरजी स्वामी से पूछूँगी।" बेचरजी स्वामी मोढ़ बनिये से जैन साधु हुए थे। जोशीजी की तरह हमारे सलाहकार भी थे। उन्होंने मेरी मदद की। उन्होंने कहा कि मैं इससे तीनों बातों की प्रतिज्ञा लिवा लूँगा। फिर

जाने देने में कोई हर्ज नहीं। तदनुसार मैंने मांस, मदिरा और स्त्री-संग से दूर रहने की प्रतिज्ञा ली। तब माताजी ने इजाजत देदी।

मेरे विलायत जाने के उपलक्ष्य में हाईस्कूल में विद्यार्थियों का सम्मेलन हुआ। राजकोट का एक युवक विलायत जा रहा है; इस पर सब को आश्चर्य ही हो रहा था। अपनी बिदाई के जबाब में मैं कुछ लिख कर ले गया था। पर मैं उसे मुश्किल से पढ़ सका। सिर घूम रहा था, बदन कांप रहा था, इतना मुझे याद है।

बड़े-बूढ़ों के आशीर्वाद प्राप्त कर मैं बंबई रवाना हुआ। बंबई की मेरी यह पहली यात्रा थी, इसलिए बड़े भाई साथ आये।

परन्तु अच्छे काम में सैकड़ों विघ्न आते हैं। बंबई का बंदर छूटना आसान न था।

(१२)

जाति-बहिष्कार

माताजी की आज्ञा और आशीर्वाद प्राप्त कर, कुछ महीने का बच्चा पत्नी के साथ छोड़कर, मैं उमंग और उत्कण्ठा के साथ बम्बई पहुँचा। पहुँच तो गया, पर वहां मित्रों ने भाई से कहा कि जून—जुलाई में हिन्द-महासागर में तूफ़ान रहता है। यह पहिली बार समुद्र यात्रा कर रहे हैं, इसलिए दिवाली बाद अर्थात् नवम्बर में इनको भेजना चाहिए। इतने ही में किसी ने तूफ़ान में किसी जहाज़ के डूब जाने की बात भी कह डाली। इससे बड़े भाई सचिन्त हो गये। उन्होंने मुझे ऐसी जोखिम उठा कर उसी समय भेजने से इन्कार कर दिया, और वहीं अपने एक मित्र के यहाँ छोड़कर खुद अपनी नौकरी पर राजकोट चले गये। अपने एक बहनोई के पास रुपये पैसे रख गये और कुछ मित्रों से मेरी मदद करने को भी कहते गये।

बम्बई में मेरे दिन मुश्किल से कटने लगे। मुझे दिन-रात विलायत के ही सपने आते।

इसी बीच हमारी जाति में खलबली मची। पंचायत इकट्ठी हुई। मोढ़ बनियों में अबतक कोई विलायत नहीं गया था और

उन लोगों का कहना था कि यदि मैं ऐसा साहस करता हूँ, तो मुझ से जवाब तलब होना चाहिए। मुझे जाति की पंचायत में हाजिर होने का हुक्म हुआ। मैं गया। ईश्वर जाने मुझे एकाएक यह हिम्मत कहाँ से आगई। वहाँ जाते हुए न संकोच हुआ, न डर। जाति के मुखिया के साथ दूर का कुछ रिश्ता भी था। पिताजी के साथ उनका अच्छा संबंध भी था। उन्होंने मुझ से कहा:—

"पंच का यह मत है कि तुम्हारा विलायत जाने का विचार ठीक नहीं है। अपने धर्म में समुद्र यात्रा मना है। फिर हमने सुना है कि विला त में धर्म का पालन नहीं हो सकता। वहाँ अंगरेजों के साथ खाना-पीना पड़ता है।"

मैंने उत्तर दिया 'मैं तो समझता हूँ, विलायत जाना किसी तरह अधर्म नहीं। मुझे तो वहाँ जाकर सिर्फ विद्याध्यन ही करना है। फिर जिन बातों का भय आपको है उससे दूर रहने की प्रतिज्ञा मैंने, माताजी के सामने, ले ली है और मैं उनसे दूर रह सकूँगा।'

'पर हम तुमसे कहते हैं कि वहाँ धर्म कायम नहीं रह सकता। तुम जानते हो कि तुम्हारे पिताजी के साथ मेरा कैसा सम्बन्ध था, तुम्हें मेरा कहना मान लेना चाहिए।' मुखिया बोले।

'जी, आपका सम्बन्ध मुझे मालूम है। आप मेरे लिए, पिता के समान हैं। परन्तु इस बात में मैं लाचार हूँ। विलायत जाने का निश्चय मैं नहीं पलट सकता। मेरे पिताजी के मित्र और सलाहकार, जो कि एक विद्वान् ब्राह्मण हैं, मानते हैं कि मेरे विलायत जाने में कोई बुराई नहीं। माताजी और भाईसाहब ने भी इजाजत दे दी है' मैंने उत्तर दिया।

'पर पंच का हुक्म तुम नहीं मानोगे' ?

'मैं लाचार हूँ। मैं समझता हूँ, पंच को इस मामले में न पड़ना चाहिए।'

इस जवाब से उस मुखिया को गुस्सा आ गया। मुझे दो-चार भली-बुरी सुनाई। मैं चुप बैठ रहा। उन्होंने हुक्म दिया—

'ये आज से जात बाहर समझे जावें, जो इनकी मदद करेगा अथवा पहुँचाने जायगा वह जाति का गुनहगार होगा और उससे सवा रुपया जुर्माना लिया जावेगा।'

इस प्रस्ताव का मेरे दिल पर कुछ असर न हुआ। मैंने मुखिया से विदा मांगी। अब मुझे यह सोचना था कि प्रस्ताव का असर भाई साहब पर क्या होगा। वे कहीं डगमगा तो नहीं जायँगे ? पर सौभाग्य से वे अटल रहे और मुझे उत्तर में लिखा कि जाति में इस प्रस्ताव के होते हुए भी मैं तुमको विलायत जाने से नहीं रोकूँगा।

इस घटना के बाद मैं अधिक चिन्तातुर हुआ। भाई साहब पर दबाव डाला गया तो ? अथवा कोई और विघ्न खड़ा होगया तो ? इस तरह चिंता में मैं दिन बिता रहा था कि इतने में खबर मिली कि ४ सितम्बर को छूटने वाले जहाज में जूनागढ़ के एक वकील—बैरिस्टर बनने के लिए विलायत जा रहे हैं। मैं भाई साहब के उन मित्रों से मिला जिनसे वे मेरे लिए कह गये थे। उन्होंने सलाह दी कि इस साथ को न छोड़ना चाहिए। समय बहुत थोड़ा था। भाई साहब से तार द्वारा इजाजत मांगी। उन्होंने दे दी। मैंने बहनोई साहब से रुपये मांगे। उन्होंने पंच की आज्ञा का जिकर किया। जाति बाहर रहना उन्हें मंजूर न हो सकता था।

तब हमारे कुटुम्ब के एक मित्र के पास मैं पहुँचा, और किराये वग़ैरा के लिए आवश्यक रक़म मुझे दें और फिर भाई साहब से वसूल कर लेने का अनुरोध मैंने किया। उन्होंने न केवल इस बात को स्वीकार ही किया, बल्कि मुझे और हिम्मत भी बँधाई। मैंने उनका अहसान मानकर रुपये लिये और टिकट ख़रीदा।

विलायत-यात्रा का सारा सामान तैयार कराना था। एक दूसरे अनुभवी मित्र ने साज-सामान तैयार करवाया। मुझे वह सब बड़ा विचित्र मालूम हुआ। कुछ बातें अच्छी लगीं, कुछ नहीं। नेकटाई तो बिलकुल अच्छी न लगी—हालाँ कि आगे जाकर मैं उसे बड़े शौक़ से पहनने लगा था। छोटा-सा जाकट नंगा पहनावा मालूम हुआ। परन्तु विलायत जाने की धुन में इस ना-पसन्दी के लिए जगह नहीं थी। साथ में खाने का सामान भी काफ़ी बाँध लिया था।

मेरे लिए स्थान भी मित्रों ने त्र्यम्बकराय मजमुदार (जूनागढ़ वाले वकील) की कैबिन में रिज़र्व कराया। उनसे मेरे लिए उन्होंने कह भी दिया। वे तो थे अधेड़, अनुभवी आदमी। मैं ठहरा अठारह बरस का नौजवान, दुनियाँ के अनुभवों से बेख़बर। मजमुदार ने मित्रों को मेरी तरफ़ से निश्चिन्त रहने का आश्वासन दिया।

इस तरह ४ सितम्बर, १८८८ ई० को मैंने बम्बई बंदर छोड़ा।

आख़िर विलायत में

जहाज़ में समुद्र से मुझे कुछ तकलीफ न हुई। पर ज्यों ज्यों दिन जाते, मैं असमञ्जस में पड़ता चला। के साथ बोलते हुए झेंपता। अंगरेज़ी में बातचीत करने की आदत न थी। मजमुदार को छोड़कर बाकी सब यात्री अंगरेज़ थे। उसके सामने बोलते न बनता था। वे मुझ से बोलने की चेष्टा करते तो उनकी बातें मेरी समझ में नहीं आतीं। और यदि समझ भी लेता तो यह औसान नहीं रहता कि जवाब क्या दूँ। हर वाक्य बोलने के पहले मन में जमाना पड़ता था। छुरी-कांटे से खाना न जानता था। और यह पूछने की भी जुरत न होती कि इसमें बिना माँस की चीज़ें क्या क्या हैं? इस कारण मैं भोजन की मेज़ पर तो कभी गया ही नहीं। कैबिन—कमरे—में ही खा लेता। अपने साथ मिठाइयाँ वगैरा ले रक्खी थीं—प्रधानतः उन्हीं पर गुज़र करता रहा। मजमुदार को तो किसी प्रकार का संकोच न था। वे सब के साथ हिल-मिल गये। डेक पर भी जहाँ जी चाहे घूमते-फिरते। मैं सारा दिन कैबिन में घुसा रहता। डेक पर जब लोगों की भीड़ कम देखता, तब कहीं जाकर वहाँ

बैठ जाता। मजमुदार मुझे समझाते कि सब के साथ मिला-जुला करो, आज़ादी से बातें किया करो। और कहते—वकील ज़बाँदराज़ होना चाहिए। वकील की हैसियत से अपना अनुभव भी सुनाते कहते—अंगरेज़ी हमारी मातृ-भाषा नहीं, इसलिए बोलने में भूलें होना स्वाभाविक है। फिर भी बोलने का रफ्त तो करना ही चाहिए' आदि। परन्तु मेरे लिए अपना दब्बूपन छोड़ना भारी पड़ता था।

मुझ पर तरस खाकर एक भले अंगरेज़ ने मुझ से बातचीत करना शुरू कर दिया। वे उम्र में मुझसे बड़े थे। मैं क्या खाता हूँ, कौन हूँ, कहाँ जा रहा हूँ, क्यों किसी के साथ बात-चीत नहीं करता, इत्यादि सवाल पूछते। मुझे खाने के लिए मेज़ पर जाने की प्ररणा करते। माँस न खाने के मेरे आग्रह की बात सुनकर एक रोज़ हंसे और मुझ पर दया प्रदर्शित करते हुए बोले—'यहाँ तो (पोर्ट सईद पहुँचने तक) सब ठीक-ठाक है; परन्तु बिस्के के उपसागर में पहुँचने पर तुम्हें अपने विचार बदलने पड़ेंगे। इंगलैण्ड में तो इतना जाड़ा पड़ता है कि माँस बिना काम चल ही नहीं सकता।'

मैंने कहा—"मैंने तो सुना है कि वहाँ लोग बिना माँसाहार किये रह सकते हैं।"

उन्होंने कहा—"यह झूठ है। मेरी जान-पहचान वालों में कोई आदमी ऐसा नहीं है,जो मांस न खाता हो। मैं शराब पीने के लिए तुम से नहीं कहता; पर मैं समझता हूँ, माँस तो तुम्हें अवश्य खाना चाहिए।"

मैंने कहा—"आपकी सलाह के लिए मैं आपका आभारी

हूँ। पर मैंने अपनी माताजी को अभिवचन दिया है कि मैं माँस न खाऊँगा। यदि उसके बिना न रह सकते हों तो मैं फिर हिन्दुस्तान को लौट जाऊँगा, पर माँस हरगिज न खाऊँगा।"

बिस्के का उपसागर आया। वहाँ भी मुझे न तो माँस की आवश्यकता मालूम हुई, न मदिरा की। घर पर मुझ से कहा गया था कि माँस न खाने के प्रमाणपत्र संग्रह करते रहना। सो मैंने इन अंगरेज़ मित्र से प्रमाणपत्र माँगा। उन्होंने खुशी से दे दिया। बहुत समय तक मैंने उसे धन की तरह सम्भाल रक्खा। पीछे जाकर मुझे पता चला कि प्रमाणपत्र तो माँस खाकर भी प्राप्त किये जा सकते हैं। तब उससे मेरा दिल हट गया। मैंने कहा—यदि मेरी बात पर किसी को विश्वास न हो,तो ऐसे मामलों में प्रमाणपत्र दिखाने से भी मुझे क्या लाभ हो सकता है?

किसी तरह दुःख-सुख उठा हमारी यात्रा पूरी हुई और साउदेम्पटन बन्दर पर हमारे जहाज़ ने लंगर डाला। मुझे याद पड़ता है, उस दिन शनिवार था। मैं जहाज़ पर काले कपड़े पहनता था। मित्रों ने मेरे लिए सफेद फलालेन के कोट-पतलून भी बना दिये थे। विलायत में उतरने के पहले मैंने उसे धारण किया—यह समझकर कि सफेद कपड़े ज्यादा अच्छे मालूम होते हैं। इस लिबास में मैं जहाज़ से उतरा। सितम्बर के अन्तिम दिन थे। ऐसे लिबास में मैंने सिर्फ अपने ही को वहां पाया। मेरे सन्दूक और उनकी तालियां ले गये थे ग्रिण्डले कम्पनी के गुमाश्ते लोग। जैसा और लोग करते हैं,ऐसा ही मुझे भी करना चाहिए यह समझकर मैंने तो अपनी तालियाँ भी उन्हें दे दी थीं—!

मेरे पास चार परिचय-पत्र थे—एक डाक्टर प्राणजीवन मेहता

के नाम, दूसरा दलपतराम शुक्ल के नाम, तीसरा प्रिन्स रणजीत सिंह जी के नाम, और चौथा दादाभाई नवरोजी के नाम। मैंने साउदेम्पटन से डाक्टर महेता को तार कर दिया था। जहाज़ में किसी ने सलाह दी थी कि विक्टोरिया होटल में ठहरना ठीक होगा। इसलिए मजमुदार और मैं वहाँ गये। मैं तो अपने सफेद कपड़ों की शर्म में ही बुरी तरह झेंप रहा था। फिर होटल में जा कर खबर पड़ी कि कल रविवार होने के कारण सोमवार तक ग्रिन्डले के यहाँ से सामान न आ पावेगा। इससे मैं बड़ी दुविधा में पड़ गया।

सात-आठ बजे डाक्टर मेहता आये। उन्होंने प्रेम-भाव से मेरा खूब मज़ाक उड़ाया। मैंने अनजान में उनकी रेशमी रूए वाली टोपी देखने के लिए उठाई और उसपर उलटी तरह हाथ फेरने लगा। टोपी के रोएँ उठ खड़े हुए। यह डाक्टर मेहता ने देखा। मुझे तुरन्त रोक दिया। पर कुसूर तो हो चुका था। उनकी रोक का फल इतना ही हो पाया कि मैं समझ गया, आगे फिर ऐसी हरकत न होनी चाहिए।

यहाँ से युरोपियन रस्म-रवाज का पहला पाठ पढ़ना मैंने शुरू किया। डाक्टर मेहता हँसते जाते और बहुतेरी बातें समझाते जाते। 'किसी की चीज को यहाँ छूना न चाहिए, हिंदुस्तान में परिचय होते ही जो बातें सहज पूछी जा सकती हैं, वे यहाँ न पूछनी चाहिए। बातें जोर जोर से न करनी चाहिए। हिंन्दुस्तान में साहबों के साथ बातें करते हुए 'सर' कहने का जो रिवाज है वह यहाँ अनावश्यक है। 'सर' तो नौकर अपने मालिक को, अथवा अपने अफसर को कहता है।' फिर उन्होंने यह भी कहा

कि होटल में तो खर्चा ज्यादा देना पड़ेगा इसलिए किसी कुटुम्ब के साथ रहना ठीक होगा।' इस सम्बन्ध में आगे विचार सोमवार तक मुल्तवी रहा। और भी कितनी ही बातें बता कर डाक्टर मेहता बिदा हुए।

होटल में तो हम दोनों को ऐसा मालूम हुआ मानों कहीं से आ घुसे हों। खर्च भी बहुत पड़ता था। माल्टा में एक सिंधी यात्री सवार हुए थे। मजमुदार की ठीक जान-पहचान उनके साथ हो गई थी। ये सिंधी यात्री लन्दन के जानकार थे। उन्होंने हमारे लिए दो कमरे ले लेने का जिम्मा अपनी तरफ लिया। हम दोनों रजामन्द हुए और सोमवार को ज्यों ही सामान मिला, होटल का बिल चुका कर उन कमरों में दाखिल हुए। मुझे याद है कि होटल का खर्चा लगभग ३ पौंड मेरे हिस्से में आया था। मैं तो भौंचक रह गया। तीन पौंड देकर भी भूखा ही रहा। वहां की कोई चीज अच्छी नहीं लगी। एक चीज उठाई, वह न भाई। तब दूसरी ली। पर दाम तो दोनों का देना पड़ता था। मैं अभी तक प्रायः बम्बई से लाये खाद्य-पदार्थों पर ही गुजरान करता रहा।

उस कमरे में तो मैं बड़ा दुखी हुआ। देश खूब याद आने लगा। माता का प्रेम साक्षात सामने दिखाई पड़ता। रात होते ही रुलाई शुरू होती। घर की तरह तरह की बातें याद आतीं। उस तूफान में नींद भला क्यों आने लगी? फिर उस दुःख की बात किसीसे कह भी तो नहीं सकता था। कहने से लाभ भी क्या था? मैं खुद न जानता था कि मुझे किस इलाज से साहस मिलेगा। लोग निराले, रहन-सहन निराली, और मकान भी निराले, घरों में रहने का तौर-तरीका भी निराला। फिर यह भी

अच्छी तरह नहीं मालूम कि किस बात के बोल देने से अथवा क्या करने से यहाँ के शिष्टाचार का अथवा नियम का भंग होता है इसके अलावा खान-पान का परहेज अलग; और जिन चीजों को मैं खा सकता था, वे लूखी-सूखी मालूम होती थीं। इस कारण मेरी हालत सांप-छछूंदर जैसी हो गई। विलायत में अच्छा नहीं लगता था और देश को भी वापस नहीं लौट सकता था। फिर, विलायत आ जाने के बाद तो तीन साल पूरा करके ही लौटने का निश्चय था।

(१४)

मेरी पसंदगी

डाक्टर मेहता सोमवार को विक्टोरिया होटल में मुझसे मिलने गये। वहाँ उन्हें हमारे नये मकान का पता लगा। वे वहाँ आये। मेरी बेवकूफी से जहाज में मुझे दाद हो गई थी। जहाज में खारे पानी से नहाना पड़ता। उसमें साबुन घुलता नहीं। इधर मैं साबुन से नहाने में सभ्यता समझता था। इसलिए शरीर साफ होने के बदले उलटा चिकना हो गया और मुझे दाद पैदा हो गई। डाक्टर ने तेजाब-सा एसिटिक-एसिड दिया जिसने मुझे खूब सताया। डाक्टर मेहता हमारे कमरे आदि को देख कर सिर धुनने लगे—'यह मकान काम का नहीं। इस देश में आकर महज़ पुस्तकें पढ़ने की अपेक्षा यहां का अनुभव प्राप्त करना ज्यादा जरूरी है। इसके लिए किसी कुटुम्ब में रहने की जरूरत है। पर फिलहाल कुछ बातें सीखने के लिए बतौर उम्मीदवार के—यहाँ रहना ठीक होगा। मैं तुमको उनके यहाँ ले चलूँगा।,

मैंने स-धन्यवाद उनकी बात मान ली। उन मित्र के यहाँ गया। उन्होंने मेरी खातिर-तवाजो में किसी बात की कसर न रक्खी। मुझे अपने भाई की तरह रक्खा, अंगरेजी रस्म-रिवाज सिखाये। अंगरेजी में कुछ बातचीत करने की टेव भी उन्होंने मुझे डाली।

मेरे भोजन का सवाल बड़ा विकट हो पड़ा। बिना नमक, मिर्च, मसाले के साग भाता नहीं था। मालकिन बेचारी मेरे

लिए पकाती भी क्या ? सुबह ओट-मील की एक किस्म की लपसी बनती उससे कुछ पेट भर जाता। पर दो पहर को और शाम को हमेशा भूखा रहता। मित्र मांसाहार करने के लिए रोज़ समझाते। मैं प्रतिज्ञा का नाम लेकर चुप हो रहता। उनकी दलीलों का मुकाबला न कर सकता था। दो पहर को सिर्फ रोटी और साग तथा मुरब्बे पर गुजर करता। यही खाना शाम को भी। मैं देखता था कि रोटी के तो दो ही तीन टुकड़े ले सकते हैं, ज्यादा मांगते हुए झेंप लगती। फिर मेरा आहार भी काफी था। जठराग्नि तेज़ थी, और काफी आहार चाहती थी। दो पहर को या शाम को दूध मुल्लक नहीं मिलता था। मेरी यह हालत देखकर वे मित्र एक दिन झल्लाये, और बोले—'देखो यदि तुम मेरे सगे भाई होते तो मैं जरूर तुमको लौटा देता। निरक्षर माँ को यहाँ की हालत जाने बग़ैर दिये गये वचन का क्या मूल्य ? इसे कौन प्रतिज्ञा कहेगा ? मैं तुमसे कहता हूँ कि कानून के अनुसार भी इसे प्रतिज्ञा नहीं कह सकते। ऐसी प्रतिज्ञा को लिये बैठे रहना अन्ध विश्वास के सिवा कुछ नहीं। और ऐसे अन्ध-विश्वासों का शिकार बने रह कर तुम इस देश से कोई बात अपने देश को नहीं ले जा सकते। तुम तो कहते हो कि मैंने मांस खाया है। तुम्हें तो वह भाया भी था। अब जहाँ खाने की कोई जरूरत न थी वहाँ तो खा लिया; और जहाँ खास तौर पर उसकी जरूरत है, वहाँ उसका त्याग ! कितने ताज्जुब की बात है !'

मैं टस से मस न हुआ।

ऐसी दलीलें रोज हुआ करतीं। छत्तीस रोगों की एक दवा 'नन्ना' ही मेरे पास थी। मित्र ज्यों ज्यों मुझे समझाते त्यों त्यों मेरी दृढ़ता

बढ़ती जाती। रोज मैं ईश्वर से अपनी रक्षा की याचना करता और रोज वह पूरी होती। मैं यह तो नहीं जानता था कि ईश्वर क्या चीज़ है, पर उस रंभा की दी हुई श्रद्धा अपना काम कर रही थी।

एक दिन मित्र ने मेरे सामने बेंथम की पुस्तक पढ़ना शुरू की। उपयोगिता-वाद का विषय पढ़ा। मैं चौंका। भाषा क्लिष्ट। मैं थोड़ा-बहुत-समझा। तब उन्होंने उसका विवेचन करके समझाया। मैंने उत्तर दिया 'मुझे इससे माफी दीजिए। मैं इतनी सूक्ष्म बातें नहीं समझ सकता। मैं मानता हूँ कि मांस खाना उचित है परन्तु प्रतिज्ञा के बंधन को मैं नहीं तोड़ सकता। इसके संबंध में मैं वादविवाद भी नहीं करना चाहता। मैं जानता हूँ कि बहस में मैं आपसे नहीं जीत सकता। पर मुझे मूर्ख समझ कर, अथवा जिद्दी ही समझ कर, इस बात में मेरा नाम छोड़ दीजिए। आपके प्रेम को मैं पहचानता हूँ। आपके हेतु को भी मैं समझता हूँ। आपको अपना परम हितैषी मानता हूँ। मैं यह भी देखता हूँ कि आप इसीलिए आग्रह करते हैं कि आपको मेरी हालत पर दुःख होता है। पर मैं लाचार हूँ। प्रतिज्ञा किसी तरह नहीं टूट सकती।

मित्र बेचारे देखते रह गये। उन्होंने पुस्तक बंद कर दी। 'बस अब मैं तुमसे इस बात पर बहस न करूंगा' कह कर चुप हो रहे। मैं खुश हुआ। इसके बाद उन्होंने बहस करना छोड़ दिया।

पर मेरी तरफ से उनकी चिंता दूर न हुई। वे सिगरेट पीते, शराब पीते। पर इनमें से एक भी बात के लिए मुझे कभी नहीं ललचाया। उलटे मना करते। पर उनकी सारी चिन्ता तो यह थी कि मांसाहार के बिना मैं कमज़ोर हो जाऊंगा और इङ्गलैंड में आज़ादी से न रह सकूँगा।

इस तरह एक मास तक मैंने नौसिखिया के रूप में उम्मीद-वारी की। उन मित्र का स्थान रिचमंड में था, इससे लंदन सप्ताह में एक-दो बार ही जाया जाता। अब डाक्टर मेहता तथा श्री दलपतराम शुक्ल ने यह विचार किया कि मुझे किसी कुटुम्ब में रखना चाहिए। श्री० शुक्ल ने वेस्ट केंसिंगटन में एक एँग्लो-इंडियन का घर खोजा, और वहाँ मेरा डेरा लगा। मालकिन विधवा बाई थी। उससे मैंने अपने माँस त्याग की बात कही। बुढ़िया ने मेरे लिए निरामिष भोजन का प्रबन्ध करना स्वीकार किया। मैं वहाँ रहा, पर वहाँ भी भूखे ही दिन बीतते। घर से मैंने मिठाइयाँ आदि मँगाई तो थीं। पर वे सब अभी पहुँच नहीं पाई थीं। बुढ़िया के यहाँ का खाना सब बे-स्वाद लगता। बुढ़िया बार-बार पूछती, पर बेचारी करती क्या? फिर मैं तो अभी तक ज्यों का त्यों झेंपू बना ही हुआ था। इससे ज्यादा माँगते हुए शर्माता। बुढ़िया के दो लड़कियाँ थीं। वे आग्रह करके कुछ रोटी ज्यादा परोस देतीं, पर वे बेचारी क्या जानती थीं कि मेरा पेट तो तभी भर सकता था, जब उनकी सारी रोटियाँ सफा कर जाता।

लेकिन अब मुझे पंख फूटने लग गये थे। अभी पढ़ाई तो शुरू हुई भी नहीं। यों ही अख़बार वग़ैरा पढ़ने लगा था। वह हुआ शुक्लजी के बदौलत। हिन्दुस्तान में मैंने कभी अख़बार नहीं पढ़ा था। परन्तु निरन्तर पढ़ने के अभ्यास से उन्हें पढ़ने का शौक़ लग गया। 'डेलीन्यूज़', 'डेली टेलीग्राफ' और 'पेल मेल गैज़ट' इतने अख़बारों पर नज़र डाल लिया करता था। परन्तु शुरू शुरू में इसमें एक घण्टे से ज्यादा न लगता था।

मैंने घूमना शुरू कर दिया। मुझे निरामिष अर्थात् अन्न

भोजन वाले भोजन-गृह की तलाश थी। मकान-मालकिन ने भी कहा था कि लन्दन शहर में ऐसे गृह हैं अवश्य। मैं १०—१२ मील रोज घूमता। किसी मामूली भोजनालय में जाकर रोटी तो पेट भर खा लेता; पर दिल न भरता। इस तरह भटकते हुए एक दिन मैं फेरिंग्टन स्ट्रीट पहुँचा, और 'वेजिटेरियन रेस्टरां' (अन्न-भोजनालय) नाम पढ़ा। बच्चे को मनचाही चीज मिलने से जो आनन्द होता है, वही मुझे हुआ। हर्षोन्मत्त होकर मैं अंदर पहुँचा ही नहीं कि दरवाजे के पास, काँच की खिड़की में पुस्तकें बिकती हुई देखीं। उनमें मैंने साल्ट की 'अन्नाहार की हिमायत' नामक पुस्तक देखी। एक शिलिंग देकर खरीदी, और फिर भोजन करने बैठा। विलायत में आने के बाद यही पहला दिन था, जब मैंने पेट भर खाना खाया। उस दिन ईश्वर ने मेरी भूख बुझाई।

साल्ट की पुस्तक पढ़ी। मेरे दिल पर उसकी अच्छी छाप पड़ी। यह पुस्तक पढ़ने के दिन से मैं अपनी इच्छा से, अर्थात् सोच समझ कर अन्नाहार का कायल हुआ। माताजी के सामने की हुई प्रतिज्ञा अब मुझे आनन्ददायक जान पड़ी। अबतक तो मैं यह मान रहा था कि सब लोग मांसाहारी हो जायँ तो अच्छा और पहले केवल सत्य की रक्षा के लिए और पीछे से प्रतिज्ञा-पालन के लिए मांसाहार से परहेज करता रहा, और भविष्य में किसी दिन आजादी से खुले आम मांस खाकर दूसरों को मांस-भोजियों की टोली में शामिल करने का हौसला रखता था, सो अब से, उसके बजाय, खुद अन्नाहारी रहकर औरों को भी ऐसा बनाने की धुन मेरे सिर पर सवार हुई।

(१५)

अन्नाहार प्रवेश में

अन्नाहार पर मेरी श्रद्धा दिन-दिन बढ़ती गई। साल्ट की पुस्तक ने आहार-विषय पर अधिक पुस्तकें पढ़ने की उत्सुकता तीव्र कर दी। ऐसी जितनी पुस्तकें मुझे मिलीं उतनी खरीदी और पढ़ीं। हावर्ड विलियम्स की 'आहार-नीति' नामक पुस्तक में भिन्न-भिन्न युग के ज्ञानियों, अवतारों, पैगम्बरों के आहार का और उससे सम्बन्ध रखने वाले उनके विचारों का वर्णन किया गया है। पाइथागोरस, ईसा-मसीह इत्यादि को उसने सहज अन्नाहारी साबित करने की कोशिश की है। डाक्टर मिसेज एना किंग्सफर्ड की 'उत्तम आहार की रीति' नामक पुस्तक भी चित्ताकर्षक थी। फिर आरोग्य-सम्बन्धी डा० एलिसन के लेख भी ठीक मददगार साबित हुए। उनमें इस पद्धति का समर्थन किया गया था कि दवा देने के बजाय केवल भोजन में फेरफार करने से रोगी कैसे अच्छे हो जाते हैं। डाक्टर एलिसन खुद अन्नाहारी थे। और रोगियों को केवल अन्नाहार ही बताते। इन तमाम पुस्तकों के पठन का यह परिणाम हुआ कि मेरी जिंदगी में भोजन के प्रयोगों ने महत्व का स्थान प्राप्त कर लिया। शुरू

में, इन प्रयोगों में, आरोग्य की दृष्टि की प्रधानता थी। पीछे चल कर धार्मिक दृष्टि सर्वोपरि हो गई।

अब तक मेरे उन मित्र की चिन्ता मेरी तरफ से दूर न हुई थी। प्रेम के वशवर्ती होकर वे यह मान बैठे थे कि यदि मैं मांसाहार न करूँगा तो कमजोर हो जाऊँगा, यही नहीं बल्कि बुद्धू बना रह जाऊँगा; क्योंकि अंगरेज़ समाज में मैं मिल-जुल न सकूँगा। उन्हें मेरे अन्नाहार-सम्बन्धी पुस्तकों में पढ़ने की खबर थी। उन्हें यह भय हुआ कि ऐसी पुस्तकों के पढ़ने से मेरा दिमाग़ खराब हो जायगा, प्रयोगों में मेरी जिन्दगी यों ही बरबाद हो जायगी, जो मुझे करना है वह एक तरफ रह जायगा और मैं सनकी बन कर बैठ जाऊँगा। इस कारण उन्होंने मुझे सुधारने का आखिरी प्रयत्न किया। मुझे एक नाटक में चलने को बुलाया। वहां जाने के पहले उनके साथ हावर्न भोजनालय में भोजन करना था। वह भोजनालय क्या, मेरे लिए खासा एक महल था। विक्टोरिया होटल को छोड़ने के बाद ऐसे भोजनालय में जाने का यह पहला अनुभव था। विक्टोरिया होटल का अनुभव तो यों ही था; क्योंकि उस समय तो मैं कर्तव्य-मूढ़ था। अस्तु, सैकड़ों लोगों के बीच हम दो मित्रों ने एक मेज़ पर आसन जमाया। मित्र ने पहला खाना मंगाया। वह 'सूप' या शोरबा होता है। मैं दुविधा में पड़ा। मित्र से क्या पूछता? मैंने परोसने वाले को नज़दीक बुलाया।

मित्र समझ गये। चिढ़कर बोले—

'क्या मामला है?'

मैंने धीमे से संकोच के साथ कहा—

'मैं जानना चाहता हूँ कि इसमें मांस है या नहीं?'

'ऐसा जंगलीपन इस भोजनालय में नहीं चल सकता। यदि तुमको अब भी चख-चख करना हो तो बाहर जाकर किसी ऐरे-गैरे भोजनालय में जाकर खालो और वहीं बाहर मेरी राह देखो।

मुझे इस प्रस्ताव से बड़ी खुशी हुई; और मैं तुरन्त दूसरे भोजनालय की खोज में चला। पास ही एक अन्नाहार वाला भोजनालय था तो; पर वह बंद हो गया था। तब क्या करना चाहिए? कुछ न सूझ पड़ा, अन्त को भूखा ही रहा। हम लोग नाटक देखने गये। पर मित्र ने उस घटना के बारे में एक शब्द तक न कहा। मुझे तो कुछ कहना ही क्या था?

परन्तु हमारे दरमियान यह आखिरी मित्र-युद्ध था। इससे हमारा संबंध न तो टूटा, न उसमें कटुता ही आ पाई। मैं उनके तमाम प्रयत्नों के मूल में उनके प्रेम को देख रहा था, इससे विचार और आचार की भिन्नता रहते हुए भी मेरा आदर उनके प्रति बढ़ा ही, घटा रत्तीभर नहीं।

पर अब मेरे मन में यह आया कि मुझे उनकी भीति दूर कर देनी चाहिए। मैंने निश्चय किया कि मैं अपने को जंगली न कहलाने दूंगा, सभ्यों के लक्षण प्राप्त करूँगा और दूसरे उपायों से समाज में सम्मिलित होने के योग्य बन कर अपनी अन्नाहार की विचित्रता को ढाँक लूँगा।

मैंने 'सभ्यता' सीखने का रास्ता अखतियार तो किया, पर वह था मेरी पहुँच के परे और बहुत सँकड़ा। अस्तु।

मेरे कपड़े थे तो विलायती; परन्तु बंबई के काट के थे। अतएव वे अच्छे अंगरेज समाज में न फबेंगे इस विचार से 'आर्मी और नेवी' स्टोर में दूसरे कपड़े बनवाये। उन्नीस शिलिंग की (यह दाम उस ज़माने में बहुत था) 'चीमकी टोपी लाया। इससे भी

शिक्षक को भेज दिया। उससे मैंने दो या तीन पाठ पढ़े थे। नाच शिक्षिका को भी ऐसा ही पत्र लिख दिया। वायोलिन-शिक्षिका के यहाँ वायोलिन लेकर पहुँचा और उसे कह आया कि जो दाम मिलें लेकर बेंच दो। उससे कुछ मित्रता-सी हो गई थी। इसलिए उससे मैंने अपनी इस बेवकूफी का जिक्र भी कर दिया। नाच इत्यादि के जंजाल से छूट जाने की बात उसे भी पसन्द हुई। खैर।

सभ्य बनने की मेरी यह सनक तो कोई तीन महीने चली होगी। किन्तु कपड़ों की तड़क-भड़क बरसों तक चलती रही। पर अब मैं विद्यार्थी बन गया था।

(१६)

परिवर्तन

कोई यह न समझे कि नाच आदि के मेरे प्रयोग मेरी उच्छृंखलता के युग को सूचित करते हैं। पाठकों ने देखा ही होगा कि उसमें कुछ विचार का अंश था। परन्तु इस मूर्छा के समय में भी कुछ अंश तक मैं सावधान था। एक-एक पाई का हिसाब रखता। ख़र्च का अन्दाज़ा था। यह निश्चय कर लिया था कि १५ पौण्ड प्रति मास से अधिक ख़र्च न हो। मोटर (Buss) किराया और डाक ख़र्च भी हमेशा लिखता और सोने के पहले हमेशा हिसाब का मेल मिला लेता। यह टेव अन्त तक कायम रही; और मैंने देखा है कि उसके बदौलत सार्वजनिक कार्यों में मेरे हाथ से जो लाखों रुपये ख़र्च हुए, उनमें मैं किफ़ायत से काम ले सका हूँ, और जितनी हलचलें मेरी देख-रेख में चली हैं, उनमें मुझे क़र्ज नहीं करना पड़ा। उलटा हरेक में कुछ-न-कुछ बचत ही रही है। यदि हरेक नवयुवक अपने थोड़े रुपयों का भी हिसाब चिंता के साथ रक्खेगा, तो उसका लाभ उसे अवश्य मिलेगा, जैसा कि मेरी इस आदत के कारण आगे चल कर मुझे और समाज दोनों को मिला। अपनी रहन-सहन पर मेरी कड़ी नज़र थी। इसलिए मैं देख सकता था कि मुझे कितना ख़र्च करना

चाहिए। अब मैंने खर्च आधा कर डालने का विचार किया। हिसाब को ग़ौर से देखा तो मालूम हुआ कि गाड़ी-भाड़े का ख़र्च क़ाफी बैठता था। फिर एक कुटुम्ब के साथ रहने के कारण कुछ न कुछ ख़र्च प्रति सप्ताह लग ही जाता। कुटुम्ब के लोगों को एक न एक दिन भोजन के लिए बाहर ले जाने के शिष्टाचार का पालन करना ज़रूरी था। फिर उनके साथ कई बार दावतों में जाना पड़ता और उसमें गाड़ी-भाड़ा लगता ही। मालिकन की लड़की यदि साथ हो, तो उसको अपना ख़र्च न देने देकर खुद ही देना उचित था। और दावत में बाहर जाने पर घर का खाना यों ही रक्खा रहता। उसके भी पैसे देने पड़ते और बाहर भी ख़र्च करना पड़ता। मैंने देखा कि यह ख़र्च बचाया जा सकता है, और यह भी ध्यान में आया कि लोक-लाज से जो कितना ही ख़र्च करना पड़ता है वह भी बच सकता है।

अब कुटुम्ब के साथ रहना छोड़कर अलग कमरा लेकर रहने का निश्चय किया, और यह भी तय किया कि काम के अनुसार तथा अनुभव प्राप्त करने के लिए अलग-अलग मुहल्लों में घर लेने चाहिएँ। घर ऐसी जगह पसन्द किया कि जहां से काम के स्थान पर पदल जा सकें और गाड़ी-भाड़ा बच जाय। इससे पहले जाने के लिए एक तो गाड़ी-भाड़ा खर्चना पड़ता और दूसरे घूमने जाने के लिए अलग वक्त निकालना पड़ता। अब ऐसी तजवीज़ हो गई कि जिससे काम पर जाने के साथ ही घूमना भी हो जाया करता। आठ दस मील तो मैं सहज घूम-फिर डालता। प्रधानतः इसी एक आदत के कारण मैं विलायत में शायद ही बीमार पड़ा हूँ। शरीर ठीक-ठीक सुगठित हुआ। कुटुम्ब के साथ रहना छोड़ कर

दो कमरे किराये पर लिये, एक सोने के लिए और एक बैठने के लिए। इस परिवर्त्तन को दूसरा युग कह सकते हैं। तीसरा परिवर्त्तन अभी आगे आने वाला है।

इस तरह आधा खर्च बचा। पर समय ? मैं जानता था कि बैरिस्टरी की परीक्षा के लिए बहुत पढ़ने की जरूरत नहीं है। इसलिए मैं बेफ़िकर था। मेरी कच्ची अंगरेज़ी मुझे खला करती थी। लेली साहब के शब्द 'बी० ए० होकर मेरे पास आना' मुझे चुभा करते थे। इसलिए मैंने सोचा, बैरिस्टर होने के अतिरिक्त मुझे कुछ और अध्ययन भी करना चाहिए। आक्सफर्ड, केम्ब्रिज में पता लगाया। कितने ही मित्रों से मिला। देखा, कि वहाँ जाने से खर्च बहुत पड़ेगा और पाठ्य-क्रम भी लम्बा है। मैं तीन वर्ष से ज्यादा वहाँ रह नहीं सकता था। किसी मित्र ने कहा 'यदि तुम कोई कठिन परीक्षा ही देना चाहते हो, तो लन्दन की प्रवेश परीक्षा पास कर लो। उसमें परिश्रम काफ़ी करना पड़ेगा और सामान्य ज्ञान भी बढ़ जायगा। साथ ही खर्च बिलकुल नहीं बढ़ेगा'। यह बात मुझे पसन्द हुई। पर परीक्षा के विषय देख कर मेरे कान खड़े हुए। लैटिन और एक दूसरी भाषा अनिवार्य थी। अब लैटिन की तैयारी कैसे हो ? एक मित्र ने सुझाया—'वकील को लैटिन का बड़ा काम पड़ता है। लैटिन जानने वाले को क़ानून की पुस्तकें समझने में सहूलियत होती है। फिर रोमन लॉ की परीक्षा में एक प्रश्न-पत्र तो केवल लैटिन भाषा का ही होता है, और लैटिन जान लेने से अंगरेजी भाषा पर ज्यादा अधिकार हो जाता है'। इन बातों का असर मेरे दिल पर हुआ। मैंने निश्चय किया। एक खानगी मैट्रिक्यूलेशन क्लास खुला था, उसमें भर्ती

हुआ। परीक्षा हर छः महीने होती। मुझे मुश्किल से पांच महीने का समय था। यह काम मेरे बूते के बाहर था। किन्तु परिणाम यह हुआ कि सभ्य बनने की धुन से मैं अत्यन्त उद्यमी विद्यार्थी बन गया। टाइम-टेबिल बनाया। एक एक मिनट बचाया। परन्तु मेरी बुद्धि और स्मरण-शक्ति ऐसी न थी कि दूसरे विषयों के उपरान्त लैटिन और फ्रैंच को भी संभाल सकता। परीक्षा दी, पर लैटिन में फेल हुआ। इससे दुःख तो हुआ, पर हिम्मत न हारा। इधर लैटिन का स्वाद लग गया था। सोचा कि फ्रैंच ज्यादा अच्छी हो जायगी और विज्ञान में नया विषय लेलूँगा। रसायन शास्त्र, जिसमें मैं अब देखता हूँ कि खूब मन लगना चाहिए, प्रयोगों के अभाव में मुझे अच्छा ही न लगा। देश में यह विषय मेरे पाठ्य-क्रम में रहा ही था। इसलिए लन्दन-मैट्रिक के लिए भी पहली बार इसी को पसन्द किया। इस बार 'प्रकाश और उष्णता' को लिया। यह विषय आसान समझा जाता था और मुझे भी आसान ही मालूम हुआ।

फिर परीक्षा देने की तैयारी के साथ ही रहन-सहन में और भी सादगी दाखिल करने की कोशिशें कीं। मुझे लगा कि अभी मेरे जीवन में इतनी सादगी नहीं आ गई है जो मेरे खानदान की ग़रीबी को शोभा दे। भाई साहब की तंगदस्ती और उदारता का ख्याल आते ही मुझे बड़ा दुःख होता। जो १५ पौंड और ७ पौंड प्रतिमास खर्चते थे उन्हें तो छात्र-वृत्तियाँ मिलती थीं। मुझ से अधिक सादगी से रहने वालों को भी मैं देखता था। ऐसे ग़रीब विद्यार्थी काफी तादाद में मेरे संपर्क में आते थे। एक विद्यार्थी लन्दन के ग़रीब मुहल्ले में प्रति सप्ताह दो शिलिंग दे कर

एक कोठरी में रहता था, और लोकार्ट की सस्ती कोको की दुकान में दो पेनी का कोको और रोटी खा कर गुजारा करता था। उस की प्रति-स्पर्धा करने की तो मेर हिम्मत न चली; पर इतना जरूर समझा कि मैं दो की जगह एक ही कमरे से काम चला सकता हूँ और आधी रसोई हाथ से भी पका सकता हूँ। ऐसा करने से मैं ४ या ५ पौण्ड मासिक पर रह सकता था। सादी रहन-सहन-सम्बन्धी पुस्तकें भी पढ़ी थीं। दो कमरे छोड़ कर आठ शिलिंग प्रति सप्ताह का एक कमरा किराये लिया। एक स्टो खरीदा, और सुबह हाथ से पकाने लगा। बीस मिनिट से अधिक पकाने में नहीं लगता था। ओट--मील की लपसी और कोको के लिए पानी उबालने में कितना समय जा सकता था? दोपहर को बाहर कहीं खा लिया करता। इस तरह मैं रोज एक से सवा शिलिंग में भोजन करने लगा। यह मेरा समय अधिक से अधिक पढ़ाई का था। जीवन सादा हो जाने से समय ज्यादा बचने लगा। दुबारा परीक्षा दी और उत्तीर्ण हुआ।

पाठक यह न समझें कि सादगी से जीवन नीरस हो गया हो। उलटा इन परिवर्तनों से मेरी आंतरिक और बाह्य स्थिति में एकता पैदा हुई। कौटुम्बिक स्थिति के साथ मेरी रहन-सहन का मेल मिला। जीवन अधिक सत्यमय बना। मेरे आत्मानन्द का पार न रहा।

(१७)

भोजन के प्रयोग

जैसे जैसे मैं जीवन के विषय में गहरा विचार करता गया तैसे तैसे बाहरी और भीतरी आचार में परिवर्तन करने की आवश्यकता मालूम होती गई। जिस गति से रहन-सहन में अथवा खर्च-वच में परिवर्तन हुआ, उसी गति से अथवा उससे भी अधिक वेग से भोजन में परिवर्तन आरंभ हुआ। अन्नाहार-विषयक अंगरेजी पुस्तकों में मैंने देखा कि लेखकों ने बड़ी छान-बीन के साथ विचार किया है। अन्नाहार पर उन्होंने धार्मिक वैज्ञानिक, व्यावहारिक और वैद्यक की दृष्टि से विचार किया था। नैतिक दृष्टि से उन्होंने यह दिखाया कि मनुष्य को जो सत्ता पशु-पक्षी पर प्राप्त हुई है वह उनको मार खाने के लिए नहीं, बल्कि उनकी रक्षा के लिए है; अथवा जिस प्रकार मनुष्य एक दूसरे का उपयोग करता है परन्तु एक दूसरे को खाता नहीं, उसी प्रकार पशु पक्षी भी उपयोग के लिए हैं, खा डालने के लिए नहीं। फिर उन्होंने यह भी दिखाया कि खाना भी भोग के लिए नहीं, बल्कि जीने के लिए ही है। इस पर से कुछ लोगों ने भोजन में मांस तो ठीक, परन्तु अण्डे और दूध तक को निषिद्ध बताया। विज्ञान की तथा मनुष्य की शरीर-रचना की दृष्टि से कुछ लोगों ने यह अनुमान निकाला कि मनुष्य को खाना पकाने की बिलकुल आवश्यकता

नहीं। उसकी सृष्टि तो सिर्फ पेड़ पर पके फलों को ही खाने के लिए हुई है। दूध वह सिर्फ माता का ही पी सकता है। दांत निकलने के बाद उसे ऐसा ही खाना खाना चाहिए जो चबाया जा सके। वैद्यक की दृष्टि से उन्होंने मिर्च मसाले को त्याज्य ठहराया। और व्यावहारिक तथा आर्थिक दृष्टि से बताया कि सस्ते-से-सस्ता भोजन अन्न ही है। इन चारों दृष्टि-बिन्दुओं का असर मुझ पर हुआ और अन्नाहार वाले भोजनालयों में चारों दृष्टि-बिन्दु रखने वाले लोगों से मुलाकात बढ़ाने लगा। विलायत में ऐसे विचार रखने वालों की एक संख्या थी। उसकी ओर से एक साप्ताहिक पत्र भी निकलता था। मैं उसका ग्राहक बना और संस्था का भी सभासद हुआ। थोड़े ही समय में मैं उसकी कमिटी में ले लिया गया। यहाँ मेरा उन लोगों से परिचय हुआ जो अन्नाहारियों के स्तम्भ माने जाते हैं। अब मैं अपने भोजन संबंधी प्रयोग में उलझता गया।

घर से जो मिठाई, मसाले आदि मंगाये थे उन्हें मना कर दिया, और अब मन दूसरी ही तरफ दौड़ने लगा। इससे मिर्च मसाले का शौक मंद पड़ता गया और जो साग रिचमंड में मसाले बिना फीका मालूम होता था, वह अब केवल उबाला हुआ होने पर भी स्वादिष्ट लगने लगा। ऐसे अनेक अनुभवों से मैंने जाना कि स्वाद का सच्चा स्थान जीभ नहीं, बल्कि मन है।

आर्थिक दृष्टि तो मेरे सामने थी ही। उस समय एक ऐसा दल भी था जो चाय-काफी को हानिकारक मानता और कोको का समर्थन करता। केवल शरीर-व्यापार के लिए किसी चीज का खाना-पीना आवश्यक है, यह मैं समझ चुका था। इसीलिए

चाय-काफी मुख्यतः छोड़दी और कोको को उनका स्थान दिया।

भोजनालय में दो विभाग थे। एक में जितनी चीज खाते उतने ही के दाम देने पड़ते। इसमें एक बार में एक-दो शिलिंग भी ख़र्च हो जाते। इसमें अच्छी स्थिति के लोग आते। दूसरे विभाग में छः पेनी में तीन चीज़ें और रोटी का एक अंश मिलता। जब मैंने खूब किफायतशारी अख्तियार की तब ज्यादातर मैं छः पेनी वाले विभाग में भोजन करता।

इन प्रयोगों मे उप-प्रयोग तो बहुतेरे हो गये। कभी स्टार्च वाली चीजें छोड़ देता, कभी सिर्फ रोटी और फल पर ही रहता, कभी पनीर, दूध और अंडे ही लेता।

यह आख़िरी प्रयोग लिखने लायक है। यह पंद्रह दिन भी न चला। जो बिना स्टार्च की चीज़ें खाने का समर्थन करते थे, उन्होंने अंडों की तारीफ़ के खूब पुल बांधे थे और यह साबित किया था कि अंडे मांस नहीं हैं। हाँ, इतनी बात तो थी कि जीवित अंडे खाने से किसी प्राणी को कष्ट नहीं होता था। सो इस दलील के चक्कर में आकर अपनी प्रतिज्ञा के रहते हुए भी मैंने अंडे खाये। पर मेरी यह मूर्छा थोड़ी ही देर ठहरी। प्रतिज्ञा का नया अर्थ करने का मुझे अधिकार न था। अर्थ तो वही ठीक है जो प्रतिज्ञा दिलाने वाला करे। मैं जानता था कि जिस समय माँ ने मांस न खाने की प्रतिज्ञा दिलाई थी, उस समय उसे यह ख्याल नहीं हो सकता था कि अंडा मांस से अलग समझा जा सकेगा। इसलिए ज्यों ही प्रतिज्ञा का यह रहस्य मेरे ख्याल में आया मैंने अंडे छोड़ दिये और वह प्रयोग भी बंद कर दिया।

यह रहस्य सूक्ष्म और ध्यान में रखने योग्य है। विलायत

में मैंने मांस की तीन व्याख्यायें पढ़ी थीं। एक में मांस का अर्थ था पशु-पक्षी का मांस। इसलिए इस व्याख्या के कायल लोग उसको तो न छूते; परन्तु मछली खाते और अंडे खाने में तो कोई बुराई ही न समझते थे। दूसरी व्याख्या के अनुसार जिसे आम तौर पर हर प्राणी या जीव कहते के उसका मांस वर्जित था। इस के अनुसार मछली त्याज्य थी, परन्तु अंडे ग्राह्य थे। तीसरी व्याख्या में आम तौर पर प्राणि मात्र और उनमें से बनने वाली चीजें निषिद्ध मानी गई थीं। इस व्याख्या के अनुसार अंडे और दूध छोड़ देना लाजिमी था। इसमें यदि पहली व्याख्या को मैं मानता तो मैं मछली भी खा सकता था। परन्तु मैंने अच्छी तरह समझ लिया था, कि मेरे लिए तो माताजी की व्याख्या ही ठीक थी। इसलिए अंडे छोड़ दिए, पर इससे कठिनाई में पड़ गया, क्योंकि बारीकी से जब मैंने खोज की तो पता लगा कि अन्नाहार वाले भोजनालयों में भी बहुत सी चीजें ऐसी बना करती थीं जिन में अंडे पड़ा करते थे। फलतः वहाँ भी परोसने वाले से पूछ-ताछ करना मेरे नसीब में बदा रहा, जब तक कि मैं खूब वाकिफ नहीं हो गया था। क्योंकि बहुतेरे पुडिंग और केक में अंडे जरूर ही रहते हैं। इस कारण एक तरह से तो मैं जंजाल से छूट गया; क्योंकि फिर तो मैं बिलकुल सादी और मामूली चीजें ही ले सकता था। हाँ, दूसरी तरफ दिल को कुछ धक्का अलबत्ते लगा; क्योंकि ऐसी कितनी ही वस्तुयें छोड़नी पड़ीं, जिनका स्वाद जीभ को लग गया था, पर यह धक्का क्षणिक था। प्रतिज्ञा-पालन का स्वच्छ, सूक्ष्म और स्थायी स्वाद मुझे उस क्षणिक स्वाद से अधिक प्रिय मालूम हुआ।

परन्तु सच्ची परीक्षा तो अभी आगे आने वाली थी उसका सम्बन्ध था दूसरे व्रत से। परन्तु—

'जाको राखे साइयां मार न सक्के कोय।'

. इस प्रकरण को पूरा करने के पहले प्रतिज्ञा के अर्थ के सम्बन्ध में कुछ कहना जरूरी है। मेरी प्रतिज्ञा माता से किया हुआ एक इकरार था। दुनिया में बहुतेरे झगड़े इकरारों के अर्थ की खींचातानी से पैदा होते हैं। आप चाहें कितनी ही स्पष्ट भाषा में इकरार नामा लिखिए; फिर भी अर्थ-शास्त्री उसे तोड़ मरोड़कर अपने मतलब का अर्थ निकाल ही लेंगे। इसमें सभ्यासभ्य का भेद नहीं रहता। स्वार्थ सब को अन्धा बना डालता है। राजा से लेकर रंक तक इकरारों के अर्थ अपने मन के मुआफिक लगाकर दुनिया को, अपने को और ईश्वर को धोखा देते हैं। इस प्रकार जिस शब्द अथवा वाक्य का अर्थ लोग अपने मतलब का लगाते हैं उसे न्याय-शास्त्र दुमानी मध्यम पद कहता है। ऐसी दशा में स्वर्ण न्याय तो यह है कि प्रतिपक्षी ने हमारी बात का जो अर्थ समझा हो वही ठीक समझना चाहिए। हमारे मन में जो अर्थ रहा हो वह झूठा और अधूरा समझना चाहिए। और ऐसा दूसरा स्वर्ण न्याय यह है कि जहाँ दो अर्थ निकलते हों वहाँ वह अर्थ ठीक मानना चाहिए, जिसे कमजोर पक्ष ठीक समझता हो। इन दो स्वर्ण-मार्गों पर न चलने के कारण ही बहुत कुछ झगड़े होते हैं और अधर्म हुआ करता है। और इस अन्याय की जड़ है असत्य। जो सत्य के ही रास्ते चलना चाहता है, उसे स्वर्ण-मार्ग सहज ही प्राप्त हो जाता है। शास्त्रों की पोथियां नहीं उलटनी पड़तीं माता ने मांस शब्द का जो अर्थ माना था और जो, मैं उस समय

समझा था वही मेरे लिए सच्चा अर्थ था। और जो अर्थ मैंने अपनी विद्वत्ता के मद में किया अथवा यह मान लिया कि अधिक अनुभव से सीखा वह सच्चा न था।

अब तक मेरे प्रयोग आर्थिक और आरोग्य की दृष्टि से होते थे। विलायत में उन्हें धार्मिक स्वरूप प्राप्त नहीं हुआ था। धार्मिक दृष्टि से तो मेरे कठोर प्रयोग दक्षिण आफ्रिका में हुए, जिनका जिकर आगे आवेगा। पर हाँ, यह जरूर कह सकते हैं कि उनका बीजारोपण विलायत में हुआ।

मसल मशहूर है कि 'नया मुसलमान जोर से बांग देता है।' अन्नाहार विलायत में एक नया धर्म ही था, और मेरे लिए वह नया था ही। समझ-बूझकर अन्नाहार तो मैंने विलायत में ही स्वीकार किया था। इसलिए मेरी हालत 'नये मुसलमान' की सी थी। नवीन धर्म को ग्रहण करने वाले का उत्साह मुझमें आ गया था, अतएव जिस मुहल्ले में मैं रहता था, वहाँ अन्नाहारी मण्डल स्थापित करने का प्रस्ताव मैंने किया। मुहल्ले का नाम था 'बेज वाटर'। उसमें सर ऐडविन एर्नाल्ड रहते थे। उन्हें उपाध्यक्ष बनाने का यत्न किया और वे हो भी गये। डाक्टर ओल्डफिल्ड अध्यक्ष बनाये गये, और मन्त्री बना मैं। थोड़े समय तो यह संस्था कुछ चली; परन्तु कुछ महीनों के बाद उसका अन्त आ गया। क्योंकि अपने दस्तूर के मुताबिक उस मुहल्ले को कुछ समय के बाद मैंने छोड़ दिया। परन्तु, इस छोटे और थोड़े समय के अनुभव से मुझे संस्थाओं की रचना और सञ्चालन का कुछ अनुभव प्राप्त हुआ।

(१८)

झेंप—मेरी ढाल

अन्नाहारी-मण्डल की कार्य-समिति में चुना गया तो जरूर, उसमें हाजिर भी जरूर होता; परन्तु बोलने को मुँह ही न खुलता था। डाक्टर ओल्डफील्ड कहते—'तुम मेरे साथ तो अच्छी तरह बातें करते हो; परन्तु समिति की बैठक में कभी मुँह नहीं खोलते। तुम्हें 'नर-मक्खी' क्यों न कहना चाहिए ? मैं इस विनोद का भाव समझा। मक्खियाँ तो निरन्तर काम करती रहती हैं; परन्तु नर-मक्खी कुछ काम नहीं करता—हाँ, खाता-पीता अलबत्ते रहता है। समिति में और लोग तो अपने-अपने मत प्रदर्शित करते; पर मैं मुँह सीकर चुप-चाप बैठा रहूँ—यह भौंडा मालूम होता था। यह बात नहीं, कि बोलने के लिए मेरा दिल न होता हो। पर समझ ही नहीं पड़ता कि बोलूं कैसे ? सभी सभ्य मुझे अपने से अधिक जानने वाले दिखाई देते। फिर ऐसा भी होता कि कोई विषय मुझे बोलने योग्य मालूम हुआ और मैं बोलने की हिम्मत करने लगता कि इतने ही में दूसरा विषय चल निकलता। बहुत दिनों तक ऐसा चलता रहा। एक बार समिति में एक

गम्भीर विषय निकला। उसमें योग न देना अनुचित या अन्याय था। चुपचाप मत देकर खामोश हो रहना दब्बूपन था। मण्डल के अध्यक्ष 'टेम्स आयर्न वर्क्स' के मालिक मिस्टर हिल्स थे। वे कट्टर नीति-वादी थे। प्रायः उन्हीं के द्रव्य पर मण्डल चल रहा था। समिति के बहुतेरे लोग उन्हीं की छत्रछाया में निभ रहे थे। इस समिति में डाक्टर एलिन्सन भी थे। इन दिनों सन्ताननिग्रह के लिए कृत्रिम उपाय काम लाने की हलचल चल रही थी। डा० एलिन्सन कृत्रिम उपायों के हामी थे और मजूरों में उसका प्रचार करते थे। मि० हिल्स को ये उपाय नीति-नाशक मालूम होते थे। उनके नजदीक अन्नाहारी-मण्डल केवल भोजन सुधार के ही लिए नहीं था, बल्कि एक नीति-वर्धक मण्डल भी था। और इस कारण उनकी यह राय थी कि डा० एलिन्सन जैसे समाज-घातक विचार रखने वाले लोग इस मण्डल में न होने चाहिएँ। इसलिए डा० एलिन्सन को समिति में से हटाने का प्रस्ताव पेश हुआ। मैं इस चर्चा में दिलचस्पी लेता था। डा० एलिन्सन के कृत्रिम उपायों वाले विचार मुझे भयंकर मालूम हुए। उनके मुक़ाबले में मि० हिल्स के विरोध को मैं शुद्ध नीति मानता था। मि० हिल्स को मैं बहुत मानता था। उनकी उदारता को मैं आदर की दृष्टि से देखता था। परन्तु एक अन्नाहार-वर्धक-मंडल में से एक ऐसे पुरुष का निकाला जाना जो कि शुद्ध नीति का कायल न हो, मुझे बिलकुल अन्याय दिखाई पड़ा। मेरा मत हुआ कि अन्नाहारी मण्डल के स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध-विषयक हिल्स साहब के विचारों से मण्डल के सिद्धान्त का कोई सम्बन्ध न था, वे उनके अपने विचार थे। मण्डल का उद्देश्य तो था केवल

अन्नाहार का प्रचार करना, किसी नीति-नियम का प्रचार नहीं। इसलिए मेरा यह मत था कि, दूसरे कितने ही नीति-नियमों का अनादर करने वाले मनुष्य के लिए भी मंडल में स्थान होसकता है।

यद्यपि समिति में और लोग भी मुझ जैसे विचार रखते थे। परन्तु इस बार मुझे अपने विचार प्रदर्शित करने की बड़ी प्रेरणा भीतर ही भीतर से हो रही थी। मगर सबसे बड़ा प्रश्न यह था कि यह हो कैसे ? बोलने की मेरी हिम्मत नहीं थी। इसलिए मैंने अपने विचार लिखकर अध्यक्ष को दे देने को निश्चय किया। मैं अपना वक्तव्य लिखकर ले गया। जहाँ तक मुझे याद है, उस समय लेख को पढ़ सुनाने का भी साहस मुझे न हुआ। अध्यक्ष ने दूसरे सदस्य से उसे पढ़वाया। डा० एलिसन का पक्ष हारा। अर्थात् इस तरह के इस पहले युद्ध में मैं हारने वालों की तरफ था। परन्तु मुझे निश्चय था कि सचाई इसी पक्ष में थी। इस-लिए मुझे अपने दिल में पूरा सन्तोष था। मुझे कुछ ऐसा याद पड़ता है कि उसके बाद मैंने समिति से इस्तिफा दे दिया था।

मेरी यह झेंप विलायत में अन्त तक कायम रही। किसी से यदि मिलने जाता और वहाँ पाँच-सात आदमी इकट्ठे हो जाते तो वहाँ मेरी ज़बान न खुलती।

एक बार मैं वेंटनर गया। मजमुदार भी साथ थे। जहाँ एक अन्नाहारी घर था। उसमें हम दोनों रहते। 'एथिक्स आफ डायट' के लेखक इसी बन्दर में रहते थे। हम उनसे मिले। यहाँ अन्नाहार को उत्तेजना देने के लिए एक सभा हुई। उसमें हम दोनों को को बोलने के लिए कहा गया। दोनों ने 'हाँ' करलिया। मैंने यह जान लिया था कि लिखा हुआ भाषण पढ़ने में वहाँ कोई

आपत्ति न थी। मैं देखता था कि अपने विचारों को सिल सिलेवार और थोड़े में प्रकट करने के लिए कितने ही लोग लिखित भाषण पढ़ते। मैंने अपना व्याख्यान लिख लिया। बोलने की हिम्मत नहीं थी। पर जब पढ़ने खड़ा हुआ तो बिल्कुल न पढ़ सका। आंखों के सामने अँधेरा छा गया और हाथ-पैर काँपने लगे। भाषण मुश्किल से फुलसकेप का एक पन्ना रहा होगा। उसे मजमुदार ने पढ़ सुनाया। मजमुदार का भाषण तो बढ़िया हुआ श्रोतागण कर-तल ध्वनि से उनके वचनों का स्वागत करते जाते थे। इससे मुझे बड़ी झेंप मालूम हुई और अपनी बोलने की अक्षमता पर बड़ा दुःख हुआ।

विलायत में सार्वजनिक रूप में बोलने का अन्तिम प्रयत्न मुझे तब करना पड़ा जब कि विलायत छोड़ने का अवसर आया। परन्तु उसमें मेरी बुरी तरह फजीहत हुई। विलायत से बिदा होने के पहले अपने अन्नाहारी मित्रों को 'हाबर्न भोजनालय' में मैंने भोजन के लिए निमंत्रित किया था। मैंने विचार किया कि अन्नाहारी भोजनालयों में तो अन्नाहार दिया ही जाता है; परन्तु मांसाहार वाले भोजनालयों में अन्नाहार का प्रवेश हो तो अच्छा। यह सोचकर मैंने इस भोजनालय के व्यवस्थापक से खास तौर पर प्रबन्ध करके अन्नाहार की तजवीज की। यह नया प्रयोग अन्नाहारियों को बड़ा अच्छा मालूम हुआ। यों तो सभी भोज भोग के ही लिए होते हैं; परन्तु पश्चिम में उसे एक कला का रूप प्राप्त हो गया है। भोजन के समय खास सजावट और धूम-धाम होती है। बाजे बजते हैं और भाषण होते हैं सो अलग। इस छोटे से भोज में भी यह सारा आडम्बर हुआ ही। मेरे भाषण करने का समय

आया। मैं खड़ा हुआ। खूब सोच-सोच कर बोलने कि तैयारी करके गया था। थोड़े ही वाक्य तैयार किये थे। परन्तु पहले ही वाक्य से आगे न बढ़ सका। एडिसन वाली गत हुई। उसके झेंपूपन का हाल मैं पहले कहीं पढ़ चुका था। हाउस आफ़ कामन्स में वह व्याख्यान देने खड़ा हुआ। 'मेरी धारणा है, मेरी धारणा है, 'मेरी धारणा है'—यह तीन बार कहा; परन्तु उसके आगे न बढ़ सका। अंगरेज़ी शब्द जिसका अर्थ, धारणा करना, है 'गर्भ धारण' के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। इसलिए, जब एडिसन आगे न बोल सका तब एक मसखरा सभ्य बोल उठा—' इन साहब ने तीन बार गर्भ धारण किया पर पैदा कुछ न किया। इस घटना को मैंने ध्यान में रख छोड़ा था, और एक छोटी सी विनोद युक्त-वक्तृता देने का विचार किया था। मैंने अपने भाषण का श्रीगणेश इसी कहानी से किया। पर वहीं अटक रहा। जो सोचा था सब भूल गया। और विनोद तथा रहस्य-युक्त भाषण करते हुए मैं खुद ही विनोद का पात्र बन गया। "सज्जनो, आपने जो मेरा निमन्त्रण स्वीकार किया इसके लिए मैं आपका उपकार मानता हूँ।" कह कर मुझे बैठ जाना पड़ा।

यह झेंपूपन जाकर ठेठ दक्षिण अफ्रिका में छूटा। बिल्कुल छूट गया हो सो तो अब भी नहीं कह सकते। अब भी बोलते हुए विचारना तो पड़ता ही है। नये समाज में बोलते हुए सकुचाता हूँ। बोलने से पीछा छूट सके तो जरूर छुड़ा लूं। और यह हालत तो आज भी है कि यदि किसी समाज में बैठा होऊँ तो बातें करके उनको सन्तुष्ट नहीं कर सकता और न ऐसा करने की इच्छा होती है।

परन्तु इस झेंपू स्वभाव के कारण मेरी फजीहत होने के अलावा और कुछ नुकसान न हुआ—कुछ फायदा ही हुआ है। बोलने के संकोच से पहले तो मुझे दुःख होता था। पर अब सुख होता है। बड़ा लाभ तो यह हुआ कि मैं शब्दों की किफायत-शारी सीखा। अपने विचारों पर कब्जा करने की आदत सहज ही हो गई। अपने को मैं यह प्रमाण-पत्र आसानी से दे सकता हूँ कि मेरी जबान अथवा कलम से बिना विचारे अथवा बिना तौले शायद ही कोई शब्द निकलता हो। मुझे याद नहीं पड़ता कि अपने भाषण या लेख के किसी अंश के लिए शरमिन्दा होने या पछताने की आवश्यकता मुझे कभी हुई है। इसके बदौलत अनेक खतरों से मैं बच गया हूँ और बहुतेरा समय भी बच गया है—सो यह लाभ अलग है।

अनुभव ने यह भी बताया है कि सत्य के पुजारी को मौन का अवलंबन करना उचित है। जान-अनजान में मनुष्य बहुत बार अत्युक्ति करता है अथवा कहने योग्य बात को छुपाता है या दूसरी तरह से कहता है। ऐसे संकटों से बचने के लिए भी अल्पभाषी होना आवश्यक है। थोड़ा बोलने वाला बिना विचारे नहीं बोलता वह अपने हरएक शब्द को तौलेगा। बहुत बार मनुष्य बोलने के लिए अधीर हो जाता है। 'मैं भी बोलना चाहता हूँ' ऐसी चिट किस सभापति को न मिली होगी? फिर दिया हुआ समय भी उन्हें काफी नहीं होता, और बोलने की इजाजत चाहते हैं, एवं फिर भी बिना ही इजाजत के बोलते रहते हैं। इन सबके इतने बोलने से संसार को लाभ होता हुआ तो शायद ही दिखाई देता है। हाँ, यह अलबत्ता हम स्पष्ट देख सकते हैं कि

इतना समय व्यर्थ जा रहा है इसलिए यद्यपि आरम्भ में मेरा झेंपूपन मुझे अखरता था; पर आज उसका स्मरण मुझे आनन्द देता है। यह झेंपूपन मेरी ढाल था। उससे मेरे विचारों को परिपक्व होने का अवसर मिला। सत्य की आराधना में उससे मुझे सहायता मिली।

(१९)

असत्य-रूपी ज़हर

चालीस साल पहले विलायत जाने वालों की संख्या अब से कम थी। उनमें ऐसा रिवाज पड़ गया था कि खुद विवाहित होते हुए भी अपने को अविवाहित बताते। वहाँ हाईस्कूल अथवा कालेज में पढ़ने वाले सब अविवाहित होते हैं। वहाँ विवाहित के लिए विद्यार्थी-जीवन नहीं होता। हमारे यहाँ तो प्राचीन समय में विद्यार्थी का नाम ही ब्रह्मचारी था। बाल-विवाह की चाल तो यह इसी जमाने में पड़ी है। बाल-विवाह का नाम-निशान विलायत में नहीं। इस कारण वहाँ भारतीय नव-युवकों को यह कहते हुए शरम मालूम होती है कि हमारा विवाह हो गया है। विवाह की बात छिपाने का दूसरा मतलब यह है कि यदि यह बात मालूम हो जाय तो जिन कुटुम्बों में वे रहते हैं, उनकी युवती लड़कियों के साथ घूमने-फिरने और आमोद-प्रमोद करने की स्वतंत्रता न मिल पावेगी। यह आमोद प्रमोद बहुतांश में निर्दोष होता है और खुद माँ बाप भी ऐसे स्नेह-संबंध को पसंद करते हैं। वहाँ युवक और युवतियों में ऐसे सहवास की आवश्यकता भी समझी जाती है; क्योंकि वहाँ तो हरएक नव-युवक

को अपनी सह-धर्मचारिणी खोज लेनी पड़ती है। इस कारण जो सम्बन्ध विलायत में स्वाभाविक समझा जा सकता है वही यदि हिन्दुस्तान के नवयुक वहाँ जाकर बाँधने लगें तो परिणाम भयंकर आये बिना नहीं रह सकता। ऐसे कितने ही भीषण परिणाम सुने भी गये हैं। फिर भी इस मोहिनी-माया में हमारे नव-युवक फँसे हुए थे। जो संबन्ध अंगरेजों के लिए चाहे कितना निर्दोष हो, पर जो हमारे नजदीक सर्वथा त्याज्य है, उसके लिए वे असत्याचरण पसंद करते थे। मैं भी इस जाल में फंस गया। पांच छः वर्ष से विवाहित होते हुए और एक लड़के का बाप होते हुए भी मैं अपने को अविवाहित कहते न हिचका? पर इस कुँआरेपन का स्वाद मैं बहुत न चख पाया। मेरे झेंपूपन ने और मौन ने मुझे बहुत बचाया। भला जब मैं बात ही नहीं कर सकता था, तो कौन लड़की ऐसी फाजिल होती जो मुझसे बात-चीत करने आती। शायद ही कोई लड़की मेरे साथ घूमने निकलती।

मैं जैसा झेंपू था, वैसा ही डरपोक था। वेन्टनर में जैसे घर में रहता था वहाँ यह रिवाज था कि घर की लड़की मुझ जैसे अतिथि को साथ घूमने ले जाय। तदनुसार मकान-मालकिन की लड़की मुझे वेन्टनर के आस-पास की सुन्दर पहाड़ियों पर घूमने ले गई। मेरी चाल यों धीमी न थी; परन्तु उसकी चाल मुझ से भी तेज थी। मैं तो एक तरह उसके पीछे खिंचता-घसीटता जाता था। वह तो रास्ते में बातों के फौव्वारे उड़ाती चलती और मेरे मुंह से सिर्फ कभी 'हां' और कभी 'ना' की ध्वनि निकल पड़ती। मैं बहुत से बहुत बोलता तो इतना ही कि—वाह कैसा सुन्दर'! वह तो हवा की तरह उड़ती चली जाती और मैं यह

सोचता कि कब घर पहुँचेंगे। फिर भी यह कहने की हिम्मत न पड़ती कि चलो वापिस लौट चलें। इतने ही में हम एक पहाड़ी की चोटी पर आ खड़े हुए। अब उतरें कैसे ? मगर ऊँची एड़ी के बूट होते हुए भी यह २०-२५ वर्ष की रमणी बिजली की तरह नीचे उतर गई और मैं शर्मिन्दा होकर यह सोचही रहा हूँ कि कैसे उतरें ! वह नीचे उतर कर ·कह-कहा लगाती है और मुझे हिम्मत दिलाती है। कहती है—'ऊपर आकर हाथ पकड़ कर नीचे खींच ले चलूँ ?' मैं ऐसा बोदा अपने को कैसे साबित करता ? अन्त को सँभल सँभल कर पैर रखता और कहीं कहीं बैठता हुआ नीचे उतरा। इधर वह मजाक में 'शा··बाश' कह कर मुझ शरमाये हुए को और भी शर्मिन्दा करने लगी। मैं मानता हूँ कि इस तरह मजाक में शर्मिन्दा करने का उसे हक था।

परन्तु हर जगह मैं इस तरह कैसे बच सकता था ? ईश्वर को मंजूर था कि असत्य का ज़हर मेरे अन्दर से निकल जाय। वेन्टनर की तरह ब्रायटन भी समुद्र-तट पर हवा खोरी का मुकाम है। वहाँ मैं एकबार गया। जिस होटल में मैं ठहरा था, वहाँ एक मामूली दरजे की अच्छी हैसियत वाली विधवा बुढ़िया घूमने आई थी। यह मेरे पहले साल की बात है—वेन्टनर के पहले की घटना है। यहाँ भोज्य-पदार्थों के नाम फ्रेंच भाषा में लिखे हुए थे। मैं उन्हें न समझ पाया। बुढ़िया और मैं एक ही मेज पर बैठे थे। बुढ़िया ने देखा कि मैं अजनबी और कुछ दुविधा में हूँ। उसने बात छेड़ी 'तुम अजनबी मालूम होते हो ? किस फिक्र में पड़े हो ? तुमने खाने के लिए अब तक कुछ नहीं मंगाया ?' मैं भोज्य पदार्थों की नामावली पढ़ रहा था और परोसनेवालों से

पूछने का विचार ही कर रहा था। मैंने इस भली देवी को धन्यवाद दिया और कहा—'ये नाम मेरी समझ में नहीं आते। मैं अन्नाहारी हूँ, और जानना चाहता हूँ कि इनमें कौनसी चीज़ें मेरे काम की हैं।

वह देवी बोली—'तो लो, मैं तुम्हारी मदद करती हूँ और तुम्हें बताये देती हूँ कि इनमें से कौन कौनसी चीज़ें तुम ले सकते हो।

मैंने उसकी सहायता सधन्यवाद स्वीकार की। यहाँ से जो परिचय उसके साथ हुआ, सो मेरे विलायत छोड़ने के बाद भी बरसों कायम रहा। उसने लन्दन का अपना पता मुझे दिया और हर रविवार को अपने यहां भोजन के लिए निमन्त्रित किया। इसके सिवा भी जब जब अवसर आता मुझे बुलाती। चाह कर मेरी शरम तुड़वाती। युवती स्त्रियों से पहचान करवाती और उनके साथ बातें करने के लिए ललचाती। एक बाई उसी के यहां रहती थी। उसके साथ बहुत बातें करवाती। कभी कभी हमें अकेले भी छोड़ देती।

पहले पहल तो मुझे यह बहुत अटपटा मालूम हुआ। सूझ ही न पड़ता कि बातें क्या करूँ। हंसी-दिल्लगी भी भला क्या करता? पर वह बाई मेरा हौसला बढ़ाती। मैं तैयार होने लगा। हर रविवार की राह देखता। अब तो उसकी बातों में भी मन रमने लगा।

इधर बुढ़िया भी मुझे लुभाये जाती। वह हमारे इस मेल-जोल को बड़ी दिलचस्पी से देखती। मैं समझता हूँ उसने तो हम दोनों का भला ही सोचा होगा।

'अब क्या करूँ? अच्छा होता यदि पहले ही से इस बाई से

अपने विवाह की बात कर दी होती। क्योंकि फिर भला वह क्यों मुझ जैसे के साथ विवाह करना चाहती ? अब भी कुछ बिगड़ा नहीं। समय है। सच कह देने से अधिक संकट में न पड़ूँगा'। यह सोच कर मैंने उसे चिट्ठी लिखी। अपनी स्मृति के अनुसार उसका सार नीचे देता हूँ—

"जबसे व्रायटन में आपसे भेंट हुई, तबसे आप मुझे स्नेह की दृष्टि से देखती आ रही हैं। मां जिस प्रकार अपने बेटे की सँभाल रखती हैं। उसी प्रकार आप मेरी सँभाल रखती हैं। आप का यह ख्याल है कि मुझे विवाह कर लेना चाहिए और इस लिए आप युवतियों के साथ मेरा परिचय कराती हैं। इससे पहले कि ऐसे सम्बन्ध की सीमा और आगे बढ़े; मुझे आपको यह कह देना चाहिए कि मैं आपके प्रेम के योग्य नहीं। मैं विवाहित हूँ और यह बात मुझे उसी दिन कह देना चाहिए थी, जिस दिन से मैं आपके घर आने जाने लगा। हिन्दुस्तान के विवाहित विद्यार्थी यहाँ अपने विवाह की बात जाहिर नहीं करते, और इसीलिए, मैं भी उसी ढर्रे पर चल पड़ा; पर अब मैं समझता हूँ कि मुझे अपने विवाह की बात बिल्कुल ही न छिपानी चाहिए। मुझे तो आगे बढ कर यह भी कह देना चाहिए कि मेरी शादी बचपन ही में हो गई थी और मुझे एक लड़का भी है। यह बात जो मैंने आपसे अबतक छिपा रक्खी थी इसपर मुझे बड़ा पश्चात्ताप हो रहा है। परन्तु अब भी ईश्वर ने मुझे सत्य कह देने की हिम्मत देदी इसके लिए साथ ही मुझे आनन्द भी हो रहा है। आप मुझे माफ़ तो कर देंगी न ? जिस बहन से आपने मेरा परिचय कराया है, उनके साथ मैंने कोई अनुचित व्यवहार नहीं

किया है, इसका मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ। मैं अपनी स्थिति को अच्छी तरह जानता था, अतएव मैं तो ऐसी अनुचित बात कर ही नहीं सकता था; पर आप चूँकि उससे नावाक़िफ थीं, इसलिए आपकी यह इच्छा होना स्वाभाविक ही है कि मेरा संबंध किसी के साथ हो जाय। अतएव आपके मनमें यह विचार और आगे न बढ़े इसलिए मुझे सच बात आप पर अवश्य प्रकट कर देनी चाहिए।

"इस पत्र के मिलने के बाद यदि आप अपने यहाँ आने के योग्य मुझे न समझें तो मुझे बिलकुल बुरा न मालूम होगा। आपकी इस ममता के लिए तो मैं सदाके लिए आपका ऋणी हो चुका हूँ। इतना होने पर भी यदि आप मुझे अपने से दूर न हटावें तो मुझे बड़ी खुशी होगी। यदि अब भी आप मुझे अपने यहाँ आने के योग्य समझेंगी तो इसे मैं आपके प्रेम का एक नया चिन्ह समझूँगा और उसके योग्य बनने के लिए प्रयत्न करता रहूँगा।"

यह पत्र मैंने चट-पट नहीं लिख डाला। न जाने कितने मसविदे बने होंगे। पर हाँ; यह बात जरूर है कि यह पत्र भेज देने पर मेरे दिल से बड़ा बोझ उतर गया। लगभग लौटती डाँक से उस विधवा मित्र का जवाब आया। उसमें लिखा था—

"तुमने दिल खोल कर जो पत्र लिखा वह मिल गया। हम दोनों पढ़कर खुश हुए और खिल खिलाकर हंसे। ऐसा असत्याचरण तो क्षन्तव्य ही हो सकता है। हाँ, यह अच्छा किया जो तुमने अपनी सच्ची कथा लिख दी। मेरे निमन्त्रण को ज्यों का त्यों कायम समझना। इस रविवार को हम दोनों तुम्हारी राह अवश्य देखेंगी। तुम्हारे बाल-विवाह की बातें सुनेंगी और तुमसे हंसी

दिल्लगी करने का आनन्द प्राप्त करेंगी। जमा खातिर रहो, अपनी मित्रता में फ़र्क न आने पावेगा।"

इस तरह अपने अंदर से यह असत्य का ज़हर निकाला और, फिर तो, कहीं भी अपने विवाह इत्यादि की बातें करते हुए मुझे पशोपेश न होता।

(२०)

धार्मिक परिचय

विलायत में रहते हुए कोई एक साल हुआ होगा। इस बीच दो थियासोफिस्ट मित्रों से मुलाकात हुई। दोनों सगे भाई थे और अविवाहित थे। उन्होंने मुझे गीता पढ़ने की प्रेरणा की। उन दिनों वे तो एड्विन एर्नाल्ड कृत गीता के अंग्रेजी अनुवाद को पढ़ रहे थे। पर मुझे उन्होंने अपने साथ संस्कृत में गीता पढ़ने के लिए कहा। मैं लज्जित हुआ; क्योंकि मैंने तो गीता संस्कृत में नो क्या गुजराती में भी नहीं पढ़ी थी। यह बात झेंपते हुए मुझे उनसे कहनी पड़ी। पर साथ ही यह भी कहा कि 'मैं आपके साथ पढ़ने के लिए तैयार हूँ। यों तो मेरा संस्कृत ज्ञान नहीं के बराबर है। फिर भी मैं इतना समझ सकूँगा कि अनुवाद में कहीं गड़-बड़ होगी तो वह बता सकूँ।' इस तरह इन भाइयों के साथ मेरा गीता पाठ आरम्भ हुआ। दूसरे अध्याय के अंतिम श्लोकोंमें

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोभिजायते॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृति भ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥*

---

* विषय का चिंतन करने से, पहले तो उसके साथ संग पैदा होता है, और संग से काम की उत्पत्ति होती है। कामना के पीछे पीछे क्रोध आता है। फिर क्रोध से संमोह, संमोह से स्मृति-भ्रम, और स्मृति-भ्रम से बुद्धि का नाश होता है। और अन्त में पुरुष खुद ही नष्ट होजाता है।

इन श्लोकों का गहरा असर मेरे दिल पर हुआ। बस कानों में उनकी ध्वनि दिन-रात गूँजा करती। तब मुझे प्रतीत हुआ कि भगवद्गीता तो अमूल्य ग्रन्थ है। यह धारणा दिन दिन अधिक दृढ़ होती गई। और अब तो तत्व-ज्ञान के लिए मैं उसे सर्वोत्तम ग्रंथ मानता हूँ। निराशा के समय में इस ग्रंथ ने मेरी अमूल्य सहायता की है। इसके लगभग तमाम अंगरजी अनुवाद मैं पढ़ गया हूँ।' सब में एड्विन ऍर्नाल्ड का अनुवाद श्रेष्ठ मालूम होता है। उन्होंने मूल ग्रंथ के भावों की अच्छी रक्षा की है और फिर भी वह अनुवाद नहीं मालूम होता। फिर भी यह नहीं कह सकते कि इस समय मैंने भगवद्गीता का अच्छा अध्ययन कर लिया हो। उसका रोज-मर्रा पाठ तो वर्षों बाद शुरू हुआ।

इन्हीं भाइयों ने मुझे ऍर्नाल्ड लिखित बुद्धि-चरित पढ़ने की सिफ़ारिश की। अब तक तो मैं सिर्फ यही जानता था कि सिर्फ़ गीता का ही अनुवाद एर्नाल्ड ने किया है, परन्तु बुद्ध-चरित को मैंने भगवद्गीता से भी अधिक चाव के साथ पढ़ा। पुस्तक जो एक बार हाथ में ली सो खतम करके ही छोड़ सका।

ये भाई मुझे ब्लेवेट्स्की लाज में भी ले गये। वहां मैडम ब्लेवेट्स्की तथा मिसेज बेसेन्ट उन्हीं दिनों थियोसोफिकल सोसायटी में आई थीं; और इस विषय की चर्चा अखबारों में चल रही थी। मैं उसे चाव से पढ़ता था। इन भाइयों ने मुझे थियासोफिकल सोसोयटी में आने के लिए कहा। मैंने विनय-पूर्वक ना करके कहा—'मुझे अभी किसी धर्म का कुछ भी ज्ञान नहीं इसलिए मेरा दिल नहीं होता कि अभी किसी सम्प्रदाय में मिल जाऊँ।' मुझे कुछ ऐसा ख्याल पड़ता है कि इन्हीं भाइयों के कहने

से मेडम ब्लेवेट्स्की रचित 'दि थियोसोफी' पुस्तक भी मैंने पढ़ी। उससे हिंदू-धर्म-सम्बन्धी पुस्तकों के पढ़ने की इच्छा हुई। पादरी लोगों के मुंह से जो यह सुना करता था कि हिन्दू-धर्म तो अन्ध-विश्वासों से भरा हुआ है, यह ख्याल दिल से निकल गया।

इसी अर्से में एक अन्नाहारी छात्रालय में मैन्चेस्टर के एक भले ईसाई से मुलाकात हुई। उन्होंने ईसाई-धर्म की बात मुझ से छेड़ी। मैंने अपना राजकोट का अनुभव उन्हें सुनाया। उन्हें बहुत दुःख हुआ। कहा—'मैं खुद अन्नाहारी हूँ। शराब तक नहीं पीता। बहुतेरे ईसाई माँस खाते हैं, शराब पीते हैं, यह सच है। पर ईसाई-धर्म में दोनों में से एक चीज भी लाज़िमी नहीं। आप बायबिल पढ़ें तो मालूम होगा'। मैंने उनकी सलाह मानी। उन्हीं ने एक बायबिल भी खरीद कर ला दी। मुझे कुछ कुछ ऐसा आभास होता है कि वे सज्जन खुद ही बायबिल बेंचते थे। उन्हों ने जो बायबिल मुझे दी उसमें कई नक्शे और अनुक्रमणिका इत्यादि थीं। पढ़ना शुरू तो किया; परन्तु 'ओल्ड टेस्टामेंट' तो पढ़ ही न सका। जेनिसेस—'सृष्टि-उत्पति'—वाले प्रकरण के बाद तो पढ़ते पढ़ते नींद आने लगती। केवल इसी ख्याल से कि यह कह सकूं कि 'हाँ बायबिल पढ़ली' मैंने बे-मन और बे-समझे आगे के प्रकरणों को बड़े कष्ट से पढ़ा। 'नम्बर्स' नामक प्रकरण तो मुझे बिल्कुल ही अच्छा न लगा। पर जब 'न्यू टेस्टामेंट' तक पहुँचा तब तो कुछ और ही असर हुआ। हजरत ईसा के गिरी-प्रवचन का असर बहुत ही अच्छा हुआ। वह तो सीधा ही हृदय में पैठ गया। बुद्धि ने गीताजी के साथ उसकी तुलना की। 'जो तेरा कुरता मांगे उसे तू अंगरखा देडाल। जो तेरे दाहिने गाल पर थप्पड़ मारे

उसके आगे बाँया गाल कर दे' यह पढ़कर मुझे अपार आनन्द हुआ। श्यामल भट्ट का वह छप्पय याद आया। मेरे युवक मन ने गीता, एर्नाल्ड-कृत बुद्धि-चरित्र और ईसा के वचनों का एकीकरण किया। 'त्याग में धर्म है' यह बात दिल को जँच गई।

इन पुस्तकों के पठन से दूसरे धर्माचार्यों के जीवन-चरित्र पढ़ने की इच्छा हुई। किसी मित्र ने सुझाया—कार्लाइल की 'विभूतियां' और 'विभूतिपूजा' पढ़ो। उसमें मैंने हज़रत मुहम्मद-विषयक अंश पढ़ा और मुझे उनकी महत्ता वीरता और उनकी तपश्चर्या का परिचय मिला।

बस, इतने धार्मिक परीचय से आगे मैं न बढ़ सका; क्योंकि परीक्षा-सम्बन्धी पुस्तकों के अलावा दूसरी पुस्तकें पढ़ने की फुरसत न निकाल सका। मगर मेरे दिल में यह भाव जम गया कि मुझे और भी धर्म-पुस्तक अवश्य पढ़नी चाहिएँ और समस्त मुख्य-मुख्य धर्मों का आवश्यक परिचय प्राप्त कर लेना चाहिए।

भला, यह कैसे सम्भव था कि विलायत में रहकर नास्तिकता के सम्बन्ध में कुछ न जानता। उन दिनों ब्रेडला का नाम समस्त भारतवासी जानते थे। ब्रेडला नास्तिक माने जाते थे। इस कारण नास्तिकवाद के विषय में भी एक पुस्तक पढ़ी। नाम इस समय याद नहीं पड़ता। मेरे मन पर उसकी कुछ छाप न पड़ी। क्योंकि नास्तिकता-रूपी सहारा का रेगिस्तान अब मैं पार कर चुका था। मिसेज़ बेसेंट की कीर्ति तो उस समय भी बहुत फैली हुई थी। वे नास्तिक से आस्तिक बनीं थीं, इस बात ने भी मुझे नास्तिकता की ओर से उदासीन बनाया। बेसेंट की 'मैं थियासोफ़िस्ट कैसे हुई?' यह पुस्तिका मैं पढ़ चुका था। इन्हीं

दिनों ग्रेडला का देहांत हुआ। उनकी अन्त्येष्टि-क्रिया वोकिंग में हुई थी। मैं भी वहाँ गया था। मेरा ख्याल है कि शायद ही कोई ऐसा भारतवासी होगा जो वहाँ न गया हो। कितने ही पादरी भी उनके सन्मान में उपस्थित हुए थे। लौटते समय हम सब एक जगह ट्रेन की राह देख रहे थे। वहाँ एक पहलवान नास्तिकता-वादी ने एक पादरी से जिरह करना शुरू की—

'क्यों जी' आप कहते हैं न कि ईश्वर है?'

उस भले पादरी ने धीमी आवाज़ में जवाब दिया—'हाँ भाई, कहता तो हूँ।'

पहलवान हँसा' और इस भाव से कि मानो पादरी को पराजित कर दिया हो, बोला—'अच्छा, आप यह तो मानते हैं न, कि पृथ्वी की परिधि २८००० मील है?

'हाँ, अवश्य।'

'तब बताओ तो देखें, ईश्वर का क़द कितना बड़ा है और वह कहाँ रहता होगा?'

'यदि हम समझें तो वह हम दोनों के हृदय में वास करता है।'

चारों ओर खड़े हुए हम लोगों की ओर यह कह कर उसने विजयी की तरह देख कर कहा—किसी बच्चे को फुसलाइए किसी बच्चे को।

पादरी ने नम्रता के साथ मौन धारण कर लिया।

इस संवाद ने नास्तिकतावाद की ओर से मेरा मन और भी हटा दिया।

---

(२१)

'निर्बल के बल राम'

इस तरह मुझे धर्म-शास्त्रों का तथा दुनिया के और धर्मों का कुछ परिचय तो मिला, लेकिन इतना ज्ञान मनुष्य को बचाने के लिए काफ़ी नहीं होता। आपत्ति के समय जो वस्तु मनुष्य को बचाती है, उसका उसे उस समय न तो भान ही रहता है न ज्ञान ही। नास्तिक जब बच जाता है तो कहने लगता है कि मैं तो अचानक बच गया। आस्तिक ऐसे समय कहेगा कि मुझे ईश्वर ने बचाया। परिणाम के बाद वह ऐसा अनुमान कर लेता है कि धर्मों के अध्ययन से, संयम से ईश्वर हृदय में प्रकट होता है। इस प्रकार का अनुमान करने का उसे अधिकार है। लेकिन बचते समय वह नहीं जानता कि उसे उसका संयम बचाता है या और कोई। जो अपने संयम-बल का गर्व करता है उसका किसने अनुभव नहीं किया कि संयम भ्रष्ट नहीं हुआ? ऐसे समय शास्त्र-ज्ञान तो व्यर्थ-सा मालूम होता है।

इस बौद्धिक धर्म-ज्ञान के मिथ्यात्व का अनुभव मुझे विलायत में हुआ। पहले जो इस प्रकार के भयों से मैं बचा, उसका विश्लेषण करना असंभव है। उस समय मेरी उम्र बहुत कम थी

लेकिन अब तो मैं बीस वर्ष का हो गया था। गृहस्थाश्रम का अनुभव खूब प्राप्त कर चुका था।

बहुत करके विलायत में मेरे आखिरी वर्ष में, अर्थात् १८९० में, पोर्टस्मथ में अन्नाहारियों का एक सम्मेलन हुआ। उसमें मुझे तथा एक और भारतीय मित्र को निमन्त्रण मिला था। हम दोनों वहाँ गये। हम दोनों एक बाई के यहाँ ठहराये गये।

पोर्टस्मथ मल्लाहों का बन्दर कहा जाता है। वहाँ दुराचारिणी स्त्रियों के बहुत से घर हैं। वे स्त्रियाँ वेश्या तो नहीं कही जा सकतीं; लेकिन साथ ही उन्हें निर्दोष भी नहीं कह सकते। ऐसे ही घर में हम ठहराये गये थे। कहने का आशय यह नहीं है कि स्वागत-समिति ने जान बूझ कर ऐसे घर चुने थे। लेकिन पोर्टस्मथ जैसे बन्दर में जब मुसाफिरों के ठहरने के लिए घर खोजने की जरूरत पड़ती है, तब यह कहना कठिन हो जाता है कि कौन घर अच्छा और कौन बुरा।

रात हुई। सभा से हम घर लौटे। भोजन के बाद हम ताश खेलने बैठे। विलायत में अच्छे घरों में भी गृहिणी महमानों के साथ इस प्रकार ताश खेला करती हैं। ताश खेलते समय सब लोग निर्दोष मजाक करते रहते हैं। यहाँ बीभत्स विनोद शुरू हुआ।

मैं नहीं जानता था कि मेरे साथी इसमें निपुण हैं। मुझे इस विनोद में दिलचस्पी होने लगी। मैं भी सम्मिलित हुआ। विनोद के वाणी से क्रिया में परिणत होने की नौबत आ गई। ताश एक ओर रखने का अवसर आ गया; पर मेरे साथी के हृदय में भगवा जगे। वे बोले, तुम और यह कलियुग—यह पाप? यह तुम्हारा काम नहीं! भगो यहाँ से।

मैं शरमिन्दा हुआ। चेता। हृदय में इस मित्र का उपकार माना। माता से की प्रतिज्ञा याद आई। मैं भगा। कांपता हुआ। अपने कमरे में पहुँचा। कलेजा धड़कता था। मानों कातिल के हाथ से शिकार छूटा।

पर-स्त्री को देखकर विकाराधीन होने का और उसके साथ खेलने की इच्छा होने का यह पहला प्रसंग मेरे जीवन में था। रात भर मुझे नींद न पड़ी। अनेक तरह के विचारों ने मुझे आ घेरा। 'क्या करूँ, घर छोड़ दूँ? यहाँ से भाग निकलूँ? मैं कहां हूँ? यदि मैं सावधान न रहूँ तो मेरे क्या हाल होंगे?' मैंने खूब सचेत रहकर जीवन बिताने का निश्चय किया। सोचा, कि घर तो अभी न छोड़ूँ; पर पोर्टस्मथ तुरन्त छोड़ देना चाहिए। सम्मेलन दो ही दिन तक होने वाला था। इसलिए जहाँ तक मुझे याद है, दूसरे ही दिन मैंने पोर्टस्मथ छोड़ दिया। मेरे साथी वहाँ कुछ दिन रहे।

उस समय मैं 'धर्म क्या है, ईश्वर क्या चीज है, वह हमारे अन्दर किस तरह काम करता हैं' ये बातें न जानता था। लौकिक अर्थ में मैं समझा कि ईश्वर ने मुझे बचाया। परन्तु जीवन के विविध क्षेत्रों में मुझे ऐसा अनुभव हुआ है। 'ईश्वर ने बचाया' इस वाक्य का अर्थ मैं आज बहुत अच्छी तरह समझता हूँ। पर यह भी जानता हूँ कि अभी इसकी कीमत मैं ठीक-ठीक नहीं आँक सका हूँ। यह तो अनुभव से ही आँकी जा सकती है। पर हाँ, कितने ही आध्यात्मिक अवसरों पर, वकालत के सिल्सिले में, संस्थाओं का संचालन करते हुए, राजनैतिक मामलों में, मैं कह सकता हूँ कि 'ईश्वर ने मुझे बचाया है।' मैंने अनुभव किया

है कि जब, चारों ओर से आशायें छोड़ बैठने का अवसर आ जाता है, हाथ-पाँव ढीले पड़ने लगते हैं, तब कहीं न कहीं से सहायता अचानक आ पहुँचती है। स्तुति, उपासना, प्रार्थना अंध विश्वास नहीं बल्कि उतनी ही अथवा उससे भी अधिक सच बातें हैं, जितनी कि हम खाते हैं, पीते हैं, चलते हैं, बैठते हैं, ये सच हैं। बल्कि यों कहने में भी अत्युक्ति नहीं कि यही एक-मात्र सच है; दूसरी सब बातें झूठ हैं, मिथ्या हैं।

ऐसी उसासना, ऐसी प्रार्थना वाणी का वैभव नहीं है। उसका मूल कण्ठ नहीं, बल्कि हृदय है। अतएव यदि हम हृदय को निर्मल बना लें, उसके तारों का सुर मिला लें, तो उसमें से जो सुर निकलता है वह गगन-गामी हो जाता है। उसके लिए जीभ की आवश्यकता नहीं। यह तो स्वभावतः ही अद्भुत वस्तु है। विकार रूपी मल की शुद्धि के लिए हार्दिक उपासना एक जीवन-जड़ी है, इस विषय में मुझे कुछ भी सन्देह नहीं। परन्तु इस प्रसादी को पाने के लिए हमारे अंदर पूरी पूरी नम्रता होनी चाहिए।

(२२)

नारायण हेमचन्द्र

लगभग इसी दरमियान स्वर्गीय नारायण हेमचन्द्र विलायत आये थे। मैं सुन चुका था कि वे एक अच्छे लेखक हैं। नॅशनल इण्डियन एसोसियेशन वाली मिस मैनिङ्ग के यहाँ उनसे मिला। मिस मैनिङ्ग जानती थीं कि मैं सब से हिलमिल नहीं जाता हूँ। जब कभी मैं उनके यहाँ जाता तब चुपचाप बैठ रहता। तभी बोलता जब कोई बातचीत छेड़ता।

उन्होंने नारायण हेमचन्द्र से मेरा परिचय कराया।

नारायण हेमचन्द्र अंगरेज़ी नहीं जानते थे। उनका पहनाव विचित्र था। बेढंगी पतलून पहने थे। उस पर था एक बदामी रंग का मैला-कुचेला-सा पारसी काट का बेडौल कोट। न नेकटाई न कॉलर। सर पर ऊन की गुंथी हुई टोपी और नीचे लम्बी डाढ़ी।

बदन इकहरा, क़द नाटा; और चेहरा गोल था, और उसपर चेचक के दाग़ थे। नाक न नोकदार थी, न चिपटी। हाथ डाढ़ी पर फिरा करता था।

वहाँ के लाल-गुलाल फैशनेबल लोगों में नारायण हेमचन्द्र अलग छटक जाते थे।

'आपका नाम तो मैंने बहुत सुना है। आपके कुछ लेख भी पढ़े हैं। आप मेरे घर क्यों न चलिए ?'

नारायण हेमचन्द्र की आवाज जरा भर्राई हुई थी। उन्होंने हँसते हुए जवाब दिया–

'आप कहां रहते हैं ?'

'स्टोर स्ट्रीट में'

'तब तो हम पड़ोसी मुझे अंगरेजी सीखना है। आप सिखा देंगे ?'

मैंने जवाब दिया–'यदि मैं किसी प्रकार भी आपकी सहायता कर सकूँ तो मुझे बड़ी खुशी होगी। मैं अपनी शक्ति भर कोशिश करूँगा। यदि आप चाहें, तो मैं आपके यहाँ भी आ सकता हूँ।'

'जी नहीं, मैं खुद ही आपके पास आऊँगा। मेरे पास पाठमाला भी है। उसे लेता आऊँगा।'

समय निश्चित हुआ। आगे चलकर हम दोनों में बड़ा स्नेह हो गया।

नारायण हेमचन्द्र व्याकरण जरा भी न जानते थे। 'घोड़ा' क्रिया और 'दौड़ना' संज्ञा बन जाती। ऐसे विनोद-पूर्ण उदाहरण तो मुझे कई याद हैं। परन्तु नारायण हेमचन्द्र ऐसे थे, जो मुझे हज़म कर जायँ। वे मेरे अल्प व्याकरण-ज्ञान से अपने को भुला देनेवाले जीव न थे। अपने व्याकरण न जानने पर वे किसी प्रकार लज्जित न होते थे।

'मैं आपकी तरह किसी पाठशाला में नहीं पढ़ा हूँ। मुझे अपने विचार प्रकट करने में कहीं भी व्याकरण की सहायता की

जरूरत नहीं दिखाई दी। आप बंगला जानते हैं ? मैं तो बंगला भी जानता हूँ। मैं बंगाल में घूमा हूँ। महर्षि देवेन्द्रनाथ टागोर की पुस्तकों का अनुवाद तो गुजराती जनता को मैंने ही दिया है। मुझे अभी कई भाषाओं के सुन्दर ग्रन्थों का अनुवाद गुजराती जनता को समर्पित करना है। अनुवाद करने में भी मैं शब्दार्थ पर नहीं चिपटा रहता। भाव-मात्र दे देने से मुझे संतोष हो जाता है। मेरे बाद दूसरे लोग चाहें भले ही सुन्दर वस्तु दिया करें। मैं तो बिना व्याकरण पढ़े मराठी भी जानता हूँ, हिन्दी भी जानता हूँ, और अब अंगरेज़ी भी जानने लग गया हूँ। मुझे तो सिर्फ़ शब्द-भंडार की जरूरत है। आप यह न समझ लें कि अकेली अंगरेज़ी जान लेने भर से मुझे संतोष हो जायगा। मुझे तो फ्रान्स जाकर फ्रेन्च भी सीख लेनी है। मैं जानता हूँ कि फ्रेन्च साहित्य बहुत विशाल है। यदि हो सका तो जर्मनी जा कर जर्मन भाषा भी सीख लूँगा।'

इस तरह नारायण हेमचन्द्र की वाग्धारा बे-रोक बहती रही। देश-देशान्तरों में जा कर भिन्न भिन्न भाषा सीखने का उन्हें असीम शौक था।

'तब तो आप अमेरिका जरूर ही जावेंगे ?'

भला इसमें भी कोई सन्देह हो सकता है ? इस नवीन दुनिया को देखे बिना कहीं मैं वापिस लौट सकता हूँ ?'

'पर आपके पास इतना धन कहाँ है ?'

'मुझे धन की क्या जरूरत पड़ी है ? मुझे आप की तरह तड़क-भड़क तो रखना है नहीं ? मेरा खाना कितना और पहनना क्या ? मेरी पुस्तकों से कुछ मिल जाता है, और थोड़ा-बहुत मित्र

लोग दे दिया करते हैं। मैं तो सर्वत्र तीसरे दर्जे में ही सफर करता हूँ। अमेरिका तो डेक में जाऊँगा।'

नारायण हेमचन्द्र की सादगी बस उनकी अपनी थी। हृदय भी उनका वैसा ही निर्मल था। अभिमान छू तक न गया था। लेखक के नाते अपनी क्षमता पर उन्हें आवश्यकता से भी अधिक विश्वास था।

हम रोज मिलते। हमारे बीच विचार तथा आचार-साम्य भी काफी था। दोनों अन्नाहारी थे दोपहर को कई बार साथ ही भोजन करते। यह मेरा वह समय था, जब मैं प्रति सप्ताह सत्रह शिलिंग में ही अपना गुजर करता था, और खाना खुद पकाता था। कभी मैं उनके मकान पर जाता तो कभी वे मेरे मकान पर आते। मैं अंगरेजी तर्ज का खाना पकाता था, उन्हें देशी ढँग के बिना संतोष नहीं होता था। दाल जरूरी थी। मैं गाजर इत्यादि का रसा बनाता। इस पर उन्हें मेरी बड़ी दया आती। कहीं से वे मूंग ढूंढ लाये थे। एक दिन मेरे लिए मूंग पकाकर लाये जो मैंने बड़ी रुचिपूर्वक खाये। फिर तो हमारा इस तरह देने-लेने का व्यवहार बहुत बढ़ गया। मैं अपनी चीज़ों का नमूना उन्हें चखाता और वे मुझे चखाते।

इस समय कार्डिनल मैनिङ्ग का नाम सब की ज़बान पर था। डाक के मजदूरों ने हड़ताल करदी थी। जॉन बर्न्स और कार्डिनल मैनिंग के प्रयत्नों से हड़ताल जल्दी बन्द हो गई। कार्डिनल मैनिंग की सादगी के विषय में जो डिजराइल ने लिखा था, वह मैंने नारायण हेमचन्द्र को सुनाया।

'तब तो मुझे उस साधु पुरुष से जरूर मिलना चाहिए।'

'वे तो बहुत बड़े आदमी हैं, आपसे क्यों कर मिलेंगे?'

'इसका रास्ता मैं बता देता हूँ। आप उन्हें मेरे नाम से एक

पत्र लिखिए कि मैं एक लेखक हूँ। आपके परोपकारी कार्यों पर आपको धन्यवाद देने के लिए प्रत्यक्ष मिलना चाहता हूँ। उसमें यह भी लिख दीजिएगा कि मैं अंग्रेज़ी नहीं जानता, इसलिए—आपका नाम लिखिए—बतौर दुभाषिया के मेरे साथ में रहेंगे।

मैंने इस मज़मून का पत्र लिख दिया। दो तीन दिन में कार्डिनल मैनिंग का कार्ड आया। उन्होंने मिलने का समय लिख दिया था।

हम दोनों गये। मैंने तो, जैसा कि रिवाज़ था, मुलाकाती कपड़े पहन लिए। नारायण हेमचन्द्र तो ज्यों के त्यों, सनातन! वही कोट और वही पतलून। मैंने ज़रा मज़ाक किया पर उन्होंने उसे साफ हँसी में उड़ा दिया और बोले—

'तुम सब सुधरे हुए लोग डरते हो। महापुरुष किसी की पोषाक की तरफ नहीं देखते। वे तो उसके हृदय को देखते हैं।'

कार्डिल के महल में हमने प्रवेश किया। मकान महल ही था। हम बैठे ही थे कि एक दुबले से ऊंचे कद वाले वृद्ध पुरुष ने प्रवेश किया। हम दोनों से हाथ मिलाया। नारायण हेमचन्द्र का स्वागत किया।

"मैं आपका अधिक समय लेना नहीं चाहता। मैंने आपकी कीर्ति सुन रक्खी थी। आपने हड़ताल में जो शुभ काम किया है उसके लिए आपका उपकार मानना था। संसार के साधुपुरुषों के दर्शन करने का मेरा अपना रिवाज है। इसलिए आपको आज यह कष्ट दिया है।"

इन वाक्यों का तरजुमा करके उन्हें सुनाने के लिए नारायण हेमचन्द्र ने मुझे कहा।

'आपके आगमन से मैं बड़ा प्रसन्न हुआ हूँ। मैं आशा करता हूँ कि आपके लिए यहाँ का निवास सुखकर होगा, और यहाँ के लोगों से आप अधिक परिचय करेंगे। परमात्मा आपका भला करे।' यों कहकर कार्डिल उठ खड़े हुए।

एक दिन नारायण हेमचन्द्र मेरे यहाँ धोती और कुर्ता पहन कर आये। भली मकान मालकिन ने दरवाजा खोला और देखा तो डर गई। दौड़कर मेरे पास आई (पाठक यह तो जानते ही हैं कि मैं बार-बार मकान बदलता ही रहता था) और बोली—"एक पागल-सा आदमी आपसे मिलना चाहता है।" मैं दरवाजे पर गया और नारायण हेमचन्द्र को देखकर दङ्ग रह गया। उनके चेहरे पर वही नित्य का हास्य चमक रहा था।

'पर आपको लड़कों ने नहीं रुलाया?'

'हाँ, मेरे पीछे पड़े जरूर थे, लेकिन मैंने कोई ध्यान नहीं दिया, तो वापिस लौट गये।'

नारायण हेमचन्द्र कुछ महीने इंग्लैंड में रहकर पैरिस चले गये। वहां फ्रेंच का अध्ययन किया और फ्रेंच पुस्तकों के अनुवाद करना शुरू कर दिया। मैं इतनी फ्रेंच जान गया था कि उनके अनुवादों को जांच लूँ। मैंने देखा कि वह तर्जुमा नहीं, भावार्थ था।

अन्त में उन्होंने अमेरिका जाने का अपना निश्चय भी निबाहा। बड़ी मुश्किल से डेक या तीसरे दर्जे का टिकट प्राप्त कर सके थे। अमेरिका में जब वे धोती और कुर्ता पहन कर निकले तो असभ्य पोषाक पहनने का जुर्म लगाकर वे गिरफ्तार कर लिये गये थे। पर जहाँ तक मुझे याद है, बाद में वे छूट गये थे।

(२३)

महाप्रदर्शिनी

१८९० ई० में पैरिस में एक महाप्रदर्शिनी हुई थी। उसकी तैयारियों की बातें मैं अखबारों में खूब पढ़ता था। इधर पैरिस देखने की तीव्र इच्छा तो थी ही। सोचा कि इस प्रदर्शिनी को देखने के लिए चला जाऊंगा तो दोनों काम हो जायंगे। प्रदर्शिनी में एफिल टावर देखने का आकर्षण बहुत भारी था। यह टावर बिलकुल लोहे का बना हुआ है। एक हज़ार फ़ीट ऊंचा है। इसके पहले लोगों का ख्याल था कि इतनी ऊंची इमारत खड़ी ही नहीं रह सकती। और भी अनेक बातें प्रदर्शिनी में देखने लायक थीं।

मैंने कहीं पढ़ा था कि पेरिस में अन्नाहार के लिए एक स्थान है। मैंने उसमें एक कमरा ले लिया पैरिस तक की सफर गरीबी से की, और वहाँ पहुँचा। सात दिन रहा। बहुत कुछ तो पैदल ही चलकर देखा। पास में पैरिस और उस प्रदर्शिनी का गाइड तथा नकशा भी रक्खा था। उसकी सहायता से रास्ते ढूँढ़कर मुख्य-मुख्य चीज़ें देख लीं।

प्रदर्शिनी की विशालता और विविधता के सिवा अब मुझे

उसकी किसी चीज़ का स्मरण नहीं है। एफिल टावर पर तो दो तीन बार चढ़ा था, इसलिए उसकी याद ठीक-ठीक है। पहली मंजिल पर खाने-पीने की सुविधा भी थी। इसलिए यह कहने को कि इतनी ऊंचाई पर हमने खाना खाया, मैंने वहाँ भोजन किया और उसके लिए साढ़े सात शिलिंग को दियासलाई लगाई।

पैरिस के प्राचीन मन्दिरों की याद अब तक क़ायम है। उनकी भव्यता और भीतर की शांति कभी नहीं भुलाई जा सकती। नाट्रेडम की कारीगरी और भीतर की चित्रकारी मेरे स्मृति पट पर ज्यों की त्यों अंकित है। यही प्रतीत हुआ कि जिन्होंने लाखों रुपये ऐसे स्वर्गीय मंदिरों के बनाने में खर्च किये, उनके हृदय के अंतस्तल में कुछ न कुछ ईश्वर-प्रेम ज़रूर रहा होगा।

पैरिस की फैशन, वहाँ का स्वेच्छाचार और भोग-विलास का वर्णन खूब पढ़ा था और उसकी प्रतीति वहाँ की गली गली में होती जाती थी। परन्तु ये मन्दिर उन भोग सामग्रियों से अलग छटक जाते थे। उनके अंदर जाते ही बाहर की अशांति भूल जाती थी लोगों का बर्ताव ही बदल जाता था। वे अदब के साथ बरतने लग जाते थे। वहाँ शोर-गुल नहीं हो सकता। कुमारिका मरियम की मूर्ति के सामने कोई न कोई ज़रूर प्रार्थना करता हुआ दिखाई देता। यह सब देखकर चित्त पर यही असर पड़ा कि यह सब वहम नहीं, हृदय का भाव है; और यह भाव दिन ब दिन बराबर पुष्ट होता गया। कुमारिका की मूर्ति के सामने घुटने टेक कर प्रार्थना करने वाले वे उपासक संगमरमर के पत्थर को नहीं पूज रहे थे; बल्कि उसके अन्दर निवास करने वाली अपनी मनोमय शक्ति को पूजते थे। मुझे आज भी अस्पष्टतया याद है कि उस समय मेरे

चित्त पर इस पूजा का ऐसा असर पड़ा कि वे इस पूजन द्वारा ईश्वर की महिमा को घटाते नहीं, बल्कि बढ़ाते ही हैं।

एफिल टॉवर के विषय में एक-दो बातें लिख देना जरूरी हैं। मुझे पता नहीं कि एफिल टॉवर आज किस मतलब को पूरा कर रहा है। प्रदर्शिनी में जाने पर उसके वर्णन तो जरूर ही पढ़ने में आते थे। उनमें उसकी स्तुति भी थी और निन्दा भी थी। मुझे याद है कि निन्दा करने वालों में टॉल्सटॉय मुख्य थे। उन्होंने लिखा था कि एफिल टॉवर मनुष्य की मूर्खता का चिन्ह है, उसके ज्ञान का परिणाम नहीं। उन्होंने अपने लेखों में बताया था कि संसार के अनेक प्रचलित नशों में तमाखू का व्यसन एक तरह से सबसे खराब है। जो कुकर्म करने की हिम्मत शराब के पीने से नहीं होती, वह बीड़ी पीकर आदमी को हो जाती है। शराब आदमी को पागल बना देती है, परन्तु बीड़ी से तो उसकी बुद्धि तमाच्छन्न हो जाती है, और वह हवाई किले बांधने लग जाता है। टॉल्सटाय ने अपना यह मत प्रदर्शित किया था कि एफिल टॉवर ऐसे ही व्यसन का परिणाम है।

एफिल टॉवर में सौंदर्य का तो नाम भी नहीं है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि उससे प्रदर्शिनी की शोभा जरा भी बढ़ गई हो। एक नई भारी-भरकम चीज़ थी। और इसलिए उसे देखने हज़ारों आदमी गये थे। यह टॉवर प्रदर्शिनी का एक खिलौना था। और वह इस बात को बड़ी अच्छी तरह सिद्ध कर रहा था कि जबतक हम मोहाधीन हैं तबतक हम भी बालक ही हैं। बस, इसे भले ही हम उसकी उपयोगिता कह लें।

(२४)

बैरिस्टर तो हुए—लेकिन आगे ?

परन्तु जिस काम के लिए, अर्थात् बैरिस्टर बनने के लिए मैं विलायत गया था, उसका क्या हुआ ? मैंने उसका वर्णन आगे पर छोड़ रक्खा था। पर अब उसके सम्बन्ध में कुछ लिखने का समय आ पहुँचा है।

बैरिस्टर बनने के लिए दो बातें आवश्यक थीं—एक तो 'टर्म' भरना, अर्थात् सत्रों में आवश्यक उपस्थिति का होना और दूसरी कानून की परीक्षा में शरीक होना। वर्ष में चार सत्र होते थे। वैसे बारह सत्रों में हाज़िर रहना आवश्यक था। सत्र में हाज़िर रहने के मानी हैं 'भोजों में उपस्थित रहना'। हरएक सत्र में लगभग २४ भोज होते थे, जिनमें से छः में हाज़िर रहना ज़रूरी था। भोज में जाने से यह मतलब नहीं कि वहाँ कुछ खाना ही चाहिए सिर्फ़ निश्चित समय पर वहाँ हाजिर हो जाना; और जबतक वह चलता रहे वहाँ उपस्थित रहना काफ़ी था। आमतौर पर तो सभी विद्यार्थी उसमें खाते पीते हैं। भोजन में अच्छे-अच्छे पक्वान होते और पेय में ऊँचे दर्जे की शराब। दाम अलबत्ते देना पड़ते थे। ढाई या तीन शिलिंग के करीब, अर्थात् दो या तीन रुपये से ज्यादा नहीं

होता था। यह कीमत वहाँ बहुत ही कम समझी जाती थी; क्योंकि बाहर किसी भोजनालय में भोजन करनेवाले को तो सिर्फ शराब के लिए ही इतने दाम देने पड़ते थे। भोजन के खर्च की बनिस्बत-शराब पीने वाले को शराब के ही दाम अधिक लगते हैं, हिन्दुस्तान में-यदि हम 'सुधरे' हुए न हों तो-हमें यह बडा ही आश्चर्यकारक मालूम होगा। विलायत जाने पर यह बात मालूम कर मेरे दिल को तो बड़ी चोट पहुँची। मैं यही नहीं समझ सकता था कि शराब के पीछे इतने रुपये खर्च करने को लोगों का जी कैसे होता है। पर पीछे मैं उसका रहस्य समझने लगा। शुरू में तो मैं ऐसे भोजों में कुछ भी न खाता था; क्योंकि मेरे काम की चीज़ तो वहाँ केवल रोटी, उबाले हुए आलू या गोभी ही हो सकती थी। आरम्भ में तो वे अच्छे न लगते थे; इसलिए मैं नहीं खाता था। बाद में जब जब मैं उनके स्वाद को जान सका तब तो मुझे दूसरी वस्तु प्राप्त करने का भी सामर्थ्य प्राप्त हो चुका था।

विद्यार्थियों के लिए एक प्रकार का खाना होता था और बेन्चरों (विद्यामन्दिरों के अध्यापकों) के लिए दूसरे प्रकार का और अच्छा खाना होता था। मेरे साथ एक पारसी विद्यार्थी भी थे। वे भी निरामिष भोजी बन गये थे। हम दोनों ने मिलकर बेन्चरों के भोजन के पदार्थों में से निरामिष भोजियों के खानेयोग्य पदार्थ प्राप्त करने के लिए प्रार्थना की। यह मंजूर हुई, और हमें बेन्चरों के टेबल से फलादि और दूसरे शाक भी मिलने लगे।

शराव को तो मैं छूता तक न था। चार-चार विद्यार्थियों में शराब की दो-दो बोतलें दी जाती थीं। इसलिए ऐसी चौकड़ियों में मेरी बड़ी मांग होती थी। क्योंकि मैं शराब नहीं पीता था,

इसलिए शेष दो बोतलें तीनों के हिस्से में जो आती थीं। फिर इन सत्रों में एक बड़ी रात (ग्रेंड नाइट) भी होती थी। उस दिन 'पोर्ट' और 'शेरी' के अलावा 'शेम्पेन' भी मिलती थी। शेम्पेन का मज़ा कुछ और ही समझा जाता है। इसलिए इस बड़ी रात को मेरी क़ीमत अधिक आंकी जाती थी, और उस रात को हाजिर रहने के लिए मुझे निमन्त्रण भी दिया जाता।

इस खाने-पीने से बैरिस्टरी की पढ़ाई में क्या प्रगति हो सकती है, यह मैं न तब समझ सका था और न आज ही समझ सका हूँ। हाँ, ऐसा एक समय अवश्य था कि जब ऐसे भोजों में बहुत ही थोड़े विद्यार्थी होते थे। तब उनमें और बेन्चरों में वार्तालाप होता और व्याख्यान भी दिये जाते थे। इसमें उन्हें व्यवहारज्ञान प्राप्त हो सकता था, भली-बुरी पर एक प्रकार की सभ्यता वे सीख सकते थे और व्याख्यान देने की शक्ति का विकास कर सकते थे। हमारे समय में तो यह सब असम्भव हो गया था। बेन्चर तो दूर अछूत होकर बैठते थे। इस पुराने रिवाज का बाद में कुछ भी अर्थ नहीं रह गया था, फिर भी प्राचीनता-प्रेमी धीमे-इंग्लैण्ड में वह अभी तक चला आ रहा है।

कानून की पढ़ाई बड़ी ही आसान थी। बैरिस्टर विनोद में 'डिनर बैरिस्टर' के नाम से पुकारे जाते थे। सभी जानते थे कि उसकी परीक्षा का मूल्य नहीं के बराबर है। मेरे समय में दो परीक्षायें होती थीं। रोमन-ला की और इंग्लैण्ड के कानूनों की। यह परीक्षा दो बार करके दी जाती थी। परीक्षा के लिए पुस्तकें नियत थीं, परन्तु उन्हें शायद ही कोई पढ़ता होगा। रोमन ला के लिए तो छोटे-छोटे 'नोट्स' लिखे हुए मिलते थे। उन्हें १५

दिन में पढ़कर पास होने वालों को भी मैंने देखा है। इंग्लैण्ड के कानूनों के विषय में भी यही बात होती थी। उनके 'नोट्स' को-तीन महीने में पढ़कर पास होने वाले विद्यार्थियों को भी मैंने देखा है। परीक्षा के प्रश्न आसान और परीक्षक भी उदार। रोमन लॉ में ९५ से ९९ प्रति सैकड़ा विद्यार्थी पास होते थे। और अंतिम परीक्षा में ७५ अथवा उससे भी कुछ अधिक। इसलिए अनुत्तीर्ण होने का भय बहुत ही कम रहता था। और परीक्षा भी वर्ष में एक नहीं बल्कि चार बार होती थी। ऐसी सुविधाजनक परीक्षा किसी को भी बोझ नहीं मालूम हो सकती।

परन्तु मैंने तो अपने लिए उसे बोझा ही बना लिया था। मैंने सोचा कि मुझे तो मूल पुस्तकें सब पढ़ लेनी चाहिएँ। उन्हें न पढ़ना अपने आप को धोखा देना प्रतीत हुआ। इसलिए काफी खर्च करके मूल पुस्तकें खरीद लीं। रोमन लॉ को लैटिन में पढ़ जाने का निश्चय किया। विलायत की प्रवेश-परीक्षा में मैंने लैटिन पढ़ी थी। उसका यहां अच्छा उपयोग हुआ। यह मिहनत व्यर्थ न गई। दक्षिण आफ्रिका में रोमन डच लॉ प्रमाणभूत माना जाता है। उसे समझाने में मुझे जस्टीनियन का अध्ययन बड़ा ही उपयोगी प्रतीत हुआ।

इंग्लैंड के कानूनों का अध्ययन मैं काफी मिहनत करने पर नौ महोने में पूरा कर सका था। क्योंकि ब्रुम की 'कॉमन लॉ' नामक बड़ी परन्तु सरस पुस्तक पढ़ने में ही बहुत समय लगा था। स्नेल की 'इक्विटी' में दिल तो लगा; परन्तु समझने में बड़ी ही मुश्किल मालूम हुई। व्हाइट और ट्युडर के मुख्य मुकदमों में जो जो पढ़ने के थे उन्हें पढ़ने में मुझे बड़ी दिलचस्पी मालूम हुई और उससे

ज्ञान भी मिला। विलियम्स और एडवर्डज़ की स्थावर-सम्पत्ति-सम्बन्धी पुस्तक और मुडिव की जंगम-सम्पत्तिसम्बन्धी पुस्तक मैं बड़ी दिलचस्पी के साथ पढ़ सका था। विलियम्स की पुस्तक तो मुझे उपन्यास के जैसी मालूम हुई। उसे पढ़ते हुए छोड़ने को जी न चाहता। क़ानूनी पुस्तकों में हिंदुस्तान आने के बाद, मैं मेइन का 'हिन्दू लॉ' उतनी ही दिलचस्पी के साथ पढ़ सका था। परन्तु हिन्दुस्तान के कानूनों की बात करने के लिए यह स्थान नहीं है।

परीक्षायें पास कीं। १० जून, १८९१ ई० को मैं बैरिस्टर हुआ। ग्यारहवीं तारीख़ को इंग्लैंड हाईकोर्ट में ढाई शिलिंग देकर अपना नाम रजिस्टर कराया। बारह जून को हिन्दुस्तान लौट आने के लिए रवाना हुआ।

परन्तु मेरी निराशा और भीति का कुछ ठिकाना न था। कानून मैंने पढ़ तो लिया, परन्तु मेरा दिल यही कहता था कि अभी तक मुझे कानून का इतना ज्ञान नहीं हुआ है कि वकालत कर सकूँ।

इस व्यथा का वर्णन करने के लिए एक दूसरे अध्याय की आवश्यकता होगी।

मेरी दुविधा

बैरिस्टर कहलाना तो आसान मालूम हुआ, परन्तु बैरिस्टरी करना बड़ा मुश्किल जान पड़ा। क़ानून की किताबें तो पढ़ डालीं पर वकालत करना न सीखा। क़ानून की पुस्तकों में कितने ही धर्म-सिद्धान्त मुझे मिले जो कि मुझे पसंद हुए। परन्तु यह समझ में न आया कि वकालत के पेशे में उनसे कैसे फ़ायदा उठाया जा सकेगा। 'अपनी चीज़ का इस्तैमाल इस तरह करो कि जिससे दूसरों की चीज़ को नुकसान न पहुँचे' यह धर्म-वचन मुझे कानून में मिला। परन्तु यह समझ में न आया कि वकालत करते हुए मवक्किल के मुक़द्दमे में उसका व्यवहार किस तरह किया जाता होगा। जिन मुकद्दमों में इस सिद्धान्त का उपयोग किया गया था मैंने उनको पढ़ा। परन्तु उनसे इस सिद्धान्त को व्यवहार में लाने की तरकीब हाथ न आई।

दूसरे, जिन कानूनों को मैंने पढ़ा उनमें भारतवर्ष के कानूनों का नाम तक न था। न यह जाना कि हिन्दू-शास्त्र तथा इस्लामी क़ानून क्या चीज़ हैं। अर्जी-दावा लिखना तक न जानता था। मैं बड़ी दुविधा में पड़ा। फ़ीरोजशाह मेहता का नाम मैंने सुना था वे अदालतों में सिंह समान गर्जना करते हैं। यह कला वे इंग्लैं-

में किस प्रकार सीखे होंगे ? उनके जैसी निपुणता इस जन्म में तो नहीं आने की, यह तो दूर की बात है; किंतु मुझे तो यह भी ज़बरदस्त शक था कि एक वकील की हैसियत से मैं पेट पालने तक में भी समर्थ हो सकूँगा या नहीं ?

यह उथल-पुथल तो तभी से चल रही थी जब मैं कानून का अध्ययन कर रहा था। मैंने अपनी यह कठिनाई अपने एक-दो मित्रों के सामने रक्खी। एक ने कहा, दादा भाई की सलाह लो। यह पहले ही लिख चुका हूँ कि मेरे पास दादा भाई के नाम एक परिचय -पत्र था। उस पत्र का उपयोग मैंने देर से किया। ऐसे महान् पुरूषों से मिलने जाने का मुझे क्या अधिकार है ? कहीं यदि उनका भाषण होता तो मैं सुनने चला जाता और एक कोने मे बैठ कर अपने आँख-कान को तृप्त कर के वापस लौट आता। उन्होंने विद्यार्थियों के संपर्क में आने के लिए एक मंडल की भी स्थापना की थी। उसमें मैं जाया करता। दादाभाई की विद्यार्थियों के प्रति चिन्ता और दादाभाई के प्रति विद्यार्थियों का आदर-भाव देखकर मुझे बड़ा आनंद होता। आख़िर को हिम्मत बाँधकर एक दिन वह पत्र दादाभाई को दिया। उन्होंने कहा,—'तुम जब कभी मिलना चाहो और सलाह-मशवरा लेना चाहो ज़रूर मिलना।' लेकिन मैंने उन्हें कभी तकलीफ़ न दी। बग़ैर ज़रूरी काम के उन का समय लेना मुझे पाप मालूम हुआ। इसलिए, उस मित्र की सलाह के अनुसार, दादाभाई के सामने अपनी कठिनाइयों को रखने की मेरी हिम्मत न हुई।

उसी अथवा और किसी मित्र ने मुझे मि० फ्रेडेरिक पिंकटसे मिलने की सलाह दी। मि० पिंकट कान्ज़रवेटिव दल के थे।

लेकिन भारतीयों के प्रति उनका प्रेम निर्मल और निःस्वार्थ था। बहुत से विद्यार्थी उनसे सलाह लेते। इसलिए मैंने एक पत्र लिखकर मिलने के लिए समय मांगा। उन्होंने मुझे समय दिया। मैं मिला। यह मुलाकात मैं आज तक न भूल सका। एक मित्र की तरह वे मुझसे मिले। मेरी निराशा को तो उन्होंने हंसी में ही उड़ा दिया। 'तुम क्या ऐसा मानते हो कि हर आदमी के लिए फिरोजशाह मेहता होना जरूरी है? फिरोजशाह और बदरुद्दीन तो बिरले ही होते हैं। यह तो तुम निश्चित जानो कि एक सामान्य वकील बनने के लिए भारी निपुणता की जरूरत नहीं पड़ती। साधारण प्रामणिकता तथा उद्योगशीलता से मनुष्य वकालत अच्छी तरह कर सकता है। सब के सब मुकद्दमे कठिन और उलझे हुए नहीं होते। अच्छा, तुम्हारा सामान्य ज्ञान कैसा क्या?'

मैंने जब उसका परिचय दिया तब मुझे वे कुछ निराश-से मालूम हुए। किन्तु वह निराशा क्षणिक थी। तुरंत ही फिर उनके चेहरे पर एक हंसी की रेखा दौड़ गई और वे बोलेः—

"तुम्हारी कठिनाई को अब मैं समझ पाया। तुम्हारा सामान्य ज्ञान बहुत ही कम है। तुम्हें दुनिया का ज्ञान नहीं है। इसके बिना वकील का काम नहीं चलता। तुमने तो भारत का इतिहास भी नहीं पढ़ा। वकील को मनुष्य-स्वभाव का परिचय होना चाहिए। उसे तो चेहरा देखकर आदमी को पहचान लेना चाहिए। दूसरे, हर भारतवासी को भारतवर्ष के इतिहास का भी ज्ञान होना जरूरी है। वकालत के साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं है; किन्तु उसका ज्ञान तुम्हें होना चाहिए। मैं देखता हूँ कि तुमने

'के' तथा 'मॅलेसन' कृत १८५७ के ग़दर का इतिहास नहीं पढ़ा है। उसे तो ज़रूर ही पढ़ लेना। मैं दो पुस्तकों के नाम और" बतलाता हूँ। उन्हें मनुष्य को पहचानने के लिए ज़रूर पढ़ डालना। यह कह कर उन्होंने लॅवेटर तथा शेमलपेनिक की 'मुख सामुद्रिक विद्या' (फिजियॉग्नामी) विषयक दो पुस्तकों के नाम लिख दिये।

इन बुज़ुर्ग मित्र का मैंने ख़ूब अहसान माना। उनके सामने तो एक क्षण के लिए मेरा डर भाग गया, किंतु बाहर निकलते ही फिर चिन्ता शुरू हुई। 'चेहरा देखकर आदमी को पहचान लेना' इस वाक्य को रटता-रटता और उन दो पुस्तकों का विचार करता करता घर पहुँचा। दूसरे ही रोज़ लॅवेटर की पुस्तक ख़रीद ली। शेमलपेनिक की किताब उस दुकान पर न मिली। लॅवेटर की पुस्तक पढ़ी तो सही; किन्तु वह तो स्नेल की इक्विटी की अपेक्षा भी कठिन मालूम हुई। दिलचस्प भी कम थी। शेक्सपियर के चेहरे का अध्ययन किया। लेकिन लंदन की सड़कों पर घूमते फिरते शेक्सपियरों को पहचानने की शक्ति न आई।

लॅवेटर की पुस्तक से मुझे ज्ञान नहीं मिला। मि० पिंकट की सलाह की अपेक्षा उनके स्नेह से बहुत लाभ हुआ। उनकी हंसमुख तथा उदार आकृति ने मेरे दिल में जगह कर ली। उनके इस वचन पर, कि वकालत करने के लिए फिरोज़शाह मेहता के समान निपुणता, स्मरणशक्ति आदि की आवश्यकता नहीं होती, केवल प्रामाणिकता तथा श्रमशीलता से काम चल जायगा, मेरा विश्वास बैठ गया। इन दो चीज़ों की पूँजी तो मेरे पास काफ़ी थी। इस कारण मुझे कुछ आशा बंधी।

'के' तथा 'मॅलेसन' की पुस्तक को मैं विलायत में न पढ़ पाया।

किंतु मैंने समय मिलते ही पहले उसी को पढ़ डालने का निश्चय कर लिया था। दक्षिण अफ्रिका में जाकर मेरा वह मनोरथ पूरा हुआ।

यों निराशा में आशा का थोड़ा सा मिश्रण लेकर मैंने काँपते हुए 'आसाम' स्टीमर से बंबई बन्दर पर पैर रक्खा। बंदर पर समुद्र क्षुब्ध था। लॉन्च में बैठकर किनारे पर पहुँचना था।

पहला भाग समाप्त

सत्य के प्रयोग अथवा आत्म-कथा

[दूसरा भाग]

(१)

रायचन्द भाई

पिछले अध्याय में मैं लिख चुका हूँ कि बम्बई-बन्दर पर समुद्र क्षुब्ध था। जून-जुलाई में हिन्द महासागर में यह कोई नई बात नहीं होती। अदन से ही समुद्र का यह हाल था। सब लोग बीमार थे—अकेला मैं मौज में रहा था। तूफ़ान देखने के लिए डेक पर रहता और भीग भी जाता। सुबह भोजन के समय यात्रियों में हम एक ही दो आदमी नज़र आते। हमें ओट की पतली लपसी की रकाबी को गोद में रखकर खाना पड़ता था; वर्ना हालत ऐसी थी कि लपसी गोद में ही ढुलक पड़ती।

यह बाहरी तूफ़ान मेरे लिए तो अन्दर के तूफ़ान का चिन्ह मात्र था। परन्तु बाहरी तूफान के रहते हुए भी मैं जिस प्रकार अपने को शान्त रख सकता था, वही बात आन्तरिक तूफ़ान के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। जाति वालों का सवाल सामने था ही। वकालत की चिन्ता का हाल पहले ही लिख चुका हूँ। फिर मैं ठहरा सुधारक। मन में कितने ही सुधार करने

के मनसूबे बांध रक्खे थे। उनकी भी चिन्ता थी। एक और अकल्पित चिन्ता खड़ी हो गई।

माताजी के दर्शन करने के लिए मैं अधीर हो रहा था। जब हम डाँक पर पहुँचे तो मेरे बड़े भाई वहां मौजूद थे। उन्होंने डाक्टर मेहता तथा उनके बड़े भाई से जान-पहचान कर ली थी। डाक्टर चाहते थे कि मैं उन्हीं के घर ठहरूँ। वे मुझे वहीं लिवा ले गये। इस तरह विलायत में जो सम्बन्ध बाँधा था वह देश में भी कायम रहा। यही नहीं, बल्कि अधिक दृढ़ होकर दोनों परिवारों में फैला।

माताजी के स्वर्गवास के बारे में मैं बिलकुल बे-खबर था। घर पहुँचने पर मुझे यह समाचार सुनाया और स्नान कराया। यह खबर मुझे विलायत में भी दी जा सकती थी; पर मेरे बड़े भाई ने बम्बई पहुँचने तक खबर न पहुँचाने का ही निश्चय किया—इस विचार से कि मुझे आघात कम पहुँचे। अपने इस दुःख पर मैं परदा डालना चाहता हूँ। पिताजी की मृत्यु से अधिक आघात मुझे इस समाचार को पाकर पहुँचा। मेरे कितने ही मनसूबे मिट्टी में मिल गये। पर, मुझे याद है, कि इस समाचार को सुनकर मैं रोने, पीटने नहीं लगा था। आँसू तक को प्रायःरोक पाया था। और इस तरह व्यवहार शुरू रक्खा मानों माताजी की मृत्यु हुई ही न हो।

डाक्टर मेहता ने अपने घर के जिन लोगों से परिचय कराया, उनमें से एक का जिक्र यहाँ किये बिना नहीं रह सकता। उनके भाई रेवाशंकर जगजीवन के साथ तो जीवन भर के लिए स्नेह-गांठ बंध गई। परन्तु जिनकी बात मैं कहना चाहता हूँ वे तो हैं

कवि रायचन्द्र अथवा राजचन्द । वे डाक्टर साहब के बड़े भाई के दामाद थे और रेवाशंकर जगजीवन की दुकान के भागीदार तथा कार्यकर्ता थे । उनकी अवस्था उस समय २५ वर्ष से अधिक न थी । फिर भी पहली ही मुलाकात में मैंने यह देख लिया कि वे चरित्रवान् और ज्ञानी थे । वे शतावधानी माने जाते थे । डाक्टर मेहता ने मुझसे कहा कि इनके शतावधान का नमूना देखना । मैंने अपने भाषा-ज्ञान का भंडार खाली कर दिया और कविजी ने मेरे कहे तमाम शब्दों को उसी नियम से कह सुनाया जिस नियम से मैंने कहा था । इस सामर्थ्य पर मुझे ईर्ष्या तो हुई; किन्तु उस पर मैं मुग्ध न हो पाया । जिस चीज़ पर मैं मुग्ध हुआ उसका परिचय तो मुझे पीछे जाकर हुआ । वह था उनका विशाल शास्त्र ज्ञान, उनका निर्मल चरित्र और अत्म-दर्शन करने की उनकी भारी उत्कण्ठा । मैंने आगे चलकर जाना कि केवल आत्म-दर्शन करने के लिए वे अपना जीनव व्यतीत कर रहे थे ।

हसतां रमतां प्रकट हरि देखूँ रे,
मारुं जीव्युं सफल तव लेखुँ रे,
मुक्तानंद नो नाथ बिहारी रे,
ओधा जीवन दोरी अमारी रे ।*

मुक्तानन्द का यह वजन उनकी ज़बान पर तो रहता ही था; पर उनके हृदय में भी अंकित हो रहा था ।

खुद हज़ारों का व्यापार करते, हीरे-मोती की परख करते, व्यापार की गुत्थियाँ सुलझाते । पर वे बातें उनका विषय न थीं ।

* भावार्थ—मैं अपना जीवन तभी सफल समझूँगा जब मैं हँसते खेलते ईश्वर को अपने सामने देखूँगा निश्चय-पूर्वक वही मुक्तानंद का जीवन-सूत्र है । अनु०

उनका विषय—उनका पुरुषार्थ—तो आत्म-साक्षात्कार—हरिदर्शन था। दुकान पर और कोई चीज़ हो या न हो, एक न एक धर्म पुस्तक और डायरी ज़रूर रहा करती। व्यापार की बात जहाँ खतम हुई कि धर्म-पुस्तक खुलती अथवा रोज़नामचे पर क़लम चलने लगती। उनके लेखों का जो संग्रह गुजराती में प्रकाशित हुआ है उसका अधिकांश इस रोज़नामचे के ही आधार पर लिखा गया है। जो मनुष्य लाखों के सौदे की बात करके तुरन्त आत्म-ज्ञान की गूढ़ बातें लिखने बैठ जाता है वह व्यापारी की श्रेणी का नहीं, बल्कि शुद्ध ज्ञानी की कोटि का है। उसके संबध में यह अनुभव मुझे एक बार नहीं अनेक बार हुआ है। मैंने उन्हें कभी मूर्छित—ग़ाफिल—नहीं पाया। मेरे साथ उनका कुछ स्वार्थ न था। मैं उनके बहुत निकट समागम में आया हूँ। मैं उस वक्त एक ठलुआ बेरिस्टर था। पर जब मैं उनकी दुकान पर पहुँच जाता तो वे धर्म-वार्ता के सिवा दूसरी बातें न करते। इस समय तक मैं अपने जीवन का मार्ग न देख पाता था; यह भी नहीं कह सकते कि धर्म-वार्ताओं में मेरा मन लगता था। फिर भी मैं कह सकता हूँ कि रायचन्दभाई की धर्म-वार्ता मैं भाव से सुनता था। उसके बाद कितने ही धर्माचार्यों के संपर्क में मैं आया हूँ, प्रत्येक धर्म के आचार्यों से मिलने का मैंने प्रयत्न किया है; पर जो छाप मेरे दिल पर रायचन्द भाई की पड़ी वह किसी की न पड़ सकी। उनकी कितनी ही बातें मेरे ठेठ अंतस्तल तक पहुँच जातीं। उनकी बुद्धि को मैं आदर की दृष्टि से देखता था। उनकी प्रामाणिकता पर भी मेरा उतना ही आदर-भाव था। और इससे मैं जानता था कि वे मुझे जान-बूझकर उलटे रास्ते नहीं ले जायँगे एवं मुझे वही

बात कहेंगे जिसे वे अपने जी में ठीक समझते होंगे। इस कारण मैं अपनी आध्यात्मिक कठिनाइयों में उनकी सहायता लेता।

रायचन्द भाई के प्रति इतना आदर-भाव रखते हुए भी मैं उन्हें धर्म-गुरु का स्थान अपने हृदय में न दे सका। धर्म-गुरु की तो खोज मेरी अब तक चल रही है।

हिन्दू-धर्म में गुरु-पद को जो महत्व दिया गया है उसे मैं मानता हूँ। 'गुरु बिन होत न ज्ञान' यह वचन बहुतांश में सच है। अक्षर-ज्ञान देने वाला शिक्षक यदि अधकचरा हो तो एक बार काम चल सकता है परन्तु आत्म-दर्शन कराने वाले अधूरे शिक्षक से काम हरगिज़ नहीं चलाया जा सकता। गुरु-पद तो पूर्ण ज्ञानी को ही दिया जा सकता है। सफलता गुरु की खोज में ही है; क्योंकि गुरु शिष्य की योग्यता के अनुसार ही मिला करते हैं। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक साधक को योग्यता प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने का पूरा-पूरा अधिकार है। इस प्रयत्न का फल ईश्वराधीन है।

इसलिए रायचन्द भाई को मैं, यद्यपि, अपने हृदय का स्वामी न बना सका तथापि हम आगे चलकर देखेंगे कि उनका सहारा मुझे समय समय पर, कैसा मिलता रहा है। यहाँ तो इतना ही कहना बस होगा कि मेरे जीवन पर गहरा असर डालने वाले तीन आधुनिक मनुष्य हैं। रायचन्द भाई ने अपने सजीव संसर्ग से, टाल्स्टाय ने 'वैकुण्ठ तुम्हारे हृदय में है' नामक पुस्तक द्वारा तथा रस्किन ने 'अन्टु धिस लास्ट'—सर्वोदय नामक पुस्तक से मुझे चकित कर दिया। इन प्रसंगों का वर्णन अपने-अपने स्थान पर किया जायगा।

(२)

संसार-प्रवेश

बड़े भाई ने तो मुझ पर बहुतेरी आशायें बाँध रक्खी थीं। उन्हें धन का, कीर्ति का, और पद का लोभ बहुत था। उनका हृदय बादशाह की तरह था। उदारता उड़ाऊ-पन तक उन्हें ले जाती। इससे तथा उनके भोलेपन के कारण मित्र करते उन्हें देर न लगती। इन मित्रों के द्वारा उन्होंने मेरे लिए मुकदमे लाने की तजवीज कर रक्खी थी। उन्होंने यह भी मान लिया था कि मैं खूब रुपया कमाने लगूँगा और इस भरोसे पर उन्होंने घर का खर्च भी खूब बढ़ा लिया था। मेरे लिए वकालत का क्षेत्र तैयार करने में भी उन्होंने कसर न उठा रक्खी थी।

जाति का झगड़ा अभी खड़ा ही था। दो दल हो गये थे। एक दल ने मुझे तुरन्त जाति में लेलिया। दूसरा न लेने के पक्ष में अलग रहा। जाति में ले लेने वाले दल को सन्तुष्ट करने के लिए राजकोट में पहुँचने के पहले, भाई साहब मुझे नाशिक लेगये। वहाँ गंगास्नान कराया और राजकोट पहुँचते ही जाति-भोज दिया गया।

यह बात मुझे रुचिकर न हुई। बड़े भाई का मेरे प्रति अगाध प्रेम था। मेरा ख्याल है कि मेरी भक्ति भी वैसी ही थी। इसलिए

उनकी इच्छा और आज्ञा मान कर मैं, यंत्र की तरह, बिना समझे, उसके अनुसार करता चला गया। जाति की समस्या तो इतना करने से सुलझ गई।

जिस दल से मैं पृथक् रहा उसमें प्रवेश करने के लिए मैंने कभी कोशिश न की। और न मैं कभी जाति के मुखिया पर मन में क्रुद्ध ही हुआ। उसमें ऐसे लोग भी थे जो मुझे तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे। उनसे मैं नमता-झुकता रहता। जाति के बहिष्कार-विषयक नियम का पूरा पालन करता। अपने सास-ससुर अथवा बहन के यहाँ पानी तक न पीता। वे छिपे-छिपे मिलाने को तैयार होते थे; पर जिस बात को चार आदमियों के सामने नहीं कर सकते उसे लुक-छिपकर करने को मेरा जी न चाहता।

मेरे इस व्यवहार का परिणाम यह हुआ कि मुझे याद नहीं आता जाति वालों ने कभी कोई उपद्रव मेरे साथ किया हो। यही नहीं, बल्कि यद्यपि मैं आज भी जाति के एक विभाग से नियम के अनुसार बहिष्कृत माना जाता हूँ, फिर भी मैंने अपने प्रति उनकी तरफ से मान और उदारता का ही अनुभव किया है। उन्होंने मुझे मेरे काम में मदद की है, और मुझसे इस बात की जरा भी आशा न रक्खी कि मैं जाति के लिहाज़ से कोई काम करूँ। मेरी यह धारणा है कि इस मधुर फल का कारण है मेरा अप्रतिकार। यदि मैंने जाति में जाने की कोशिश की होती, अधिक दलबन्दी करने की चेष्टा की होती, जाति वालों को छेड़ा और उकसाया होता तो वे अवश्य मेरे खिलाफ उठ खड़े होते और मैं, विलायत से आते ही, उदासीन और अलिप्त रहने के

बदले, कुचक्र के फंदे में पड़कर केवल मिथ्यात्व का पोषक बन जाता।

पत्नी के साथ मेरा सम्बन्ध अभी, जैसा मैं चाहता था, न हुआ। विलायत जाने पर भी अपने द्वेष-दुष्ट स्वभाव को मैं न छोड़ सका था। हर बात में मेरी दोष देखने की वृत्ति और वहम जारी रहा। इससे मैं अपने मनोरथों को पूरा न कर सका। सोचा था कि पत्नी को लिखना-पढ़ना सिखाऊँगा; परन्तु मेरी विषयासक्ति ने मुझे यह काम बिलकुल न करने दिया और अपनी इस कमी का गुस्सा मैंने पत्नी पर निकाला। एक बार तो यहाँ तक नौबत आ पहुँची कि मैंने उसे नैहर भेज दिया और बहुत कष्ट देने के बाद ही फिर साथ रहने देना स्वीकार किया। आगे चलकर मैं देख सका कि यह मेरी बिलकुल नादानी थी।

बालकों की शिक्षा प्रणाली में भी मुझे बहुत कुछ सुधार करने थे। बड़े भाई के लड़के-बच्चे तो थे ही। मैं भी एक बच्चा छोड़ गया था, जो कि अब चार साल का होने आया था। सोचा यह था कि इन बच्चों को कसरत कराऊँगा, हट्टा-कट्टा बनाऊँगा और अपने साथ रक्खूँगा। भाई इसमें सहमत थे। इसमें मैं कुछ न कुछ सफलता प्राप्त कर सका। लड़कों का समागम मुझे बहुत प्रिय मालूम हुआ। और उनके साथ हँसी-मजाक करने की आदत आजतक बाकी रह गई है। तभी से मेरी यह धारणा हुई है कि मैं लड़कों के शिक्षक का काम अच्छा कर सकता हूँ।

भोजन पान में भी सुधार करने की आवश्यकता स्पष्ट थी। घर में चाय-काफ़ी को तो स्थान मिल ही चुका था। बड़े भाई ने सोचा कि भाई के विलायत से घर आने के पहले; घर में, विला-

यत की कुछ न कुछ हवा तो घुस ही जानी चाहिए। इस कारण चीनी के बरतन, चाय आदि जो भी चीजें पहले महज दवादारू के लिए अथवा नई रोशनी के मिहमानों के लिए घर में रहती थीं, अब सबके लिए काम आने लगीं। ऐसे वायु-मण्डल में मैं अपने 'सुधारों' को लेकर आया। अब ओट मील की पतली लपसी शुरू हुई; चाय-काफ़ी की जगह कोको आया। पर यह परिवर्तन नाम-मात्र का हुआ, वास्तव में तो चाय-काफ़ी में कोको और आ कर शामिल हो गया। बूट और मोजों ने अपना अड्डा पहले से जमा ही रक्खा था। मैंने अब कोट-पतलून से घर पवित्र कर दिया!

इस तरह खर्च बढ़ा। नवीनतायें बढ़ीं। घर पर सफेद हाथी बंधा। पर खर्च आवे कहाँ से? यदि राजकोट में आते ही वकालत शुरू करता तो हँसी होने का डर था। क्योंकि मुझे तो अभी इतना भी ज्ञान न था की राजकोट में पास हुए वकीलों के सामने खड़ा रह सकता और तिसपर फीस उससे दस गुनी लेने का दावा! कौन मवक्किल ऐसा बेवकूफ था, जो मुझे अपना वकील बनाता? अथवा यदि कोई ऐसा मूर्ख मिल भी जाता तो क्या यह उचित था कि मैं अज्ञान में उद्धतता और धोखेबाजी की जोड़ मिला कर अपने पर संसार का कर्ज बढ़ाता?

मित्रों की यह सलाह पड़ी कि मैं कुछ समय बंबई जा कर हाईकोर्ट में अनुभव प्राप्त करूं और भारत के कानून-कायदों का अध्ययन करूँ। साथ ही मुकदमे मिलजायँ तो वकालत भी करता रहूँ। मैं बम्बई रवाना हुआ।

घर-बार रचा। रसोइया रक्खा। वह तकदीर से मिला मुझ जैसा ही। ब्राह्मण था। मैंने उसे नौकर की तरह नहीं रक्खा था

वह नहाता तो था, पर धोता न था। धोती मैली, जनेऊ मैला शास्त्राध्ययन की तो बात ही दूर है। अधिक अच्छा रसोइया कहाँ से लाता ?

'क्यों रविशंकर, रसोई बनाना तो जानते हो, पर सन्ध्या वगैरा भी कुछ याद है ?'

'सन्ध्या, साहब ? सन्ध्या तो है हमारी हल और कुदाली है खटकरम। मैं तो ऐसा ही बिरामण हूँ। आप जैसे हैं, तो निबाह लेते हैं। नहीं तो खेती बनी बनाई हुई है।'

मैंने उसके सम्बन्ध में अपना कर्तव्य समझा—मुझे रविशंकर का शिक्षक बनना होगा। समय तो बहुत था ही. आधी रसोई रविशंकर पकाता और आधी मैं। विलायत के अन्न-भोजन के प्रयोग यहाँ शुरू किये। एक स्टो खरीदा। मैं खुद तो पंक्ति-भेद मानता ही न था। रविशंकर को भी उसमें आपत्ति न थी। सो हमारी जोड़ी खासी मिल गई। सिर्फ इतनी शर्त—अथवा मुसीबत कहिए—थी; कि रविशंकर ने मैले-कुचैलेपन से नाता तोड़ने और रसोई साफ रखने की कसम खा रक्खी थी।

पर मैं चार-पाँच मास से अधिक बम्बई न रह सकता था। क्योंकि खर्च बढ़ता ही जाता था और आमदनी कुछ न होती थी।

इस तरह जो मैंने संसार में प्रवेश किया तो वैरिस्टरी मुझे खलने लगी। आडम्बर बहुत, आमदनी कम। जिम्मेवारी का ख्याल मुझे भीतर ही भीतर कुतर-कुतर कर खाने लगा

(३)

पहला मुकदमा

बम्बई में एक ओर कानून का अध्ययन शुरू हुआ, दूसरी ओर भोजन के प्रयोग। उसमें मेरे साथ वीरचंद गांधी सम्मिलित हुए। तीसरी ओर भाई साहब मेरे लिए मुकदमे खोजने में लगे।

कानून पढ़ने का काम ढिलाई में चला। सिविल प्रोसिजर कोड किसी तरह आगे नहीं चल सका। हाँ, कानून शहादत ठीक चला। वीरचंद गांधी सालिसीटरी की तैयारी करते थे, इसलिए वकीलों की बातें बहुत करते—'फिरोजशाह की योग्यता और निपुणता का कारण है उनका कानून-विषयक अगाध ज्ञान। कानून शहादत तो उन्हें बर-ज़बान है। दफ़ा बत्तीस का एक-एक मुकदमा वे जानते हैं। बदरुद्दीन तैयबजी की बहस करने और दलीलें देने की शक्ति ऐसी अद्भुत है कि जज लोग भी चकित हो जाते हैं।'

ज्यों-ज्यों मैं ऐसे अतिरथी-महारथियों की बातें सुनता, त्यों-त्यों मेरे छक्के छूटते।

'बैरिस्टर लोगों का पाँच-सात साल तक अदालतों में मारे-

मारे फिरना; कोई ग़ैर-मामूली बात नहीं है। इसीसे मैंने सालि-सिटर होना ठीक समझा है। तीन साल के बाद यदि तुम अपने खर्च भर के लिए पैदा कर सको तो बहुत समझना।'

खर्च हर महीने लग रहा था। बाहर बैरिस्टर की तख्ती लगी रहती और अन्दर बैरिस्टरी की तैयारी होती रहती! मेरा दिल इन दोनों बातों की संगति किसी प्रकार न लगा सकता था। इस कारण मेरा अध्ययन बड़ी विकलता के साथ होता। मैं पहले कह चुका हूँ कि कानून शहादत में कुछ मेरा दिल लगा। मेन का 'हिन्दू लॉ' बड़ी दिलचस्पी के साथ पढ़ा। परन्तु पैरवी करने की हिम्मत अभी न आई। अपना यह दुःख मैं किससे कहता? ससुराल में नवागत बहू की तरह मेरी हालत हो गई।

इतने ही में ममीबाई का मुकदमा मुझे मिला। मामला स्मालकाज कोर्ट में था। प्रश्न उपस्थित हुआ कि 'दलाल को कमीशन देना पड़ेगा'। मैंने साफ़ इनकार कर दिया।

'परन्तु अदालत फौजदारी के नामी वकील भी तो कमी-शन देते हैं, जो कि तीन-चार हजार महीना कमा लेते हैं।'

'मुझे उनकी बराबरी नहीं करना। मुझे तो ३००) मासिक मिल जायँ तो बस। पिताजी को कहाँ इससे ज्यादा मिलते थे?'

'पर वह जमाना निकल गया। बम्बई का खर्च कितना है। ज़रा व्यवहार की बातों को भी देखना चाहिए।'

मैं टस से मस न हुआ। कमीशन न देने दिया। ममीबाई का मुकदमा तो चला ही। मुकदमा था आसान। मुझे ३०) मिहनताना मिला था। एक दिन से ज्यादा का काम न था।

स्मालकाज कोर्ट में पहले पहल मैं पैरवी करने गया। मैं

मुद्दालेह की तरफ से था। इसलिए मुझे जिरह करनी थी। मैं खड़ा हुआ; पर पैर काँपने लगे, सिर घूमने लगा। मुझे मालूम हुआ सारी अदालत घूम रही है। सवाल क्या पूछूँ, यह सूझ नहीं पड़ता था। जज हँसा होगा। वकीलों को तो मजा आया ही होगा। पर उस समय मेरी आँखें ये सब बातें नहीं देख सकती थीं।

मैं बैठ गया। दलाल से कहा कि मैं इस मामले की पैरवी न कर सकूँगा। तुम पटेल को वकालतनामा दे दो और अपनी यह फीस वापस लेलो। ५१) देकर उसी दिन पटेल साहब से तय कर लिया। उनके लिए तो यह बांये हाथ का खेल था।

मैं वहाँ से सटका। पता नहीं, मुवक्किल हारा या जीता। मैं बड़ा लज्जित हुआ। निश्चय किया कि जब तक पूरी-पूरी हिम्मत न आ जाय, तब तक कोई मुकदमा न लूँगा। और दक्षिण आफ्रिका जाने तक अदालत में न गया। इस निश्चय में कोई गुण न था। हारने के लिए कौन अपना मुकदमा मुझे देता? अतएव मेरे इस निश्चय के बिना भी कोई मुझे अदालत में पैरवी करने आने का कष्ट न देता।

पर बम्बई में अभी एक और मुकदमा मिलना बाकी था। इसमें सिर्फ अर्जी लिखना थी। एक गरीब मुसलमान की जमीन पोरबन्दर में जब्त हो गई थी। मेरे पिताजी का नाम वह जानता था और इसलिए वह उनके बैरिस्टर पुत्र के पास आया था। मुझे उसका मामला कमजोर मालूम हुआ; परन्तु मैंने अर्जी लिख देना मंजूर कर लिया। छपाई का खर्च मवक्किल से ठहरा मैंने अर्जी तैयार की। मित्रों को दिखाई। उन्होंने उसे पास किया, तब मुझे कुछ विश्वास हुआ कि हाँ, अब अर्जियाँ लिख लेने

लायक हो जाऊँगा, और इतना लायक तो हो भी गया था।

पर मेरा काम बढ़ता गया। यों मुफ्त में अर्जियाँ लिखते रहने से अर्जियाँ लिखने का मौका तो मिलता; पर उसमें 'राम जन्म' का सवाल कैसे हल हो सकता था ?

मैंने सोचा कि मैं शिक्षक का काम तो अवश्य कर सकता हूँ अँग्रेजी मेरी अच्छी थी। इसलिए यदि किसी स्कूल में मैट्रिक क्लास की अँग्रेजी पढ़ाने का अवसर मिले तो अच्छा हो। कुछ तो आमदनी हुआ करेगी।

मैंने अखबारों में पढ़ा—'चाहिए, अंग्रेजी शिक्षक। रोज एक घण्टे के लिए। वेतन ७५)' यह एक प्रख्यात हाईस्कूल का विज्ञापन था। मैंने दरख्वास्त दी। रोबरू मिलने का हुक्म मिला। मैं बड़ी उमंग से गया। पर जब आचार्य को मालूम हुआ कि बी. ए. नहीं हूँ तब उन्होंने मुझे दुःख के साथ वापस लौटा दिया।

'पर मैंने लन्दन से मैट्रिक पास किया है मेरी दूसरी भाषा लैटिन थी।'

'सो तो ठीक; पर हमें तो ग्रेजुएट की जरूरत है।'

मैं लाचार रहा। मेरे हाथ-पांव ठण्डे हो गये। बड़े भाई भी चिन्ता में पड़े। हम दोनों ने सोचा कि बंबई में समय गँवाना फजूल है। मुझे राजकोट में ही सिलसिला जमाना चाहिए। भाई खुद एक वकील थे। अर्जियाँ लिखने का कुछ न कुछ काम तो दिला ही सकेंगे। फिर राजकोट में घर भी था। वहाँ रहने से बंबई का सारा खर्च कम हो सकता था। मैंने इस सलाह को पसंद किया। पांच-छः महीने रहकर बंबई से डेरा-डण्डा उठाया।

बंबई रहते हुए मैं रोज हाईकोर्ट जाता। पर यह नहीं कह

सकता कि वहाँ कुछ सीख पाया। इतना ज्ञान न था कि सीख सकता। कितनी ही बार तो मुकदमे में कुछ समझ ही न पड़ता, न दिल ही लगता। बैठे बैठे झोंके भी खाया करता। और भी झोंके खाने वाले यहाँ थे—इससे मेरी शर्म का बोझ हलका हो जाता। आगे चल कर मेरा ख्याल हुआ कि हाईकोर्ट में बैठेबैठे नींद के झोंके खाना एक फैशन ही समझ लेना चाहिए। फिर तो शर्म का कारण ही न रह गया।

यदि इस युग में बंबई में मुझ जैसे कोई बेकार बेरिस्टर हों तो उनके लिए एक छोटा सा अपना अनुभव यहाँ लिख देता हूँ।

मकान मेरा गिरगाँव में था। फिर भी कभी-कभी गाड़ी किराये करता। ट्राम में भी मुश्किल से बैठता। गिरगाँव से नियम-पूर्वक बहुत करके पैदल ही जाता। खासे ४५ मिनिट लगते लौटता भी बिला नागा पैदल ही। धूप सहने की आदत डाल ली थी। इससे मैंने खर्च में किफायत भी बहुत की और मैं एक दिन भी वहाँ बीमार न पड़ा—हालाँ कि मेरे साथी बीमार होते रहते थे। जब मैं कमाने लगा था, तब भी मैं पैदल ही आफिस जाता। उसका लाभ मैं आजतक पा रहा हूँ।

(४)

पहला आघात

बंबई से निराश हो कर राजकोट गया। अलहदा दफ्तर खोला। कुछ सिलसिला चला। अर्जियां लिखने का काम मिलने लगा और प्रतिमास लगभग २०० की आमदनी होने लगी। इन अर्जियों के मिलने का कारण मेरी योग्यता नहीं बल्कि जर्या था। बड़े भाई साहब के साथी वकील की वकालत अच्छी चलती थी। जो बहुत जरूरी और रहस्यपर्ण अर्जियाँ आतीं अथवा जिन्हें वे महत्वपूर्ण समझते वे तो बड़े बैरिस्टर के पास जातीं, मुझे तो सिर्फ उनके गरीब मवक्किलों की अर्जियाँ मिलतीं।

बम्बई वाली कमीशन न देनेकी मेरी टेक यहाँ न निभ सकी। वहाँ और यहाँ की स्थिति का भेद मुझे समझाया गया—बंबई में तो दलाल को कमीशन देने की बात थी; यहाँ वकील को देने की बात है। मुझसे कहा गया कि बम्बई की तरह यहाँ भी तमाम बैरिस्टर, बिना अपवाद के कुछ न कुछ कमीशन अवश्य दिया करते हैं। भाई साहब की दलील का उत्तर मेरे पास न था। 'तुम देखते हो कि मैं एक दूसरे वकील का साझी हूँ। मेरे पास आने वाले मुकदमों में से तुम्हारे लायक मुकदमे तुम्हें देने की

ओर मेरी प्रवृत्ति स्वभावतः रहती है और यदि तुम अपनी फीस का कुछ अंश मेरे साझी को न दो तो मेरी स्थिति कितनी विषम हो सकती है ? हम तो एक साथ रहते हैं, इसलिए मुझे तो तुम्हारी फीस का लाभ मिल ही जाता है; पर मेरे साझीदार को नहीं मिलता। किंतु यदि वही मुकदमा वह किसी दूसरे को दे दे तो उसे उसका हिस्सा अवश्य मिलेगा।' मैं इस दलील के चक्कर में आ गया और मेरे मन ने कहा—'यदि मुझे बैरिस्टरी करना है, तो फिर ऐसे मुकदमों में कमीशन न देने का आग्रह मुझे न रखना चाहिए।' मैं झुक गया। अपने मन को फुसलाया अथवा स्पष्ट शब्दों में कहें तो धोखा दिया। पर इसके सिवा दूसरे किसी मामले में कमीशन दिया हो, यह मुझे याद नहीं पड़ता।

इस तरह यद्यपि मेरा आर्थिक सिलसिला तो लग गया; परन्तु इसी अरसे में मुझे अपने जीवन में एक पहली ठेस लगी। अब तक मैंने सिर्फ कानों से सुन रक्खा था कि ब्रिटिश अधिकारी कैसे होते हैं। पर अब अपनी आखों देखने का अवसर मिला।

पोरबन्दर के भूतपूर्व राणा साहब को गद्दी मिलने के पहले मेरे भाई उनके मन्त्री और सलाहकार थे। उस समय उन पर यह तोहमत लगाई गई कि ये राणा साहब को उलटी सलाह देते हैं। तत्कालीन पोलिटिकल एजण्ट से उनकी शिकायत की गई थी और उनका ख्याल भाई सा० के प्रति खराब हो रहा था। इन साहब से मैं विलायत में मिला था। वहाँ उनकी मेरी ठीक-ठीक मित्रता हो गई थी। भाई सा० ने सोचा कि इस परिचय से लाभ उठाकर मैं पोलिटिकल एजण्ट से दो बातें कहूँ और उनके दिल पर जो कुछ बुरा असर पड़ा हो उसे दूर करने की

चेष्टा करूँ। मुझे यह बात बिलकुल पसन्द न हुई। मैंने कहा— 'विलायत की ऐसी-वैसी मुलाकात का फायदा यहाँ न उठाना चाहिए। यदि भाई सा० ने सचमुच ही कोई बुरा काम किया हो तो फिर सिफारिश से लाभ ही क्या? यदि न किया हो तो फिर बा-कायदा अपना वक्तव्य पेश करना चाहिए अथवा अपनी निर्दोषता पर विश्वास रखकर निर्भय हो रहना चाहिए।' पर भाई सा० को यह बात न पटी। 'तुम काठियावाड़ से परिचित नहीं हो। जिंदगी की खबर तुम्हें अब पड़ेगी। यहाँ जर्या और मेल-मुलाकात से सब काम होता है। तुम्हारे जैसा भाई हो और तुम्हारे मुलाकाती हाकिम को थोड़ी सी सिफारिश करने का जब वक्त आवे तब तुम इस तरह पिण्ड छुड़ा लो, यह उचित नहीं।'

भाई की बात मैं न टाल सका। अपनी इच्छा के खिलाफ मैं गया। मुझे उस हाकिम के पास जाने का कुछ अधिकार न था। मैं जानता था कि जाने में मेरा आत्माभिमान जाता है। मैंने मिलने का समय माँगा। वह मिला और मैं गया। मैंने पुरानी पहचान निकाली परन्तु मैंने तुरन्त देखा कि विलायत और काठियावाड़ में भेद था। हुकूमत की कुर्सी पर डंटे हुए साहब और विलायत में छुट्टी पर गये हुए साहब में भेद था। पोलिटिकल एजण्ट को मुलाकात तो याद आई; पर साथ ही अधिक बेरुख भी हुए। उनकी बेरुखाई में मैंने देखा, उनकी आंखों में मैंने पढ़ा—'उस परिचय से लाभ उठाने तो तुम यहाँ नहीं न आये हो?' यह जानते समझते हुए भी मैंने अपना सुर छेड़ा। साहब अधीर हुए— 'तुम्हारे भाई कुचक्री हैं। मैं तुम से ज्यादा बात नहीं सुनना चाहता। मुझे समय नहीं है। तुम्हारे भाई को कुछ कहना हो तो

बाकायदा अर्जी पेश करें।' यह उत्तर बस था; यथार्थ था; परन्तु गरज बावली होती है। मैं अपनी बात कहता ही जा रहा था। साहब उठे। बोले—'अब तुमको चला जाना चाहिए।'

मैंने कहा—' पर, मेरी बात तो पूरी सुन लीजिए' साहब लाल-पीले हुए—'चपरासी इसको दरवाजे के बाहर करदो।

'हुजूर' कहकर चपरासी दौड़ आया। मेरा चर्खा अभी तक चल ही रहा था। चपरासी ने मेरा हाथ पकड़ा और दरवाजे के बाहर कर दिया।

साहब चले गये, चपरासी भी चला गया। मैं भी चला, झुंझलाया, खिसियाना हुआ। मैंने साहब को चिट्ठी लिखी—'आपने मेरा अपमान किया है, चपरासी से मुझपर हमला कराया है। मुझसे माफी मांगो, नहीं तो बाकायदा मान-हानि का दावा करूँगा।' चिट्ठी भेजदी। थोड़ी ही देर में साहब का सवार जवाब ले आया

'तुमने मेरे साथ असभ्यता का बर्ताव किया। तुमसे कह दिया था कि जाओ फिर भी तुम न गये। तब मैंने जरूर चपरासी को कहा कि इन्हें दरवाजे के बाहर कर दो और चपरासी को ऐसा कहने पर भी तुम बाहर नहीं गये। तब उसने हाथ पकड़ कर तुम्हें दफ्तर से बाहर कर दिया। तुमको जो कुछ करना हो, शौक से करो।' जबाब का भाव यह था।

इस जवाब को जेब में रख अपना-सा मुँह ले, मैं घर आया भाई से सारा हाल कहा। उन्हें दुःख हुआ। पर वे मेरी सान्त्वना क्या कर सकते थे? वकील मित्रों से सलाह ली। क्योंकि खुद मैं दावा दायर करना कहाँ जानता था? उस समय सर फिरोज शाह मेहता अपने किसी मुकदमे में राजकोट आये थे। मुझ जैसा

नया बैरिस्टर भला उनसे कैसे मिल सकता था ? जिस वकील की मार्फत वे आये थे उनके द्वारा कागज-पत्र भेजकर सलाह ली। उत्तर मिला कि गांधी से कहना—'ऐसी बातें तो तमाम वकील-बैरिस्टरों के अनुभव में आई होंगी। तुम अभी नये हो। तुमपर अभी विलायत की हवा का असर है, तुम ब्रिटिश अधिकारी को पहचानते नहीं। यदि तुम चाहते हो कि सुख से बैठकर दो पैसे कमा लें तो उस चिट्ठी को फाड़ डालो और अपमान की यह घूँट पी डालो। मामला चलाने में तुम्हे एक कौड़ी न मिलेगी और मुफ्त में बरबादी हाथ आवेगी। जिंदगी का अनुभव तो तुम्हे अभी मिलना बाकी है।'

मुझे यह नसीहत जहर की तरह कड़वी लगी। परन्तु इस कड़वी घूँट को पीये बिना चारा न था। मैं इस अपमान को भूल तो न सका; पर मैंने उसका सदुपयोग किया,—'अब से मैं अपने को ऐसी हालत में न डालूँगा। इस तरह किसी की सिफारिश आगे न करूँगा'। इस नियम का भंग मैंने फिर कभी न किया। इस आघात ने मेरे जीवन की दिशा बदल दी।

(५)

दक्षिण आफ्रिका की तैयारी

पोलिटिकल एजन्ट के पास मेरा जाना अवश्य अनुचित था; परन्तु उसकी अधीरता, उसका रोष, उसकी उद्धतता के सामने मेरा दोष बहुत छोटा हो गया। मेरे दोष की सजा धक्का दिलाना न थी। मैं उसके पास पाँच मिनिट भी न बैठा हूँगा। पर मेरा तो बातचीत करना ही उसे ना गवार हो गया। वह मुझे सौजन्य के साथ जाने के लिए कह सकता था, परन्तु हुकूमत के नशे की सीमा न थी। बाद को मुझे मालूम हुआ कि धीरज जैसी किसी चीज को यह शख्स न जानता था। मिलने जानेवाले का अपमान करना उसके लिए मामूली बात थी। जहाँ उसकी रुचि के खिलाफ कोई बात हुई कि फौरन् उसका मिजाज बिगड़ जाता।

मेरा ज्यादातर काम उसीकी अदालत में था। इधर खुशामद मुझ से हो नहीं सकती थी। और उसे नाजायज तरीके से खुश करना मैं चाहता न था। नालिश करने की धमकी देकर नालिश न करना और उसे कुछ भी जवाब न देना मुझे अच्छा न लगा।

इस बीच काठियावाड़ की अन्दरूनी सट-पट का भी मुझे कुछ अनुभव हुआ। काठियावाड़ अनेक छोटे-छोटे राज्यों का प्रदेश

है। वहाँ राजकाजी लोगों की बहुतायत होना स्वाभाविक था। राज्यों में परस्पर गहरे षड्यन्त्र, पद-प्रतिष्ठा पाने के लिए षड्यन्त्र, राजा कच्चे कान के और पराधीन। साहबों के चपरासियों की खुशामद, सरिश्तेदार को डेढ़ साहब समझिए—क्योंकि सरिश्तेदार साहब की आँख, साहब के कान, और उसका दुभाषिया सब कुछ। सरिश्तेदार जो बतादे वही कायदा। सरिश्तेदार की आमदनी साहब की आमदनी से ज्यादा मानी जाती। संभव है कि इसमें कुछ अत्युक्ति हो। पर यह बात निर्विवाद है कि सरिश्तेदार के थोड़े वेतन के मुकाबले में उसका खर्च ज्यादा रहता था।

यह वायुमंडल मुझे ज़हर के समान प्रतीत हुआ। दिनरात मेरे मन में यह विचार रहने लगा कि अपनी स्वतंत्रता की रक्षा किस तरह कर सकूँगा।

होते-होते मैं उदासीन रहने लगा। भाई ने मेरा भाव देखा। यह विचार आया कि कहीं कोई नौकरी मिलजाय तो इन षड्यन्त्रां से पिंड छूट सकता है। परन्तु बिना षड्यन्त्र के न्यायाधीश अथवा दीवान का पद कहाँ से मिल सकता था?

और वकालत करने के रास्ते में साहब के साथ का झगड़ा खड़ा हुआ था।

पोरबन्दर में राणा साहब को अख्त्यारात न थे, उसके लिए कुछ अधिकार प्राप्त कराने की तजबीज चल रही थी। मेर लोगों से ज्यादा लगान लिया जाता था। उसके संबन्ध में भी मुझे एडिमिनिस्ट्रेटर—मुख्य राज्याधिकारी से मिलना था। मैंने देखा एडमिनिस्ट्रेटर के देशी होते हुए भी उनका रौब-दाब साहब से ज्यादा था। वे थे तो योग्य; परन्तु उनकी योग्यता का लाभ प्रजाजन को

बहुत न मिलता था। अन्त में राणा साहब को तो थोड़े अधिकार मिले। परन्तु मेर लोगों के हाथ कुछ न आया। मेरा ख्याल है कि उनकी तो बात भी पूरी न सुनी गई।

इसलिए यहाँ भी मैं अपेक्षाकृत निराश हुआ। मुझे लगा कि इन्साफ नहीं हुआ। इन्साफ पाने के लिए मेरे पास कोई साधन न था। बहुत हुआ तो बड़े साहब के यहाँ अपील कर दी। वह हुक्म लगा देता—'हम इस मामले में दखल नहीं दे सकते।' ऐसा फैसला यदि किसी कानून-कायदे के बलपर किया जाता हो तब भी आशा की जा सकती है। पर यहाँ तो साहब की इच्छा ही कानून था।

आखिर मेरा जी ऊब उठा। इसी अवसर पर भाई साहब के पास पोरबन्दर की एक मेमन दुकान का संदेसा आया—'दक्षिण आफ्रिका में हमारा व्यापार है। बड़ा कारोबार है। भारी मुक-दमा चल रहा है। दावा चालीस हजार पौंड का है। बहुत दिनों से मामला चल रहा है। हमारी तरफ से बड़े-बड़े और अच्छे बैरिस्टर हैं। यदि आप अपने भाई को वहाँ भेज दें, तो हमें भी मदद मिलेगी और उनको भी कुछ मदद हो जायगी। वे हमारा मामला हमारे वकीलों को अच्छी तरह समझा सकेंगे। इसके सिवा नये देश की यात्रा होगी और नये नये लोगों से जान पहचान होगी सो अलग।'

भाई साहब ने मुझसे जिक्र किया। मैं सारी बात अच्छी तरह न समझ सका। मैं यह न जान सका कि सिर्फ वकीलों को समझाने का काम है या मुझे अदालत में भी जाना पड़ेगा। पर मेरा जी ललचाया जरूर।

दादा अबदुल्ला के हिस्सेदार स्वर्गीय सेठ अबदुलकरीम जवेर की मुलाकात भाई ने कराई। सेठ ने कहा—'तुमको बहुत मिहनत नहीं करनी पड़ेगी। बड़े-बड़े गोरों से हमारी दोस्ती है उनसे तुम्हारा परिचय होगा। हमारी दुकान के काम में भी तुम मदद कर सकोगे। हमारे यहाँ अंग्रेज़ी चिट्ठी-पत्री बहुत होती है। उसमें भी तुम्हारी मदद मिल सकेगी। तुम्हारे रहने का प्रबंध हमारे ही बंगले में रहेगा। इस तरह तुम पर कुछ भी खर्च न पड़ेगा।'

मैंने पूछा—'कितने दिन तक मुझे वहाँ काम करना पड़ेगा? मुझे वेतन क्या मिलेगा?'

'एक साल से ज्यादा तुम्हारा काम न रहेगा। आने-जाने का फर्स्ट क्लास का किराया और भोजन-खर्च के अलावा १०५ पौण्ड दे देंगे।'

यह वकालत नहीं, नौकरी थी। परन्तु मुझे तो जैसे-तैसे हिन्दुस्तान छोड़ देना था। सोचा कि नई दुनिया देखेंगे और नया अनुभव मिलेगा सो अलग। १०५ पौंड भाई साहब को भेज दूंगा तो घर-खर्च में कुछ मदद हो जायगी। यह सोच कर मैंने तो वेतन के सम्बन्ध में बिना कुछ खींचा-खींच किये सेठ अब्दुलकरीम की बात मान ली और दक्षिण आफ्रिका जाने के लिए तैयार हो गया।

(८)

नेटाल पहुँचा

विलायत जाते समय जो वियोग-दुःख हुआ था, वह दक्षिण अफ्रिका जाते हुए न हुआ। क्योंकि माताजी तो चल बसी थीं और मुझे दुनिया का और सफर का अनुभव भी बहुत-कुछ हो गया था। राजकोट और बम्बई तो आया-जाया करता ही था। इस कारण अबकी बार सिर्फ पत्नी का ही वियोग दुःखकर था। विलायत से आने के बाद दूसरे एक बालक का जन्म हो गया था। हम दम्पति के प्रेम में अभी विषय का अंश तो था ही। फिर भी उसमें निर्मलता आने लगी थी। मेरे विलायत से लौटने के बाद हम बहुत थोड़ा समय एक-साथ रहे थे और मैं ऐसा-वैसा क्यों न हो, उसका शिक्षक बन चुका था। इधर पत्नी की बहुतेरी बातों में बहुत कुछ सुधार करा चुका था और उन्हें कायम रखने के लिए भी साथ रहने की आवश्यकता हम दोनों को मालूम होती थी। परन्तु आफ्रिका मुझे आकर्षित कर रहा था। उसने इस वियोग को सहन करने की शक्ति दे दी थी। 'एक साल के बाद तो हम मिलेंगे ही' कह कर और दिलासा देकर मैंने राजकोट छोड़ा, और बम्बई पहुँचा।

दादा अब्दुल्ला के बम्बई के एजण्ट के मार्फत मुझे टिकट

लेना था। परन्तु जहाज पर कैबिन खाली न थी। यदि मैं यह चूक जाऊँ तो फिर मुझे एक मास तक बम्बई में हवा खानी पड़े। एजण्ट ने कहा—'हमने तो खूब दौड़ धूप कर ली। हमें टिकिट नहीं मिलता। हाँ, डेक में जाँय तो बात दूसरी है। भोजन का इन्तजाम सलून में हो सकता है। ये दिन मेरे फर्स्टक्लास की यात्रा के थे। बैरिस्टर भला कहीं डेक में सफर कर सकता है? मैंने डेक में जाने से इन्कार कर दिया। मुझे एजण्ट की बात पर शक भी हुआ। यह बात मेरे मानने में न आई कि पहले दरजे का टिकिट मिल ही नहीं सकता। अतएव एजन्ट से पूछ कर खुद मैं ही टिकिट लाने चला। जहाज पर पहुँचकर बड़े अफसर से मिला। पूछने पर उसने सरल भाव से उत्तर दिया—'हमारे यहाँ मुश्किल से इतनी भीड़ होती है। परन्तु मोजांबिक के गवर्नर जनरल इसी जहाज से जा रहे हैं। इससे सारी जगह भर गई है।'

'तब क्या आप किसी प्रकार मेरे लिए जगह नहीं कर सकते?' अफसर ने मेरी ओर देखा, हँसा और बोला—'एक उपाय है। मेरी केबिन में एक बैठक खाली रहती है। उसमें तो हम यात्रियों को नहीं बैठने देते। पर आपके लिए मैं जगह कर देने को तैयार हूँ।' मैं खुश हुआ। अफसर को धन्यवाद दिया। सेठ से कहकर टिकिट मंगाया। एप्रिल १८९३ ई० को मैं बड़ी उमंग के साथ अपना तकदीर अजमाने के लिए दक्षिण आफ्रिका रवाना हुआ।

पहला बन्दर लामू मिला। कोई तेरह दिन में वहाँ पहुँचे। रास्ते में कप्तान के साथ खासा स्नेह हो गया था। कप्तान को शतरंज खेलने का शौक था। पर वह अभी नौसिखिया था।

उसे अपने से कम जानकार खिलाड़ी की जरूरत थी और उसने मुझे खेलने के लिए बुलाया। मैंने शतरंज का खेल कभी न देखा था। हाँ, सुन खूब रक्खा था। खेलने वाले कहा करते कि इसमें बुद्धि की खासी परीक्षा होती है। कप्तान ने कहा—'मैं तुम्हें सिखा ऊँगा।' मैं उसे मन चहा शिष्य मिला; क्योंकि मुझमें धीरज काफी था। मैं हारता ही रहता। और ज्यों-ज्यों मैं हारता, कप्तान बड़े उत्साह और उमंग से सिखाता। मुझे यह खेल पसंद आया। परन्तु जहाज से नीचे वह कभी साथ न उतरा। राजा-रानी की चालें जानने से अधिक मैं न सीख सका।

लामू बन्दर आया। जहाज वहाँ तीन-चार घण्टे ठहरने वाला था। मैं बन्दर देखने को नीचे उतरा। कप्तान भी गया था। पर उसने मुझ से कह दिया था—'यहाँ का समुद्र दगाबाज है, तुम जल्दी वापस आ जाना।'

गाँव छोटा-सा था। वहाँ डाक घर में गया तो हिन्दुस्तानी आदमी देखे। मुझे खुशी हुई। उनके साथ बातें की। हबशियों से मिला। उनकी रहन-सहन में दिलचस्पी पैदा हुई। उसमें कुछ समय चला गया। डेक के और यात्री भी वहाँ आ गये थे। उनसे परिचय हो गया था। वे भोजन पका कर आराम से खाना खाने नीचे उतरे थे। मैं वापस आने के लिए उनकी नाव में बैठा समुद्र में ज्वार भी खासा था। हमारी नाव में बोझ भी काफी था। तनाव इतने जोर का था कि नाव की रस्सी जहाज की सीढ़ी के साथ किसी तरह न बंधती थी। नाव जहाज के पास जा जाकर फिर हट जाती। जहाज रवाना होने की पहली सीटी हुई। मैं घबड़ाया। कप्तान ऊपर से देख रहा था। उसने

पाँच मिनिट जहाज को रोक लिया। जहाज के पास एक मछवा था। उसे १०) देकर एक मित्र ने किराये किया, मछवे ने मुझे नाव में से उठा लिया। जहाज की सीढ़ी ऊपर चढ़ चुकी थी। रस्सी के बल मैं ऊपर खींचा गया और जहाज चलने लगा। दूसरे यात्री बेचारे रह गये। कप्तान की उस चेतावनी का मतलब अब मैंने समझा।

लामू से मुम्बासा और वहाँ से जंजीबार पहुँचे। जंजीबार में तो बहुत ठहरना था—८ या १० दिन। यहाँ से नये जहाज में बैठना था।

कप्तान के प्रेम की सीमा न थी। इस प्रेम ने मेरे लिए विपरीत रूप धारण किया। उसने मुझे अपने साथ सैर करने जाने के लिए बुलाया। उसका एक अंग्रेज मित्र भी साथ था। हम तीनों कप्तान के मछवे में उतरे। इस सैर का मर्म मैं बिलकुल न जानता था। कप्तान को क्या खबर, कि ऐसी बातों में मैं बिलकुल अनजान हूँगा। हम तो हबशी औरतों के मुहल्ले में जा पहुँचे। एक दलाल हमें वहाँ ले गया। तीनों एक एक कमरे में दाखिल हुए। पर मैं तो शर्म का मारा कमरे में घुसा बैठा ही रहा। उस बेचारी बाई के मनमें क्या क्या विचार आये होंगे, यह तो वही जानती होगी। थोड़ी देर में कप्तान ने आवाज लगाई मैं तो जैसा अन्दर घुसा था वैसा ही वापस बाहर आ गया। यह देखकर कप्तान मेरा भोलापन समझ गया। शुरू में तो मुझे बड़ी ही शर्म मालूम हुई। परन्तु इस काम को तो मैं किसी तरह पसंद कर ही नहीं सकता था। इससे शर्म चली गई और मैंने ईश्वर का उपकार माना कि उस बहन को देखकर मेरे मन

में किसी प्रकार का विकार तक न उत्पन्न हुआ। मुझे अपनी इस कमजोरी पर बड़ी ग्लानि हुई कि मैं कमरे में प्रवेश करने से इन्कार करने का साहस क्यों न कर सका।

मेरे जीवन में इस प्रकार की तीसरी परीक्षा थी। कितने ही नवयुवक शुरूआत में निर्दोष होते हुए भी झूठी शर्म से बुराई में लिप्त हो जाते होंगे। मेरा बचाव मेरे पुरुषार्थ के बदौलत नहीं हुआ था। यदि मैंने कमरे में जाने से साफ इन्कार कर दिया होता तो पुरुषार्थ समझा जा सकता था। सो मेरे इस बचाव के लिए तो एकमात्र ईश्वर का ही उपकार मानना चाहिए। इस घटना से ईश्वर पर मेरी आस्था दृढ़ हुई और झूठी शर्म छोड़ने का साहस भी कुछ आया।

जंजीबार में एक सप्ताह रहना था। इस लिए एक मकान किराये लेकर मैं शहर में रहा। खूब घूम-फिर कर शहर को देखा। जंजीबार की हरियाली की कल्पना सिर्फ मलाबार में ही हो सकती है। वहाँ के विशाल वृक्ष बड़े-बड़े फल, इत्यादि देखकर मैं तो चकित रह गया।

जंजीबार से मोजांबिक और वहाँ से लगभग मई के अंत में नेटाल पहुँचा।

(७)

कुछ अनुभव

नेटाल का बन्दर यों तो डरबन कहलाता है पर नेटाल को भी बन्दर कहते हैं। मुझे बन्दर पर लिवाने अब्दुल्ला सेठ आये थे। जहाज धक्के पर आया। नेटाल के जो लोग जहाज पर अपने मित्रों को लेने आये थे उनके [illegible]ग-ढंग को देख कर मैं समझ गया कि यहाँ हिन्दुस्तानियों का विशेष आदर नहीं। अब्दुल्ला सेठ की जान पहचान के लोग उनके साथ जैसा बर्ताव करते थे उसमें एक प्रकार की क्षुद्रता दिखाई देती थी और उससे मेरे दिल को चोट पहुँचती थी। क्योंकि अब्दुल्ला सेठ इस फजीहत के आदी हो गये थे। मुझ पर जिनकी नजर पड़ती जाती वे मुझे कुतूहल से देखते थे। क्योंकि मेरा लिबास ऐसा था कि मैं दूसरे भारतवासियों से कुछ निराला मालूम होता था। उस समय मैं फ्राकृकोट आदि पहने था और सिर पर बङ्गाली तर्ज की पगड़ी दिये था।

मुझे घर लिवा ले गये। वहाँ अब्दुल्ला सेठ के कमरे के पास का कमरा मुझे दिया गया। अभी वे मुझे नहीं पहचान पाये थे; मैं भी उन्हें नहीं पहचान पाया था। उनके भाई की दी हुई चिट्ठी उन्होंने पढ़ी और बेचारे पशोपेश में पड़ गये। उन्होंने

समझ लिया कि भाई ने तो यह सफेद हाथी घर बँधवा दिया। मेरा साहबी ठाट-बाट उन्हें बड़ा खर्चीला मालूम हुआ। क्योंकि मेरे लिए उस समय उनके यहाँ कोई खास काम तो था नहीं। मामला उनका चल रहा था ट्रांसवाल में। सो तुरन्त ही वहाँ भेजकर वे क्या करते? फिर यह भी एक सवाल था कि मेरी काबलियत और इमानदारी का विश्वास भी किस हद तक किया जाय? और प्रिटोरिया में खुद मेरे साथ वे रह नहीं सकते थे। मुद्दाअलेह प्रिटोरिया में रहते थे। कहीं उनका बुरा असर मुझ पर होने लगे तो? और यदि वे मामले का काम मुझे न दें तो और काम तो उनके कर्मचारी मुझ से भी अच्छा कर सकते थे। फिर कर्मचारी से यदि भूल हो जाय, तो कुछ कह सुन भी सकते थे। मुझे तो कहने से भी रहे। काम यातो कारकुनी का था या मुकदमे का—तीसरा था नहीं। ऐसी हालत में यदि मुकदमे का काम मुझे नहीं सौंपते हैं तो घर बैठे मेरा खर्च उठाना पड़ता था।

अबदुल्ला सेठ पढ़े-लिखे बहुत कम थे। अक्षर-ज्ञान कम था, पर अनुभव-ज्ञान बहुत बढ़ा-चढ़ा था। उनकी बुद्धि तेज थी; और वे खुद भी इस बात को जानते थे। रफ्त से अंग्रेजी इतनी जान ली थी कि बोलचाल का काम चला लेते। परन्तु इतनी अंग्रेजी के बल पर वे अपना सारा काम निकाल लेते थे। बैंक में मैनेजरों से बातें कर लेते, यूरोपियन व्यापारियों से सौदा कर लेते, वकीलों को अपना मामला समझा देते। हिन्दुस्तानियों में उनका काफ़ी मान था। उनकी पेढ़ी उस समय हिन्दुस्तानियों में सबसे बड़ी पेढ़ी नहीं तो बड़ी पेढ़ियों में से अवश्य थी। उनका स्वभाव वहमी था।

वे इस्लाम का बड़ा अभिमान रखते थे। तत्वज्ञान की बातों के शौकीन थे। अरबी न जानते थे; फिर भी कुरान शरीफ की तथा आम तौर पर इसलामी धर्म-साहित्य की वाकफीयत उन्हें अच्छी थी। दृष्टांत तो जबान पर हाजिर रहते थे। उनके सहवास से मुझे इस्लाम का अच्छा व्यवहार-ज्ञान हुआ। जब हम एक दूसरे को जान-पहचान गये, तब वे मेरे साथ बहुत धर्म चर्चा किया करते।

दूसरे या तीसरे दिन मुझे डरबन की अदालत देखने ले गये। वहाँ कितने ही लोगों से परिचय कराया। अदालत में अपने वकील के पास मुझे बिठाया। मजिस्ट्रेट मेरे मुँह की ओर देखता रहा। उसने कहा—अपनी पगड़ी उतार लो। मैंने इन्कार किया और अदालत से बाहर चला आया।

मेरे नसीब में तो यहाँ भी लड़ाई लिखी थी।

पगड़ी उतरवाने का रहस्य अब्दुल्ला सेठ ने मुझे समझाया, मुसल्मानी लिबास पहनने वाला अपनी मुसल्मानी पगड़ी यहाँ पहन सकता है। दूसरे भारतवासियों को अदालत में जाते हुए अपनी पगड़ी उतार लेनी चाहिए।

इस सूक्ष्म भेद को समझाने के लिए यहाँ कुछ बातें विस्तार के साथ लिखनी होंगी।

मैंने इन दो तीन दिन में ही यहाँ देख लिया था कि हिन्दुस्तानियों ने यहाँ अपने-अपने जत्थे बना लिये थे। एक जत्था था मुसल्मान व्यापारियों का—वे अपने को 'अरब' कहते थे। दूसरा जत्था था हिन्दू अथवा पारसी कारकुन-पेशा लोगों का। हिन्दू कारकुन अधर में लटकता था। कोई अपने को

'अरब' में शामिल कर लेता। पारसी अपने को परशियन कहते। तीनों एक दूसरे से सामाजिक सम्बन्ध तो रखते थे। एक चौथा और बड़ा समूह था तामिल, तेलगू और उत्तरी भारत के गिरमिटिया अथवा गिरमिटमुक्त भारतीयों का। गिरमिट 'एग्रिमेंट' का बिगड़ा हुआ रूप है। इसका अर्थ है इकरारनामा, जिसके द्वारा गरीब हिन्दुस्तानी पांच साल मजूरी करने की शर्त पर नेटाल जाते थे। गिरमिट से गिरमिटिया बना है। इस समुदाय के साथ औरों का व्यवहार काम संबंधी ही रहता था। इन गिरमिटियों को अंग्रेज कुली कहते। कुली की जगह 'सामी' भी कहते। सामी एक प्रत्यय है जो बहुतेरे तामिल नामों के अन्त में लगता है। सामी का अर्थ है स्वामी। स्वामी का अर्थ हुआ पति। अतएव सामी शब्द पर जब कोई भारतीय बिगड़ पड़ता, और यदि उसकी हिम्मत पड़ी, तो उस अंग्रेज से कहता—'तुम मुझे सामी तो कहते हो; पर जानते हो सामी के मानी क्या होते हैं ? सामी 'पति' को कहते हैं क्या मैं तुम्हारा पति हूँ ?' यह सुन कर कोई अंग्रेज शरमिंदा हो जाता, कोई खीज उठता और ज्यादा गालियाँ देने लगता और मौका पड़े तो मार भी बैठता। क्योंकि उसके नजदीक तो 'सामी' शब्द घृणा सूचक होता था। उसका अर्थ पति करना मानों उसका अपमान करना था।

इस कारण मुझे कुली-बैरिस्टर कहते। व्यापारी कुली-व्यापारी कहलाते। कुली का मूल अर्थ 'मजूर' तो एक ओर रह गया। व्यापारी कुली शब्द से चिढ़कर कहता—'मैं कुली नहीं, मैं तो अरब हूँ; अथवा 'मैं व्यापारी हूँ।' कोई कोई विनयशील अंग्रेज यह सुनकर माफी माँग लेते।

ऐसी स्थिति में पगड़ी पहनने का सवाल विकट हो गया। पगड़ी उतार देने का अर्थ था मान-भंग सहन करना। सो मैंने तो यह तरकीब सोची कि हिन्दुस्तानी पगड़ी को उतार कर अंग्रेजी टोप पहना करूँ, जिससे उसे उतारने में मान-भंग का भी सवाल न रह जाय और मैं इस झगड़े से भी बच जाऊँ।

पर अबदुल्ला सेठ को यह तरकीब पसन्द न हुई। उन्होंने कहा—'यदि आप इस समय ऐसा परिवर्तन करेंगे तो उसका विपरीत अर्थ होगा। जो लोग देशी पगड़ी पहने रहना चाहते होंगे उनकी स्थिति विषम हो जायगी। फिर आपके सिर पर तो अपने ही देश की पगड़ी शोभा देती है। आप यदि अंग्रेजी टोप लगावेंगे तो लोग 'वेटर' समझेंगे।'

इन वचनों में दुनियवी समझदारी थी, देशाभिमान था, और कुछ संकुचितता भी थी। दुनियवी समझदारी तो स्पष्ट ही है। देशाभिमान के बिना पगड़ी पहनने का आग्रह नहीं हो सकता था। संकुचितता के बिना 'वेटर' की उपमा न सूझती। गिरमिटिया भारतीयों में हिन्दू, मुसलमान और ईसाई तीन विभाग थे। जो गिरमिटिया ईसाई हो गये उनकी सन्तति ईसाई थी। १८९३ ई० में भी उनकी संख्या बड़ी थी। वे सब अंग्रेजी लिवास में रहते। उनका अच्छा हिस्सा होटल में नौकरी करके जीविका उपार्जन करता। इसी समुदाय को लक्ष्य करके अंग्रेजी टोप पर अबदुल्ला सेठ ने यह टीका की थी। उसके अन्दर यह धारणा विद्यमान थी कि होटल में 'वेटर' बनकर रहना हलका काम है। आज भी यह विश्वास बहुतों के मन में कायम है।

समष्टि रूप से अबदुल्ला सेठ की बात मुझे अच्छी मालूम

हुई। मैंने पगड़ी वाली घटना पर, पगड़ी का तथा मेरे पक्ष का समर्थन, अखबारों में किया। अखबारों में उस पर खूब चर्चा चली। 'अनवेलकम विज़िटर—'अनिमन्त्रित अतिथि'—के नाम से मेरा नाम अख़बारों में आया, और तीन ही चार दिन के अन्दर अनायास ही दक्षिण आफ्रिका में मेरी प्रख्याति हो गई। किसी ने मेरा पक्ष-समर्थन किया, किसी ने मेरी उद्दंडता की भर-पेट निन्दा की।

मेरी पगड़ी तो लगभग अन्त तक कायम रही। कब उतरी यह बात हमें अन्तिम भाग में मालूम होगी।

---

(८)

प्रिटोरिया जाते हुए—

डरबन में रहने वाले ईसाई भारतीयों के सम्पर्क में भी मैं तुरन्त आगया। वहाँ की अदालत के दुभाषिया श्री पाल रोमन कैथोलिक थे। उनसे परिचय किया और प्रोटेस्टेन्ट मिशन के शिक्षक स्वर्गीय श्री सुभान गाडफ्रे से भी मुलाकात की। उन्हीं के पुत्र जेम्स गाडफ्रे पिछले साल यहाँ के दक्षिण आफ्रिका के भारतीय प्रतिनिधि मण्डल में आये थे। इन्हीं दिनों स्वर्गीय पारसी रुस्तमजी से जान-पहचान हुई। और इसी समय स्वर्गीय आदमजी मियाँखान से परिचय हुआ। ये सब लोग आपस में बिना काम एक-दूसरे से न मिलते थे, अब इसके बाद वे मिलने-जुलने लगेंगे।

इस तरह मैं परिचय बढ़ा रहा था कि इसी बीच दुकान के वकील का पत्र मिला कि मुकदमे की तैयारी होनी चाहिए तथा या तो अबदुल्ला सेठ को खुद प्रिटोरिया जाना चाहिए अथवा दूसरे किसी को वहाँ भेजना चाहिए।

यह पत्र अबदुल्ला सेठ ने मुझे दिखाया और पूछा—'आप प्रिटोरिया जायँगे ?' मैंने कहा—मुझे मामला समझा दीजिए तो कह सकूँ। अभी तो मैं नहीं जान सकता कि वहाँ क्या करना होगा। उन्होंने अपने गुमाश्तों के जिम्मे मामला समझाने का काम किया। मैंने देखा कि मुझे तो अ-आ-इ-ई से शुरूआत करना होगी। जंजीबार में उतरकर वहां की अदालतें देखने के लिए गया था। एक

पारसी वकील किसी गवाह का बयान ले रहा था और जमा-नामे के सवाल पूछ रहा था। मुझे जमा नामे की कुछ खबर न पड़ती थी क्योंकि बही खाता न तो स्कूल में सीखा था और न विलायत में।

मैंने देखा कि इस मुकदमे का तो दारोमदार बही खातों पर ही है। जिसे बही खाते का ज्ञान हो वही मामले को समझ-समझा सकता है। गुमाश्ता जमा-नामे की बातें करता था और मैं चक्कर में पड़ता चला जाता था। मैं नहीं जानता था कि पी-नोट क्या चीज होती है। कोष में यह शब्द मिलता नहीं। मैंने गुमाश्तों के सामने अपना अज्ञान प्रकट किया और उनसे जाना कि पी-नोट का अर्थ है प्रामिसरी नोट। अब मैंने बही खाते की पुस्तक खरीद कर पढ़ी। तब जाकर कुछ आत्म-विश्वास हुआ और मामला समझ में आया। मैंने देखा कि अब्दुल्ला सेठ नामा लिखना नहीं जानते थे; पर अनुभव-ज्ञान उनका इतना बढ़ा चढ़ा था कि नामे की उलझनें चट-चट सुलझाते जाते। अन्त को मैंने उनसे कहा—'मैं प्रिटोरिया जाने के लिए तैयार हूँ।'

'आप कहाँ ठहरेंगे'—सेठ ने पूछा।

'जहां आप कहेंगे।' मैंने उत्तर दिया।

'तो मैं अपने वकील को लिखूँगा। वे आपके ठहरने का इन्तजाम कर देंगे। प्रिटोरिया में मेरे मेमन मित्र हैं। उन्हें भी मैं लिखूँगा तो—पर आपका उनके यहाँ ठहरना उचित न होगा। वहाँ अपने प्रतिपक्षी की पहुँच बहुत है। आपको जो मैं खानगी चिट्ठियाँ लिखूँगा वे यदि उनमें से कोई पढ़ लें तो अपना सारा मामला बिगड़ सकता है। उनके साथ जितना कम संबंध हो

उतना ही अच्छा ।'

मैंने कहा—'आपके वकील जहाँ ठहरावेंगे वहीं ठहरूँगा । अथवा मैं कोई दूसरा मकान रख लूँगा । आप बेफिक्र रहिए, आपकी एक भी खानगी बात बाहर न जायगी । पर मैं मिलता-जुलता सबसे रहूँगा । मैं तो प्रतिपक्षी वालों से भी मित्रता करना चाहता हूँ । यदि हो सकेगा तो मैं मामले को आपस में भी निपटाने की कोशिश करूँगा । क्योंकि आखिर तैयब सेठ हैं तो आपके रिश्तेदार ही न ?'

प्रतिवादी स्वर्गीय सेठ तैयब हाजी खानमहम्मद अबदुल्ला सेठ के नजदीकी रिश्तेदार थे ।

मैंने देखा मेरी इस बात से अबदुल्ला सेठ कुछ चौंके, पर अब मुझे डरबन पहुँचे छः सात दिन हो गये थे और हम एक दूसरे को जानने-समझने भी लगे थे। अब मैं 'सफेद हाथी' प्रायः नहीं रह गया था । वे बोले—

'हाँ......आ......आ । यदि समझौता होजाय तो उससे बढ़कर उम्दा बात क्या हो सकती है ? पर हम तो परस्पर रिश्तेदार हैं, इसलिए एक दूसरे को अच्छी तरह जानते हैं । तैयब सेठ आसानी से मान लेने वाले शख्स नहीं हैं । हम यदि भोले-भाले बनकर रहें तो वे हमारे पेट की बात निकाल कर पीछेसे फँसा मारेंगे । ऐसी हालत में आप जो कुछ करें बहुत सोच-समझ कर होशियारी से करें ।'

आप बिलकुल चिन्ता न करें । मुकदमे की बात तो तैयब सेठ क्या और दूसरे क्या, किसी से मैं क्यों करने लगा ? पर यदि दोनो आपस में समझ लें तो वकीलों के घर न भरना पड़ेंगे

सातवें या आठवें दिन मैं डरबन से रवाना हुआ। मेरे लिए पहले दरजे का टिकट लिया गया। सोने की जगह के लिए वहाँ ५ शिलिंग का एक अलहदा टिकट लेना पड़ता था। अबदुल्ला सेठ ने आग्रह के साथ कहा कि सोने का टिकिट ले लो, पर मैंने कुछ तो हठ में, कुछ मद में और कुछ पांच शिलिंग बचाने क नीयत से, इन्कार कर दिया।

अबदुल्ला सेठ ने मुझे चेताया—'देखना, यह मुल्क और है; हिन्दुस्तान नहीं। खुदा की मेहरबानी है, आप पैसे का ख्याल न करना, अपने आराम का सब इन्तजाम कर लेना।'

मैंने उन्हें धन्यवाद दिया और कहा कि आप मेरी चिंता न कीजिएगा।

नेटाल की राजधानी मेरित्सबर्ग में ट्रेन कोई ९ बजे पहुँची। यहाँ सोनेवालों को बिछौने दिये जाते थे। एक रेलवे के नौकर ने आकर पूछा—'आप बिछौना चाहते हैं?'

मैंने कहा—'मेरे पास मेरा बिछौना है।'

वह चला गया। इस बीच एक यात्री आया। उसने मेरी ओर देखा। मुझे हिन्दुस्तानी देखकर चकराया। बाहर गया और एक-दो कर्मचारियों को लेकर आया। किसीने मुझसे कुछ न कहा। अन्त को एक अफ़सर आया। उसने कहा—'चलो, तुमको दूसरे डब्बे में जाना होगा।'

मैंने कहा—'पर मेरे पास पहले दरजे का टिकट है।'

उसने उत्तर दिया—'परवा नहीं, मैं तुमसे कहता हूँ कि तुम्हें आखिरी डब्बे में बैठना होगा।'

'मैं कहता हूँ कि मैं डरबन से इसी डब्बे में बिठाया गया हूँ और इसी में जाना चाहता हूँ ।'

अफ़सर बोला—'यह नहीं हो सकता। तुम्हें उतरना होगा और नहीं तो सिपाही आकर उतार देगा।'

मैंने कहा—'तो अच्छा सिपाही आकर भले ही मुझे उतारे, मैं अपने-आप न उतरूँगा।'

सिपाही आया। उसने हाथ पकड़ा और धक्का मारकर मुझे नीचे गिरा दिया। मेरा सामान नीचे उतार लिया। मैंने दूसरे डब्बे में जाने से इन्कार किया। गाड़ी चल दी। मैं वेटिंगरूम में जा बैठा। हैंडबैग अपने साथ रक्खा। दूसरे सामान को मैंने हाथ न लगाया। रेलवे वालों ने सामान कहीं रखवा दिया।

मौसम जाड़े का था। दक्षिण आफ्रिका में ऊँची जगहों पर बड़े जोर का जाड़ा पड़ता है। मेरित्सबर्ग ऊँचाई पर था—इससे खूब जाड़ा लगा। मेरा ओवरकोट मेरे सामान में रह गया था। सामान माँगने की हिम्मत न पड़ी। कहीं फिर बे-इज्जती न हो। जाड़े में सिकुड़ता और ठिठुरता रहा। कमरे में रोशनी न थी। आधी रात के समय एक मुसाफिर आया। ऐसा जान पड़ा मानों वह कुछ बात करना चाहता हो, पर मेरे मन की हालत ऐसी न थी कि बातें करता।

मैंने सोचा, मेरा कर्तव्य क्या है? 'या तो मुझे अपने हकों के लिए लड़ना चाहिए, या वापस लौट जाना चाहिए। अथवा जो बेइज्जती हो रही है, उसे बरदाश्त करके प्रिटोरिया पहुँचूँ और मुकदमे का काम खतम करके देश चला जाऊँ। मुकदमे को अधूरा छोड़कर भाग जाना तो कायरता होगी। मुझ पर जो कुछ बीत रही है

वह तो ऊपरी चोट है—वह तो भीतर के महारोग का एक बाह्य लक्षण है। यह महा रोग है रंग-द्वेष। यदि इस गहरी बीमारी को उखाड़ फेंकने का सामर्थ्य हो तो उसका उपयोग करना चाहिए। उसके लिए जो कुछ कष्ट और दुःख सहन करना पड़े; सहना चाहिए। इन अन्यायों का विरोध उसी हद तक करना चाहिए जिस हद तक उसका सम्बन्ध रंग-द्वेष दूर करने से हो।'

ऐसा संकल्प करके मैंने जिस तरह हो दूसरी गाड़ी से आगे जाने का निश्चय किया।

सुबह मैंने जनरल मैनेजर को तार द्वारा एक लम्बी शिकायत लिख भेजी। दादा अबदुल्ला को भी समाचार भेजे। अबदुल्ला सेठ तुरन्त जनरल मैनेजर से मिले। जनरल मैनेजर ने अपने आदमियों का पक्ष तो लिया, पर कहा कि मैंने स्टेशन मास्टर को लिख दिया है कि गांधी को बिना खटखशा अपने मुकाम पर पहुँचा दो। अबदुल्ला सेठ ने मेरित्सबर्ग के हिंदू व्यापारी को भी मुझसे मिलने तथा मेरा प्रबन्ध करने के लिए तार दिया तथा दूसरे स्टेशनों पर भी ऐसे तार दे दिये। इससे व्यापारी लोग स्टेशन पर मुझसे मिलने आये। उन्होंने अपने पर होने वाले अन्यायों का जिक्र मुझसे किया और कहा कि आप पर जो-कुछ बीता है वह कोई नई बात नहीं। पहले-दूसरे दरजे में जो हिन्दुस्तानी सफर करते हैं उन्हें क्या कर्मचारी और क्या मुसाफिर दोनों सताते हैं। सारा दिन इन्हीं बातों के सुनने में गया। रात हुई, गाड़ी आई। मेरे लिए जगह तैयार थी। डरबन में सोने के लिए जिस टिकट को लेने से इन्कार किया था, वही मेरित्सबर्ग में लिया।

ट्रेन मुझे चार्ल्सटाउन ले चली।

(६)

और कष्ट

चार्ल्सटाउन ट्रेन सुबह पहुँचती है। चार्ल्सटाउन से जोहान्सबर्ग तक पहुँचने के लिए उस समय ट्रेन न थी। घोड़ा-गाड़ी थी और बीच में एक रात स्टैंडरटन में रहना पड़ता था। मेरे पास घोड़ा-गाड़ी का टिकट था। मेरे एक दिन पिछड़ जाने से यह टिकट रद्द न होता था। फिर अबदुल्ला सेठ ने चार्ल्स-टाउन के घोड़ागाड़ी वाले को तार भी दे दिया था। पर उसे तो बहाना बनाना था। इसलिए मुझे एक अनजान आदमी समझकर उसने कहा—'तुम्हारा टिकट तो रद्द हो गया है'। मैंने उचित उत्तर दिया। यह कहनेका कि 'टिकट रद्द हो गया है' कारण तो और ही था। मुसाफिर सब घोड़ा-गाड़ी के अन्दर बैठते हैं। पर मैं समझा जाता था 'कुली'; और अनजान मालूम होता था, इसलिए घोड़ा-गाड़ी वाले की यह नीयत थी कि मुझे गोरे मुसाफिरों के साथ न बैठाना पड़े तो अच्छा। घोड़ागाड़ी में बाहर की तरफ, अर्थात् हाँकनेवाले के पास दायें-बायें दो बैठकें थीं। उनमें से एक बैठक पर घोड़ागाड़ी-कम्पनी का एक अफसर गोरा बैठता। वह अंदर बैठा और मुझे हाँकनेवाले के पास बैठाया। मैं समझ गया कि यह बिल्कुल

अन्याय है, अपमान है। परन्तु मैंने इसे पी जाना उचित समझा। मैं ज़बर्दस्ती तो अन्दर बैठ नहीं सकता था। यदि झगड़ा छेड़ लूँ तो घोड़ागाड़ी चल दे और फिर मुझे एक दिन देर हो, और दूसरे दिन का हाल परमात्मा ही जाने। इसलिए मैंने समझदारी अख्त्यार की और बाहर ही बैठ गया। मन में तो बड़ा खिजता था।

कोई तीन बजे घोड़ागाड़ी पारडीकोप पहुँची। उस वक्त गोरे अफ़सर को मेरी जगह बैठने की इच्छा हुई। उसे सिगरेट पीना थी। शायद खुली हवा भी खानी हो। सो उसने एक मैलासा बोरा हाँकने वाले के पास से लिया और पैर रखने के तख्ते पर बिछा कर मुझ से कहा—'सामी, तू यहाँ बैठ, मैं हाँकने वाले के पास बैठूँगा।' इस अपमान को सहन करना मेरे सामर्थ्य के बाहर था। इसलिए मैंने डरते-डरते उससे कहा—'तुमने मुझे जो यहाँ बैठाया, सो इस अपमान को तो मैंने सहन कर लिया मेरी जगह तो थी अन्दर; पर तुमने अन्दर बैठकर मुझे यहाँ बैठाया; अब तुम्हारा दिल बाहर बैठने को हुआ, तुम्हें सिगरेट पीना है, इसलिए तुम मुझे अपने पैरों के पास बिठाना चाहते हो। मैं चाहे अन्दर चला जाऊँ, पर तुम्हारे पैरों के पास बैठने के लिए तैयार नहीं।'

यह मैं किसी तरह कह ही रहा था कि मुझपर थप्पड़ों की वर्षा होने लगी और मेरा हाथ पकड़कर वह नीचे खींचने लगा। मैंने बैठक के पास लगे पीतल के सींकचों को जोर से पकड़ रक्खा, और निश्चय कर लिया कि पहुँची टूट जाने पर भी सींकचे न छोड़ूँगा। मुझ पर जो कुछ बीत रही थी, वह अन्दर वाले यात्री देख रहे थे। वह मुझे गालियाँ दे रहा था, खींच रहा था और मार भी रहा था; फिर भी मैं चुप था। वह तो था बलवान और

मैं बलहीन। कुछ मुसाफिरों को दया आई और किसी ने कहा—'अजी' बेचारे को वहाँ बैठने क्यों नहीं देते? फिजूल उसे क्यों पीटते हो? वह ठीक तो कहता है। वहाँ नहीं तो उसे हमारे पास अन्दर बैठने दो। यह बोल उठा—'हरगिज नहीं।' पर जरा सिट-पिटा जरूर गया। पीटना छोड़ दिया। मेरा हाथ भी छोड़ दिया। हाँ, दो-चार गालियाँ अलबत्ते और दे डालीं। फिर एक हान्टेटाट नौकर, जो दूसरी तरफ बैठा था, उसे अपने पाँव के पास बैठाया और खुद बाहर बैठा। मुसाफिर अन्दर बैठे। सीटी बजी। घोड़ागाड़ी चली। मेरी छाती धक्-धक् कर रही थी। मुझे भय था कि मैं जीते-जी मुकाम पर पहुँच सकूँगा या नहीं। वह गोरा मेरी ओर त्यौरी चढ़ाकर देखता रहता। उँगली का इशारा कर के बकता रहा—'याद रख, स्टैण्डरटन तो पहुँचने दे, फिर तुझे मजा चखाऊँगा। मैं चुप साध कर बैठ रहा और ईश्वर से सहायता के लिए प्रार्थना करता रहा।

रात हुई। स्टैण्डरटन पहुँचे। कितने ही हिन्दुस्तानियों के चेहरे दिखे। कुछ तसल्ली हुई। नीचे उतरते ही हिन्दुस्तानियों ने कहा—'हम आपको ईसा सेठ की दुकान पर ले जाने के लिए खड़े हैं। दादा अबदुल्ला का तार आया था।' मुझे बड़ा हर्ष हुआ उनके साथ सेठ ईसा हाजी सुमार की दुकान पर गया। सेठ तथा उनके गुमाश्ते मेरे आस-पास जमा हो गये। मुझ पर जो-जो बीती, मैंने कह सुनाई। सुनकर उन्हे बड़ा दुःख हुआ और अपने कड़वे अनुभव सुना-सुना कर मुझे आश्वासन देने लगे। मैं चाहता था कि घोड़ागाड़ी कम्पनी के एजेण्ट को अपनी बीती सुना दूँ। मैंने उन्हें चिट्ठी लिखी। उस गोरे ने जो धमकी दी थी, सो भी लिख

दिया और मैंने यह भी आश्वासन चाहा कि कल मुझे दूसरे यात्रियों के साथ अन्दर बिठाया जाय। एजण्ट ने मुझे सन्देशा भेजा—'स्टैण्डरटन से बड़ी घोड़ागाड़ी जाती है, और हाँकने वाले आदि की बदली होती है। जिस शख्स की शिकायत आपने की है वह कल उस पर न रहेगा। आपको दूसरे यात्रियों के साथ ही जगह मिलेगी।' इस बात से मुझे कुछ राहत मिली। उस गोरे पर तो दावा-फर्याद करने की मेरी इच्छा ही न थी, इसलिए वह पिटाई का प्रकरण यहीं खतम हो गया। सुबह मुझे ईसा सेठ के आदमी घोड़ागाड़ी पर ले गये। अच्छी जगह मिली। बिला किसी दिक्कत के रात को जोहान्सबर्ग पहुँचा।

स्टैण्डरटन छोटासा गाँव था। जोहान्सबर्ग भारी शहर। वहाँ भी अबदुल्ला सेठ ने तार तो दे दिया था। मुझे महम्मद कासिम कमरुद्दीन की दुकान का पता-ठिकाना लिख दिया था। उनका आदमी घोड़ागाड़ी के ठहरने की जगह तो आया था; पर न मैंने उसे देखा, न वही मुझे पहचान सका। मैंने होटल में जाने का इरादा किया। दो-चार होटलों के नाम-पते पूछ लिये थे। गाड़ी की। ग्रैण्ड नैशनल होटल में ले चलने के लिए उससे कहा। वहाँ पहुँचते ही मैनेजर के पास गया। जगह माँगी। मैनेजर ने मुझे नीचे से ऊपर तक देखा। फिर शिष्टाचार और सौजन्य के साथ कहा 'मुझे अफसोस है, तमाम कमरे भरे हुए हैं।' यह कहकर मुझे बिदा किया। तब मैंने गाड़ी वाले से कहा—'महम्मद कासिम कमरुद्दीन की दुकान पर चलो।' वहाँ तो अबदुलगनी सेठ मेरी राह ही देख रहे थे। उन्होंने मेरा स्वागत किया। मैंने होटल में बीती कह सुनाई। वे एक बारगी हँस पड़े। 'भला होटल में वे हमें ठहरने देंगे ?'

मैंने पूछा—क्यों ?

'यह तो आप तब जानेंगे जब कुछ दिन यहाँ रह लेंगे। इस देश में तो हमीं रह सकते हैं। क्योंकि हमें रुपया पैदा करना है। इसलिए बहुतेरे अपमान सहन करते हैं, और पड़े हुए हैं।' यह कहकर उन्होंने ट्रान्सवाल में होने वाले कष्टों और अन्यायों का इतिहास कह सुनाया।

इन अबदुलग़नी सेठ का परिचय हमें आगे चलकर अधिक करना पड़ेगा। उन्होंने कहा—'यह मुल्क आपके जैसे लोगों के लिए नहीं है। देखिए न, आपको कल प्रिटोरिया जाना है। उसमें तो आपको तीसरे ही दरजे में जगह मिलेगी। ट्रान्सवाल में नेटाल से ज्यादा कष्ट है। यहाँ तो हमारे लोगों को दूसरे और पहले दरजे के टिकट मुत्लक देते ही नहीं।'

मैंने कहा—'आप लोगों ने इसके लिए पूरी कोशिश न की होगी।'

अबदुलग़नी सेठ बोले—'हमने लिखा-पढ़ी तो शुरू की है; पर हमारे बहुतेरे लोग तो पहले दूसरे दरजे बैठने की इच्छा भी क्यों करने लगे ?'

मैंने रेलवे के कानून-कायदे मंगाकर देखे। उनमें कुछ गुञ्जायश दिखाई दी। ट्रान्सवाल के पुराने कानून-कायदे बारीकी के साथ नहीं बनाये जाते थे। फिर रेलवे के कानूनों का तो पूछना ही क्या?

मैंने सेठ से कहा—'मैं तो फर्स्ट क्लास में ही जाऊँगा। और यदि इस तरह न जा सका तो फिर प्रिटोरिया यहाँ से सैंतीस ही मील तो है। घोड़ागाड़ी करके चला जाऊँगा।'

अबदुलग़नी सेठ ने इस बात की ओर मेरा ध्यान खींचा कि

उसमें कितना तो खर्च लगेगा और कितना समय जायगा। पर अंत को उन्होंने मेरी बात मानली और स्टेशन मास्टर को चिट्ठी लिखी। पत्र में उन्होंने लिखा कि मैं बैरिस्टर हूँ; हमेशा पहले दरजे में सफर करता हूँ। तुरन्त प्रिटोरिया पहुँचने की ओर उनका ध्यान दिलाया और उन्हें लिखा कि पत्र के उत्तर की राह देखने के लिए समय न रह जायगा अतएव मैं खुद ही स्टेशन पर इसका जवाब लेने आऊंगा और पहले दरजे का टिकट मिलने की आशा रक्खूँगा। ऐसी चिट्ठी लिखाने में मेरी एक मस्लहत थी। मैंने सोचा कि लिखित उत्तर तो स्टेशन मास्टर 'ना' ही दे देगा। फिर उसको 'कुली' बैरिस्टर के रहन-सहन की पूरी कल्पना न हो सकेगी। इसलिए यदि मैं सोलहों आना अंग्रेज़ी वेशभूषा में उसके सामने जाकर खड़ा हो जाऊँगा और उससे बात करूंगा तो वह समझ जायगा और मुझे टिकट दे देगा। इसलिए मैं फ्राककोट, नेकटाई इत्यादि डाँट कर स्टेशन पहुँचा। मास्टर के सामने गिनी निकाल कर रक्खी और पहले दर्जे का टिकट मांगा।

उसने कहा—'आप ही ने वह चिट्ठी लिखी है?'

मैंने कहा—'जी हाँ। मैं बड़ा खुश होऊँगा, यदि आप मुझे टिकट दे देंगे। मुझे आज ही प्रिटोरिया पहुँच जाना चाहिए।'

स्टेशन मास्टर हँसा। उसे दया आई। बोला मैं ट्रान्सवालर नहीं हूँ, हालैण्डर हूँ। आपके मनोभाव को समझ सकता हूँ। आपके साथ मेरी सहानुभूति है। मैं आपको टिकट दे देना चाहता हूँ। पर एक शर्त है—यदि रास्ते में आपको गार्ड उतार दे और तीसरे दरजे में बिठा दे तो आप मुझे दिक न करें अर्थात् रेल्वे-

कम्पनी पर दावा न करें। मैं चाहता हूँ कि आपकी यात्रा निर्विघ्न समाप्त हो। मैं देख रहा हूँ कि आप एक भले आदमी हैं।' यह कह कर उसने टिकट दे दिया। मैंने उसे धन्यवाद दिया और अपनी तरफ से निश्चिंत किया। अब्दुलगनी सेठ पहुँचाने आये थे। इस कौतुक को देख कर उन्हें हर्ष हुआ, आश्चर्य भी हुआ; पर मुझे चेताया—'प्रिटोरिया राजी खुशी पहुँच गये तो समझना गंगा पार हुए। मुझे डर है कि गार्ड आपको पहले दरजे में आराम से न बैठने देगा; और उसने बैठने दिया तो मुसाफिर न बैठने देंगे।'

मैं तो पहले दरजे के डिब्बे में जा बैठा। ट्रेन चली। जर्मिस्टन पहुँचने पर गार्ड टिकट देखने के लिए निकला। मुझे देखते ही भल्ला उठा। उँगली से इशारा करके कहा—'तीसरे दरजे में जा बैठ।' मैंने अपना पहले दरजे का टिकट दिखाया। उसने कहा—'इसकी परवा नहीं, चला जा तीसरे दरजे में।'

इस डब्बे मे सिर्फ एक अंगरेज यात्री था। उसने उस गार्ड को डाँटा—'तुम इनको क्यों सताते हो? देखते नहीं, इनके पास पहले दरजे का टिकट है? मुझे इनके बैठने से जरा भी कष्ट नहीं।' यह कह कर उसने मेरी ओर देखा और कहा,—'आप तो आराम से बैठे रहिए।'

गार्ड गुनगुनाया—'तुझे कुली के पास बैठना हो तो बैठ, मेरा क्या बिगड़ता है?' और चलता बना।

रात को कोई ८ बजे ट्रेन प्रिटोरिया पहुँची।

प्रिटोरिया में पहला दिन

मैंने आशा रक्खी थी कि प्रिटोरिया स्टेशन पर दादा अबदुल्ला के वकील की तरफ से कोई न कोई आदमी मुझे मिलेगा। मैं यह तो जानता था कि कोई हिन्दुस्तानी तो मुझे लिवाने आवेगा नहीं; क्योंकि किसी भी भारतीय के यहाँ न रहने का अभिवचन मैंने दिया था। वकील ने किसी भी आदमी को स्टेशन पर नहीं भेजा। पीछे मुझे मालूम हुआ कि जिस दिन मैं पहुँचा, रविवार था और वे बिना असुविधा उठाये उस दिन किसी को न भेज सकते थे। मैं असमंजस में पड़ा। कहाँ जाऊँ? मुझे भय था कि होटल में कहीं जगह मिलने की नहीं। १८९३ का प्रिटोरिया स्टेशन १९१४ के प्रिटोरिया स्टेशन से भिन्न था। मंद मंद बत्तियाँ जल रही थीं। मुसाफिर भी बहुत न थे। मैंने सोचा कि जब सब यात्री चले जायँगे तब अपना टिकट टिकट-कलेक्टर को दूँगा और उससे किसी मामूली होटल अथवा मकान का पता पूछ लूँगा, अन्यथा स्टेशन पर ही पड़ कर रात काट दूँगा। इतनी पूछताछ करने को जी न होता था, क्योंकि अपमानित होने का भय था। आखिर स्टेशन खाली हुआ। मैंने टिकट-कलेक्टर को टिकट देकर पूछ-ताछ आरंभ की। उसने विनय पूर्वक उत्तर दिये। पर

मैंने देखा कि उससे अधिक सहायता न मिल सकती थी। उसके नजदीक एक अमेरिकन हबशी खड़ा था। वह मुझ से बातें करने लगा—

'मालूम होता है, आप बिल्कुल अनजान हैं, और यहाँ आप का कोई साथी नहीं है। आइए, मेरे साथ चलिए, मैं आपको एक छोटे से होटल में ले चलता हूँ। उसका मालिक अमेरिकन है और उसे मैं अच्छी तरह जानता हूँ। मैं समझता हूँ, वह आप को जगह दे देगा।' मुझे कुछ शक तो हुआ पर मैंने उसे धन्यवाद दिया और उसके साथ जाना स्वीकार किया। वह मुझे जान्स्टन के फेमिली होटल में ले गया। पहले उसने मि० जान्स्टन को एक ओर ले जाकर कुछ बातचीत की। मि० जान्स्टन ने मुझे एक रात के लिए जगह देना मंजूर किया। वह भी इस शर्त पर कि मेरा खाना मेरे कमरे में पहुँचा दिया जायगा।

'मैं आपको यकीन दिलाता हूँ कि मैं तो काले-गोरे का भेद-भाव नहीं रखता। पर मेरे ग्राहक सब गोरे लोग ही हैं। और यदि मैं आपको भोजनशाला में ही भोजन कराऊँ तो मेरे ग्राहकों को आपत्ति होगी और शायद मेरी ग्राहकी टूट जाय।' मि० जान्स्टन ने कहा।

मैंने उत्तर दिया—मैं तो यह भी आपका उपकार समझता हूँ जो आपने एक रात के लिए भी रहने का स्थान मुझे दिया। इस देश की हालत से मैं कुछ-कुछ वाफिफ हो गया हूँ। आपकी कठिनाई मैं समझ सकता हूँ। आप मुझे खुशी से मेरे कमरे में खाना भिजवा दीजिएगा। कल तो मैं दूसरा प्रबंध कर लेने की आशा रखता हूँ।'

कमरा मिला। अन्दर गया। एकान्त मिलते ही भोजन की राह देखता हुआ विचारों में लीन होगया। इस होटल में अधिक मुसाफिर नहीं रहते थे। थोड़ी ही देर में वेटर को भोजन लाते हुए देखने के बजाय मि० जोन्सनटन को देखा। उन्होंने कहा—'मैंने आपसे यह कहा तो, कि खाना यहीं भिजवा दूँगा, पर बाद को मुझे शर्म मालूम हुई। इसलिए मैंने अपने ग्राहकों से आपके सम्बन्ध में बातचीत की और उनसे पूछा तो उन्होंने कहा कि उनके भोजनालय में आकर भोजन करने में हमें कोई एतराज नहीं है। इसलिए आप चाहें तो भोजनशाला में आकर भोजन करें और अब जब तक आप चाहें यहाँ रहें।'

मैंने दुबारा उनका उपकार माना और भोजनशाला में खाने गया। आराम से भोजन किया।

दूसरे दिन सुबह वकील के यहाँ गया। उनका नाम था ए० डबल्यू० बेकर। उनसे मिला। अबदुल्ला सेठ ने उनका थोड़ा बहुत परिचय दे रक्खा था, इसलिए उनकी पहली मुलाकात से मुझे कुछ आश्चर्य न हुआ। वे मुझसे बड़े भाव के साथ मिले और मुझसे अपना कुछ हाल-चाल पूछा, जो मैंने उन्हें बता दिया। उन्होंने कहा—'बैरिस्टर की हैसियत से तो आपका यहाँ कुछ भी उपयोग न हो सकेगा। हमने अच्छे-से-अच्छे बैरिस्टर इस मामले में कर लिए हैं। मुकदमा मुद्दत तक चलेगा और उसमें कई गुत्थियाँ हैं। इसलिए आपसे तो मैं इतना ही काम ले सकूँगा कि आवश्यक वाकफियत वगैरा मुझे मिल जाय। हाँ, हमारे मवक्किल से पत्र-व्यवहार करना अब आसान हो जायगा। और जो बातें मुझे जाननी होंगी वे आपके मार्फत उनसे मंगाई

जा सकेंगी, यह लाभ जरूर है। आपके लिए मकान तो मैंने अब तक नहीं खोजा है। सोचा था कि आपसे मिल लेने के बाद ही खोजना ठीक होगा। यहाँ रंग-भेद जबर्दस्त है। इसलिए घर मिलना आसान भी नहीं है। परन्तु एक बाई को मैं जानता हूँ। वह गरीब है। भटियारे की औरत है। मैं समझता हूँ वह आपको अपने यहाँ रहने देगी। उसे भी कुछ मिल जायगा। चलो वहीं चलें।'

वह यह कहकर मुझे वहाँ ले गये। मि० बेकर ने पहले बाई के साथ अकेले में बातचीत की। उसने मुझे अपने यहाँ टिकाना स्वीकार किया। ३५ शिलिंग प्रति सप्ताह देना ठहरा।

मि० बेकर वकील और साथ ही कट्टर पादरी भी थे। अभी वे मौजूद हैं। अब तो सिर्फ पादरी का ही काम करते हैं। वकालत छोड़ दी है। खा-पीकर सुखी हैं। अब तक मुझसे चिट्ठी-पत्री करते रहते हैं। चिट्ठी-पत्री का विषय एक ही होता है। ईसाई-धर्म की उत्तमता की चर्चा वे भिन्न-भिन्न-रूप में अपने पत्रों में किया करते हैं, और यह प्रतिपादन करते हैं कि ईसा-मसीह को ईश्वर का एक-मात्र पुत्र तथा तारनहार माने बिना परम शान्ति कभी नहीं मिल सकती।

हमारी पहली ही मुलाकात में मि० बेकर ने धर्म-सम्बन्धी मेरी मनोदशा जान ली। मैंने उनसे कह दिया—'जन्मतः मैं हिन्दू हूँ। पर मुझे उस धर्म का विशेष ज्ञान नहीं। दूसरे धर्मों का ज्ञान भी कम है। मैं कहाँ हूँ, क्या मानता हूँ, मुझे क्या मानना चाहिए, यह सब नहीं जानता। अपने धर्म का गहरा अध्ययन करना चाहता हूँ। दूसरे धर्मों का भी यथाशक्ति अध्ययन करने का विचार है।'

यह सब सुनकर मि० बेकर प्रसन्न हुए और मुझे कहा—'मैं खुद दक्षिण आफ्रिका जनरल मिशन का एक डिरेक्टर हूँ। मैंने अपने खर्च से एक एक गिरजा बनाया है। उसमें मैं समय-समय पर धर्म-सम्बन्धी व्याख्यान दिया करता हूँ। मैं रंग-भेद नहीं मानता। मेरे साथ और लोग भी काम करनेवाले हैं। हमेशा एक बजे हम कुछ समय के लिए मिलते हैं और आत्मा की शान्ति तथा प्रकाश (ज्ञान के उदय) के लिए प्रार्थना करते हैं। उसमें आप आया करेंगे तो मुझे खुशी होगी। वहाँ अपने साथियों का भी परिचय आपसे कराऊँगा। वे सब आपसे मिलकर प्रसन्न होंगे। और मुझे विश्वास है कि आपको भी उनका समागम प्रिय होगा। आपको कुछ धर्म-पुस्तकें भी मैं पढ़ने के लिए दूँगा। मैं खास तौर पर सिफारिश करता हूँ कि आप उन्हें पढ़ें।'

मैंने मिस्टर बेकर को धन्यवाद दिया और कहा कि जहाँ तक हो सकेगा आपके मण्डल में एक बजे प्रार्थना के लिए आया करूँगा।

'तो कल एक बजे आप यहीं आइयेगा, हम साथ ही प्रार्थना-मन्दिर चलेंगे।' हम अपने-अपने स्थानों को बिदा हुए। अधिक विचार करने की फुरसत मुझे न थी। मिस्टर जान्स्टन के पास गया। बिल चुकाया। नये घर गया। वहीं भोजन किया। मकान मालकिन भली मानुस थी। उसने मेरे लिए अन्न-भोजन तैयार किया था। इस कुटुम्ब के साथ हिलमिल जाने में मुझे समय न लगा। खा-पीकर मैं दादा अबदुल्ला के उन मित्र से मिलने गया, जिनके नाम उन्होंने पत्र दिया था। उनसे परिचय किया। उनसे हिन्दुस्तानियों के कष्टों का और हाल मालूम हुआ। उन्होंने मुझे

अपने यहाँ रहने का आग्रह किया। मैंने उनको धन्यवाद दिया और अपने लिए जो प्रबन्ध हो गया था, उसका हाल सुनाया। उन्होंने जोर देकर मुझसे कहा कि जिस किसी बात की जरूरत हो, मुझे खबर कीजिएगा।

शाम हुई। खाना खाया और अपने कमरे में जाकर विचार के भँवर में जा गिरा। मैंने देखा कि हाल अभी तो मेरे लिए कोई काम है नहीं। अबदुल्ला सेठ को खबर की। मि० बेकर जो मित्रता बढ़ा रहे हैं इसका क्या अर्थ है? इनके धर्म-बन्धुओं के द्वारा मुझे कितना ज्ञान प्राप्त होगा? ईसाई-धर्म का अध्ययन मैं किस हद तक करूँ? हिन्दू-धर्म का साहित्य कहाँ से प्राप्त करूँ? उसे जाने बिना ईसाई-धर्म का स्वरूप मैं कैसे समझ सकूँगा? मैं एक ही निर्णय कर पाया। जो चीज मेरे सामने आ जाय उसका अध्ययन मैं निष्पक्ष रहकर करूँ और मि० बेकर के समुदाय को जिस समय ईश्वर जो बुद्धि दे वह उत्तर दे दिया करूँ। जब तक मैं अपने धर्म का ज्ञान पूरा-पूरा न कर सकूँ तब तक मुझे दूसरे धर्म को अंगीकार करने का विचार न करना चाहिए। यह विचार करते हुए मुझे नींद आ गई।

(११)

ईसाइयों से परिचय

दूसरे दिन एक बजे मैं मि० बेकर के प्रार्थना-समाज में गया। वहाँ कुमारी हैरिस, कुमारी गेब, मि० कोट्स आदि से परिचय हुआ। सब ने घुटने टेककर प्रार्थना की। मैंने भी उनका अनुकरण किया। प्रार्थना में जिसका जो मन चाहता ईश्वर से माँगता। दिन शांति के साथ बीते, ईश्वर हमारे हृदय के द्वार खोलो, इत्यादि प्रार्थना होती है। उस दिन मेरे लिए भी प्रार्थना की गई। 'हमारे साथ जो यह नया भाई आया है, उसे तू राह दिखाना। जो शान्ति तूने हमें प्रदान की है वह इसे भी देना। जिस ईसा मसीह ने हमें मुक्त किया है, वह इसे भी मुक्त करे। यह सब हम ईसा-मसीह के नाम पर माँगते हैं।' इस प्रार्थना में भजन-कीर्तन न होते। किसी विशेष बात की याचना ईश्वर से करके अपने-अपने घर चले जाते। यह समय सबके दोपहर के भोजन का होता था, इसलिए सब इस तरह प्रार्थना करके भोजन करने चले जाते। प्रार्थना में पाँच मिनट से अधिक समय न लगता।

कुमारी हैरिस और कुमारी गेब की अवस्था प्रौढ़ थी। मि० कोट्स क्वेकर थे। ये दोनों महिलायें साथ रहतीं। उन्होंने मुझे हर रविवार को ४ बजे चाय पीने के लिए अपने यहाँ आमंत्रित

किया। मि० कोट्स जब मिलते तब हर रविवार को उन्हें मैं अपना साप्ताहिक धार्मिक रोज़नामचा सुनाता। मैंने कौन-कौन-सी पुस्तकें पढ़ीं, उनका क्या असर मेरे दिल पर हुआ, इसकी चर्चा होती। ये कुमारिकायें अपने मीठे अनुभव सुनातीं और अपने को मिली परम शान्ति की बातें करतीं।

मि० कोट्स एक शुद्ध भाव वाले कट्टर युवक क्वेकर थे। उनसे मेरा घनिष्ट सम्बन्ध हो गया। हम बहुत बार साथ घूमने भी जाते। वे मुझे दूसरे ईसाइयों के यहाँ ले जाते।

कोट्स ने मुझे किताबों से लाद दिया। ज्यों-ज्यों वे मुझे पहचानते जाते त्यों-त्यों जो पुस्तकें उन्हें ठीक मालूम होतीं, मुझे पढ़ने के लिए देते। मैंने भी केवल श्रद्धा के वशीभूत होकर उन्हें पढ़ना मंजूर किया। इन पुस्तकों पर हम चर्चा भी करते।

ऐसी पुस्तकें मैंने १८९३ में बहुत पढ़ीं। अब सब के नाम तो मुझे याद नहीं रहे हैं। कुछ ये थीं—सिटी टेम्पल वाले डा० पारकर की टीका, पियर्सन की 'मेनी इनफालिबल प्रूफ्स', बटलर कृत 'एनेलाजी' इत्यादि। कितनी ही बातें समझ में न आतीं, कितनी ही पसन्द आतीं, कितनी ही न आतीं। यह सब मैं कोट्स से कहता। 'मेनी इनफालिबल प्रूफ्स' के मानी हैं 'बहुतसे दृढ़ प्रमाण' अर्थात् बाइबिल में रचयिता ने जिस धर्म का अनुभव किया उसके प्रमाण। इस पुस्तक का असर मुझपर बिलकुल न हुआ। पारकर की टीका नीति-वर्द्धक मानी जा सकती है। परन्तु वह उन लोगों को सहायता नहीं कर सकती जिन्हें ईसाई-धर्म की प्रचलित धारणाओं पर सन्देह है। बटलर की 'एनेलाजी' बहुत क्लिष्ट और गंभीर पुस्तक मालूम हुई। उसे पाँच-सात बार

पढ़नी चाहिए। वह नास्तिक को आस्तिक बनाने के लिए लिखी गई मालूम हुई। उसमें ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए जो युक्तियाँ दी गई हैं, उनसे मुझे लाभ न हुआ; क्योंकि यह मेरी नास्तिकता का युग न था। परन्तु जो युक्तियाँ ईसामसीह के अद्वितीय अवतार के सम्बन्ध में अथवा उसके मनुष्य और ईश्वर के बीच सन्धि-कर्ता होने के विषय में दी गई थीं, उनकी भी छाप मेरे दिल पर न पड़ी।

पर कोट्स पीछे हटने वाले आदमी न थे। उनके स्नेह की सीमा न थी। उन्होंने मेरे गले में वैष्णव की कण्ठी देखी। उन्हें वह वहम मालूम हुआ, और देखकर दुःख हुआ। 'यह अन्ध-विश्वास तुम-जैसों को शोभा नहीं देता। लाओ तोड़ दूँ।'

'यह कण्ठी तोड़ी नहीं जा सकती। माताजी की प्रसादी है।'

'पर तुम्हारा इस पर विश्वास है?'

'मैं इसका गूढ़ार्थ नहीं जानता। यह भी नहीं भासित होता कि यदि इसे न पहनूँ तो कोई अनिष्ट हो जायगा। परन्तु जो माला मुझे माताजी ने प्रेम-पूर्वक पहनाई है; जिसे पहनाने में उसने मेरा श्रेय माना, उसे मैं बिना प्रयोजन नहीं निकाल सकता। समय पाकर जीर्ण होकर जब वह अपने-आप टूट जायगी तब दूसरी मँगाकर पहनने का लोभ मुझे न रहेगा। पर इसे नहीं तोड़ सकता।'

कोट्स मेरी इस दलील की क़द्र न कर सके। क्योंकि उन्हें तो मेरे धर्म के प्रति ही अनास्था थी। वे तो मुझे अज्ञान-कूप से उबारने की आशा रखते थे। वे मुझे यह बताना चाहते थे कि अन्य धर्मों में थोड़ा-बहुत सत्यांश भले ही हो, परन्तु पूर्ण सत्य-

रूप ईसाई-धर्म को स्वीकार किये बिना मोक्ष नहीं मिल सकता, और ईसामसीह की मध्यस्थता के बिना पाप प्रक्षालन नहीं हो सकता, तथा पुण्य कर्म सब निरर्थक हैं। कोट्स ने जिस प्रकार पुस्तकों से परिचय कराया उसी प्रकार उन ईसाइयों से भी कराया जिन्हें वे कट्टर समझते थे। इनमें एक प्लीमथ ब्रदर्स का भी परिवार था।

'प्लीमथ ब्रदरन्' नामक एक ईसाई-सम्प्रदाय है। कोट्स के कराये बहुतेरे परिचय मुझे अच्छे मालूम हुए। ऐसा जान पड़ा कि वे लोग ईश्वर-भीरु थे। परन्तु इस परिवार वालों ने मेरे सामने यह दलील पेश की—'हमारे धर्म की खूबी ही तुम नहीं समझ सके। तुम्हारी बातों से मैं देखता हूँ कि तुम हमेशा बात-बात में अपनी भूलों का विचार करते हो, हमेशा उन्हें सुधारना पड़ता है, न सुधरें तो उनके लिए प्रायश्चित्त करना पड़ता है। इस क्रिया-काण्ड से तुम्हें मुक्ति कब मिल सकती है? तुमको शांति तो मिल ही नहीं सकती। हम पापी हैं, यह तो आप कबूल ही करते हैं। अब देखो हमारे धर्म-मन्तव्य की परिपूर्णता। वह कहता है, मनुष्य का प्रयत्न व्यर्थ है। फिर भी उसे मुक्ति की तो ज़रूरत है ही। ऐसी दशा में पाप का बोझ उसके सिर से उतरेगा किस तरह? इसकी तरकीब यह कि हम उसे ईसा मसीह पर ढो देते हैं। क्योंकि वह तो ईश्वर का एक-मात्र निष्पाप पुत्र है। उसका वरदान है कि जो मुझे मानता है वह सब पापों से छूट जाता है। ईश्वर की यह अगाध उदारता है। ईसामसीह की इस मुक्ति-योजना को हम ने स्वीकार किया है, इसलिए हमारे पाप हमें लिप्त नहीं होते। पाप तो मनुष्य से होते ही रहते हैं। इस जगत्

में बिना पाप के कोई कैसे रह सकता है? इसलिए ईसामसीह ने सारे संसार के पापों का प्रायश्चित्त एकबारगी कर लिया। उसके इस बलिदान पर जिसकी श्रद्धा है वही शान्ति प्राप्त कर सकता है। कहाँ तुम्हारी शान्ति और कहाँ हमारी शान्ति !'

यह दलील मुझे बिल्कुल न जँची। मैंने नम्रता-पूर्वक उत्तर दिया—'यदि सर्वमान्य ईसाई-धर्म यही हो जैसा कि आपने बयान किया है, तो इससे मेरा काम नहीं चल सकता। मैं पाप के परिणाम से मुक्ति नहीं चाहता; मैं तो पाप-प्रवृत्ति से, पाप-कर्म से मुक्ति चाहता हूँ। जब तक वह न मिलेगी, मेरी अशान्ति मुझे प्रिय लगेगी।'

प्लीमथ ब्रदर ने उत्तर दिया—'मैं तुमको निश्चय से कहता हूँ कि तुम्हारा यह प्रयत्न व्यर्थ है। मेरी बात पर फिर से विचार करना।'

और इन महाशय ने जैसा कहा था वैसा ही कर भी दिखाया था—जान-बूझकर बुरा काम कर दिखाया।

परन्तु तमाम ईसाइयों की मान्यता ऐसी नहीं होती, यह बात तो मैं इनसे परिचय होने के पहले भी जान चुका था। कोट्स खुद पाप-भीरु थे। उनका हृदय निर्मल था। वे हृदय-शुद्धि की संभवनीयता पर विश्वास रखते थे। वे बहनें भी इसी विचार की थीं। जो-जो पुस्तकें मेरे हाथ आईं, उनमें कितनी ही भक्ति-पूर्ण थीं। इसलिए प्लीमथ ब्रदर्स के परिचय से कोट्स को जो चिंता हुई थी उसे मैंने शांत कर दिया और उन्हें विश्वास दिलाया कि प्लीमथ ब्रदर की अनुचित धारणा के आधार पर मैं सारे ईसाई-धर्म के खिलाफ अपनी राय न बना लूँगा। मेरी कठिनाइयाँ तो बाइबिल तथा उसके रूढ़ अर्थ के सम्बन्ध में थीं।

(१२)

भारतीयों से परिचय

ईसाइयों के परिचयों के सम्बन्ध में और अधिक लिखने के पहले उन्हीं दिनों हुए अन्य अनुभवों का वर्णन करना आवश्यक है ।

नेटाल में जो स्थान दादा अबदुल्ला का था, वही प्रिटोरिया में सेठ तैयब हाजी खानमहम्मद का था। उनके बिना वहाँ एक भी सार्वजनिक काम नहीं हो सकता था। उनसे मैंने पहले ही सप्ताह में परिचय कर लिया। प्रिटोरिया के प्रत्येक भारतीय के सम्पर्क में आने का अपना विचार मैंने उन पर प्रकट किया। भारतीयों की स्थिति का निरीक्षण करने की अपनी इच्छा उन पर प्रदर्शित करके इस कार्य में उनकी सहायता माँगी। उन्होंने खुशी से सहायता देनी स्वीकार की।

पहला काम जो मैंने किया, वह था समस्त भारतीयों की एक सभा करना जिसमें उनके सामने वहाँ की स्थिति का चित्र रक्खा जाय। सेठ हाजी महम्मद, हाजी जुसब के यहाँ जिनके नाम मुझे परिचय-पत्र मिला था, सभा की गई। उसमें प्रधानतः मेमन व्यापारी शरीक हुए थे। कुछ हिन्दू भी थे। प्रिटोरिया में हिंदुओं की आबादी बहुत कम थी।

जीवन में मेरा यह पहला भाषण था। मैंने तैयारी ठीक की थी। मुझे 'सत्य' पर बोलना था। व्यापारियों के मुंह से मैं यह सुनता आया था कि व्यापार में सचाई से काम नहीं चल सकता। उस समय मैं यह बात नहीं मानता था। आज भी नहीं मानता हूँ। व्यापार और सत्य दोनों एक साथ नहीं चल सकते, ऐसा कहने वाले व्यापारी-मित्र आज भी मौजूद हैं। वे व्यापार को व्यवहार कहते हैं, सत्य को धर्म कहते और युक्ति पेश करते हैं कि व्यवहार एक चीज है और धर्म दूसरी। व्यवहार में शुद्ध सत्य से काम नहीं चल सकता। वे मानते हैं कि उसमें तो यथाशक्ति ही सत्य बोला और बरता जा सकता है। मैंने अपने भाषण में इस बात का प्रबल विरोध किया और व्यापारियों को उनके दुहरे कर्त्तव्य का स्मरण दिलाया। मैंने कहा—'विदेश में आने के कारण आपकी जवाबदेही देश से अधिक बढ़ गई है; क्योंकि मुट्ठी भर हिन्दुस्तानियों के रहन-सहन से लोग करोड़ों भारतवासियों का अन्दाज लगाते हैं।'

मैंने देख लिया था कि अंगरेजों के रहन-सहन के मुकाबले में हिन्दुस्तानी गंदे रहते हैं और उनको मैंने यह त्रुटि दिखाई।

हिन्दू, मुसल्मान, पारसी, ईसाई अथवा गुजराती, मदरासी, पंजाबी, सिंधी, कच्छी, सूरती इत्यादि भेदों को भुला देने पर जोर दिया। और अन्त को यह सूचित किया कि एक मंडल की स्थापना करके भारतियों के कष्टों और दुःखों का इलाज अधिकारियों से मिलकर, प्रार्थना-पत्र आदि के द्वारा करना चाहिए। और अपनी तरफ से यह कहा कि इसके लिए मुझे जितना समय मिल सकेगा बिना वेतन देता रहूँगा।

मैंने देखा कि सभा पर इसका अच्छा असर हुआ।

चर्चा हुई। कितनों ही ने कहा कि हम हकीकतें ला-लाकर देंगे। मुझे हिम्मत आई। मैंने देखा कि सभा में अंग्रेज़ी जानने वाले कम थे। मुझे लगा कि ऐसे परदेश में यदि अंग्रेज़ी का ज्ञान अधिक हो तो अच्छा। इसलिए मैंने कहा कि जिन्हें फ़ुर्सत हो उन्हें अंग्रेज़ी सीख लेनी चाहिए। बड़ी उम्र में भी चाहें तो पढ़ सकते हैं, यह कहकर उन लोगों की मिसालें दीं जिन्होंने प्रौढ़ा-वस्था में पढ़ा था। कहा—'यदि पढ़ने वाले तैयार हों तो मैं खुद तैयार हूँ।' कुछ लोग एक साथ वर्ग बनाकर पढ़ने के लिए तथा कुछ अपनी सुविधा देखकर, तथा उन्हें घर पढ़ाने जाने पर पढ़ने के लिए तैयार हुए। इनमें दो मुसल्मान थे। एक था नाई, एक था कारकुन। एक हिन्दू छोटा-सा दुकानदार था। मैं सब की सुविधा के अनुकूल हुआ। अपनी पढ़ाने की योग्यता और क्षमता के सम्बन्ध में तो मुझे अविश्वास था ही नहीं। मेरे शिष्य भले ही थक गये हों, पर मैं न थका। कभी उनके घर जाता तो उन्हें फ़ुरसत न रहती। मैंने धीरज न छोड़ा। किसी को अंग्रेज़ी का पंडित तो होना ही न था। परन्तु दो विद्यार्थियों ने कोई आठ मास में अच्छी प्रगति कर ली। दो ने बहीखाता का तथा चिट्ठी-पत्री लिखने का ज्ञान प्राप्त कर लिया। नाई को तो इतना ही पढ़ना था कि वह अपने ग्राहकों से बात-चीत कर सके। दो आदमी इस पढ़ाई की बदौलत ठीक कमाने का भी सामर्थ्य प्राप्त कर सके।

सभा के परिणाम से मुझे सन्तोष हुआ। ऐसी सभा हर मास अथवा हर सप्ताह करने का निश्चय हुआ।

न्यूनाधिक नियमित रूप में यह सभा होती तथा विचार-

विनिमय होता। इसके फल स्वरूप प्रिटोरिया में शायद ही कोई ऐसा भारतवासी होगा जिसे मैं पहचानता न होऊँ या जिसकी स्थिति से वाकिफ़ न होऊँ। भारतीयों की स्थिति की ऐसी जानकारी प्राप्त कर लेने का परिणाम यह हुआ कि मझे प्रिटोरिया-स्थित ब्रिटिश एजण्ट से परिचय प्राप्त करने की इच्छा हुई। मैं मि० जेकोब्स डिवेट से मिला। उनके मनोभाव हिन्दुस्तानियों की ओर थे। पर उनकी पहुँच कम थी। फिर भी उन्होंने भरसक सहायता करने का आश्वासन दिया और कहा—'जब ज़रूरत हो तो मिल लिया करो।' रेलवे-अधिकारियों से लिखा-पढ़ी की और उन्हें दिखाया कि उन्हींके कायदों के अनुसार हिन्दुस्तानियों की यात्रा में रोक-टोक नहीं हो सकती। इसके उत्तर में यह पत्र मिला कि साफ़-सुथरे और अच्छे कपड़े पहनने वाले भारतवासियों को ऊपर के दरजे के टिकट दिये जायँगे। इससे पूरी सुविधा तो न हुई क्योंकि अच्छे कपड़ों का निर्णय तो आख़िर स्टेशन मास्टर ही करता न?

ब्रिटिश एजण्ट ने मुझे हिन्दुस्तानियों से सम्बन्ध रखने वाली चिट्ठियाँ दिखाईं। तैयब सेठ ने भी ऐसे पत्र दिये। उनसे मैंने जाना कि आरेञ्ज फ्री स्टेट से हिन्दुस्तानियों के पैर किस प्रकार निर्दयता से उखाड़े गये। संक्षेप में कहूँ तो प्रिटोरिया में मैं भारतवासियों की आर्थिक, सामाजिक, और राजनैतिक स्थिति का गहरा अध्ययन कर सका। मुझे इस समय यह बिलकुल पता न था कि यह अध्ययन आगे चलकर बड़ा काम आवेगा। क्योंकि मैं तो एक साल के बाद अथवा मामला जल्दी तय हो जाय तो उसके पहले देश चला जाने वाला था।

पर ईश्वर ने कुछ और ही सोचा था।

(१३)

कुलीपन का अनुभव

ट्रान्सवाल तथा आरेञ्ज फ्री स्टेट के भारतीयों की दशा का पूरा चित्र देने का यह स्थान नहीं है। उसके लिए पाठकों को 'दक्षिण आफ्रिका के सत्याग्रह का इतिहास' पढ़ना चाहिए। परन्तु उसकी रूप-रेखा यहाँ दे देना आवश्यक है।

आरेञ्ज फ्री स्टेट में १८८२ ईस्वी में अथवा उसके पहले एक क़ानून बनाकर भारतीयों के तमाम अधिकार छीन लिये गये थे। सिर्फ होटल में 'वेटर' बनकर रहने अथवा ऐसे ही किसी तरह की मेहनत-मज़दूरी करके रहने की आज़ादी भारतियों को रह गई थी। जो भारतीय व्यापारी वहाँ थे उन्हें नाम-मात्र के लिए मावज़ा देकर वहाँ से हटा दिया। उन्होंने प्रार्थना-पत्र इत्यादि तो भेजे-भिजाये, पर नक्कारख़ाने में तूती की आवाज़ कौन सुनता?

ट्रान्सवाल में, १८८५ में, सख्त क़ानून बना। १८८६ में उसमें कुछ सुधार हुआ, जिसके फल-स्वरूप यह नियम बना कि तमाम हिन्दुस्तानी प्रवेश-फीस के तौर पर ३ पौण्ड दें। ज़मीन की

मालिकी भी उन्हें सिर्फ उन्हीं जगहों में मिल सकती है, जो उनके लिए खास तौर पर बताई जायँ। पर वास्तव में तो किसी को मालिकी मिली न थी। और मताधिकार भी किसी को कुछ न था। ये तो कानून ऐसे थे जिनका सम्बन्ध एशिया-वासियों से था। परन्तु जो कानून श्याम-वर्ण के लोगों के लिए थे वे भी एशिया-वासियों पर लागू होते थे। उसके अनुसार भारतवासी फुटपाथ पर न चल सकते थे, रात को नौ बजे के बाद विना परवाने के बाहर न निकल सकते थे। इस अंतिम कानून का अमल भारत-वासियों पर कहीं कम होता कहीं ज्यादा। जो 'अरब' कहलाते थे, उन पर बतौर मेहरबानी के यह क़ानून लागू न भी किया जाता। पर यह बात थी पुलिस की मरजी पर अवलंबित।

अब मुझे यह देखना था कि इन दोनों कानूनों का अमल खुद मेरे साथ किस तरह होता है। मि० कोट्स के साथ मैं बहुत बार घूमने के लिए जाता। घर पहुँचते कभी दस भी बज जाते। ऐसी अवस्था में यह आशंका रहा करती कि कहीं मुझे पुलिस पकड़ न ले। पर मेरी अपेक्षा यह भय कोट्स को ज्यादा था। क्योंकि अपने हब्शियों को तो परवाने वही देते थे। पर मुझे कैसे दे सकते थे? मालिक को परवाना देने का अधिकार सिर्फ नौकर के ही लिए था। यदि मैं लेना चाहूँ और कोट्स भी देने को तैयार हों तो भी वे नहीं दे सकते थे। क्योंकि ऐसा करना दग़ा समझा जाता।

इस कारण मुझे कोट्स अथवा उनके कोई मित्र वहाँ के सरकारी वकील डा० क्राउज़े के पास ले गये। हम दोनों एक ही 'इन' के बैरिस्टर निकले। यह बात कि मुझे नौ बजे के बाद रात

को परवाना लेने की जरूरत है, उन्हें बड़ी नागवार मालूम हुई। उन्होंने मेरे साथ समवेदना प्रदर्शित की। मुझे परवाना देने के बदले अपनी तरफ़ से एक पत्र दे दिया। उसका आशय यह था कि मैं कहीं भी किसी समय चला जाऊँ तो पुलिस मुझे रोक-टोक न करे। हमेशा मैं इस पत्र को अपने साथ रखता। उसका उपयोग तो किसी भी दिन न करना पड़ा, पर इसे एक दैव-योग ही समझना चाहिए।

डा० क्राउज़े ने मुझे अपने घर चलने का निमंत्रण दिया। हम दोनों में खासी मित्रता हो गई। कभी-कभी मैं उनके घर जाने लगा। उनके द्वारा, उनके अधिक प्रख्यात भाई से मेरा परिचय हुआ। वे जोहान्सबर्ग में पब्लिक प्रासीक्यूटर थे। उनपर बोअर-युद्ध के समय अंग्रेज़-अधिकारी के खून करने की साजिश का अभियोग लगाया गया था। और उन्हें सात साल क़ैद की सजा भी मिली थी। बेंचरों ने उनकी सनद भी छीन ली थी। लड़ाई ख़तम होने के बाद, यह डा० क्राउज़े जैल से छूटे, और फिर सम्मान-सहित ट्रान्सवाल की अदालत में वकालत करने लगे। इन परिचयों से मुझे बाद को सार्वजनिक कार्यों में ख़ासा लाभ मिला; और मेरा सार्वजनिक काम बहुत सुगम हो गया।

फुटपाथ पर चलने का प्रश्न जरा मेरे लिए गंभीर परिणाम वाला साबित हुआ। मैं हमेशा, प्रेसिडेंट-स्ट्रीट में होकर एक खुले मैदान में घूमने जाता। इस मुहल्ले में प्रेसीडेंट क्रूगर का घर था। इस घर में आडम्बर का नाम-निशान न था। उसके आस-पास कम्पाउण्ड तक न था। दूसरे पड़ोसी घरों में, और इसमें कुछ फ़र्क न मालूम होता था। कितने ही लखपतियों के घर, प्रिटोरिया में इस

घर से भारी आलीशान और चहारदीवारी वाले थे। प्रेसिडेंट की सादगी प्रख्यात थी। यह घर किस राज्याधिकारी का है, इसका अंदाज सिर्फ उस संतरी को देखकर हो सकता था जो उसके सामने टहलता रहता। संतरी किसी को रोकता-टोकता नहीं। उसकी बदली होती रहती। एक बार एक संतरी ने, बिना चिताये, बिना यह कहे कि फुटपाथ से उतर जाओ, मुझे धक्का मार दिया, लात जमा दी और फुटपाथ से उतार दिया। मैं भौंचक रह गया। ज्योंही मैं लात जमाने का कारण पूछता हूँ, कोट्स ने, जो घोड़े पर सवार होकर उस समय उसी रास्ते से जा रहे थे, आकर कहा—

'गांधी, मैंने यह देख लिया है। तुम यदि मुकदमा चलाना चाहो तो मैं गवाही दूँगा। मुझे बहुत अफसोस होता है कि तुम पर इस प्रकार का हमला हुआ।' मैंने कहा—'इसमें अफसोस की बात ही क्या है, संतरी बेचारा क्या पहचानता? उसके नजदीक तो काले काले सब बराबर। हबशियों को फुटपाथ से इसी तरह उतारता होगा। इसलिए मुझे भी धक्का मार दिया। मैंने तो अपना यह नियम ही बना लिया है, कि मेरे जात खास पर जो भी कुछ बीते, उसके लिए कभी अदालत न जाऊँ, इसलिए मुझे इसे अदालत में नहीं ले जाना है।'

'यह तो तुमने अपने स्वभाव के अनुसार ही कहा है, पर और भी विचार कर देखना। ऐसे आदमी को कुछ सबक़ तो जरूर देना चाहिए।' यह कहकर उन्होंने उस संतरी को दो-चार बातें कहीं। मैं सारी बात न समझ सका। संतरी डच था और डच भाषा में उसके साथ बात-चीत हुई थी। संतरी ने मुझसे माफी माँगी, मैं अपने मन में तो उसे माफी पहले ही दे चुका था।

पर उसके बाद से मैंने, उस रास्ते जाना छोड़ दिया। दूसरे संतरी इस घटना को क्या जानते? मैं अपने आप लात खाने क्यों जाऊँ? इसलिए मैंने दूसरे रास्ते होकर घूमने जाना पसंद किया। इस घटना ने, वहाँ के हिन्दुस्तानी निवासियों के प्रति मेरे मनोभाव और भी तीव्र कर दिये। उनसे मैंने दो बातों की चर्चा की। एक तो यह कि इन कानूनों के लिए ब्रिटिश एजण्ट से बात कर ली जाय, और दूसरी बात यह कि मौक़ा पड़ने पर बतौर नमूने के एक मुकद्मा चलाया जाय।

इस प्रकार मैंने भारतवासियों के कष्टों का, पढ़कर, सुनकर तथा अनुभव करके अध्ययन किया। मैंने देखा कि आत्म-सम्मान की रक्षा चाहने वाले भारतवासी के लिए, दक्षिण आफ्रिका अनुकूल नहीं। यह दशा कैसे बदली जा सकती है? इसीके विचार में मेरा मन दिन-दिन व्यग्र रहने लगा। पर अभी तो मेरा मुख्य धर्म था, दादा अबदुल्ला के मुकद्मे को संभालना।

(१४)

मुकदमे की तैयारी

प्रिटोरिया में मुझे जो एक वर्ष मिला, वह मेरे जीवन में अमूल्य था। सार्वजनिक काम करने की अपनी शक्ति का कुछ अन्दाज मुझे यहाँ हुआ, सार्वजनिक सेवा को सीखने का अवसर मिला। धार्मिक भावना अपने आप तीव्र होने लगी, और सच्ची वकालत भी, कहना चाहिए, मैंने यहीं सीखी। नया बैरिस्टर पुराने बैरिस्टर के दफ्तर में रहकर जो सीखता है वह मैं यहाँ सीख सका। यहाँ मुझे इस बात पर विश्वास हुआ कि एक वकील की हैसियत से मैं बिल्कुल अयोग्य न रहूँगा। वकील होने की कुंजी भी मेरे हाथ यहीं आकर लगी।

दादा अबदुल्ला का मामला छोटा न था। दावा ४०,०००) पौंड का अर्थात् ६ लाख रुपये का था। वह व्यापार के सिलसिले में था और उसमें जमा-नामे की बहुतेरी गुत्थियां थीं। उसके कुछ अंश का आधार था प्रामिसरी नोटों पर और कुछ का था नोट देने के वचन का पालन करने पर। सफाई में यह कहा जाता था कि प्रामिसरी नोट जालसाज़ी करके लिये गये थे और पूरा

मावज़ा नहीं मिला था। इसमें हकीकत की तथा कानूनी गुंजा-यशें बहुतेरी थीं। बही-खाते की उलझनें बहुत थीं।

दोनों ओर से अच्छे से अच्छे सालिसिटर और बैरिस्टर खड़े हुए थे। इस कारण मुझे उन दोनों के काम का अनुभव प्राप्त करने का बढ़िया अवसर हाथ आया। मुद्दई का मामला सालिसिटर के लिए तैयार करने का तथा हकीकतों को ढूँढ़ने का सारा बोझ मुझी पर था। इससे मुझे यह देखने का अवसर मिलता था कि मेरे तैयार किये काम में से सालिसिटर अपने काम में कितनी बातें लेते हैं और सालिसिटरों के तैयार किये मामले में से बैरिस्टर कितनी बातों को काम में लेते हैं। मैं समझ गया कि इस मामले को तैयार करने में मुझे ग्रहण-शक्ति और व्यवस्था-शक्ति का ठीक अन्दाज़ हो जायगा।

मैंने मामला तैयार करने में पूरी-पूरी दिलचस्पी ली। मैं उसमें लवलीन हो गया। आगे-पीछे के तमाम कागज़-पत्रों को पढ़ डाला। मवक्किल के विश्वास और होशयारी की सीमा न थी। इससे मेरा काम बड़ा सरल हो गया था। मैंने बही-खाता का सूक्ष्म अध्ययन कर लिया। गुजराती कागज-पत्र बहुतेरे थे। उनके अनुवाद भी मैं करता था। इससे उल्था करने की क्षमता भी बढ़ी।

मैंने खूब उद्योग से काम लिया। यद्यपि जैसा कि मैं ऊपर लिख चुका हूँ, धार्मिक चर्चा आदि में तथा सार्वजनिक कामों में मेरा दिल खूब लगता था, उनके लिए समय भी देता था, तथापि इस समय ये बातें गौण थीं। मुकदमे की तैयारी को ही मैं प्रधा-नता देता था। उसके लिए क़ानून वगैरा देखने का अथवा दूसरा कुछ पढ़ना होता तो उसे मैं पहले कर लेता। इसके फल-स्वरूप

मामले की असली बातों का मुझे इतना ज्ञान हो गया कि खुद मुद्दई-मुद्दाअलेह को भी शायद न हो। क्योंकि मेरे पास तो दोनों के कागजात थे।

मुझे स्वर्गीय मि० पिंकट के शब्द याद आये। उनका समर्थन, बाद को, दक्षिण आफ्रिका के सुप्रसिद्ध बैरिस्टर स्वर्गीय मि० लैनर्ड ने एक अवसर पर किया था। 'हक़ीक़त तीन-चौथाई कानून है' यह मि० पिकट का वाक्य था। एक मामले में मैं जानता था कि न्याय सर्वथा मेरे मवक्किल के पक्ष में था; परन्तु कानून उसके खिलाफ जाता हुआ दिखाई दिया। मैं निराश होकर मि० लैनर्ड से सहायता लेने के लिए दौड़ा। उन्हें भी हकीकतों के आधार पर मामला मजबूत मालूम हुआ। वे बोल उठे-'गांधी, मैं एक बात सीखा हूँ। यदि हकीकतों का ज्ञान हमें पूरा-पूरा हो तो क़ानून अपने आप हमारे अनुकूल हो जायगा। सो हम इस मामले की हकीकत को देखें।' यह कह कर उन्होंने सुझाया कि एक बार और हकीकतों का खूब मनन कर लो और फिर मुझसे मिलो।' उसी हकीकत की फिर छान-बीन करते हुए उसका मनन करते हुए, मुझे वह दूसरी तरह दिखाई दी और उससे संबंध रखने वाला दक्षिण आफ्रिका में हुआ एक पुराना मामला भी हाथ लग गया। मारे खुशी के मैं मि० लेनर्ड के यहाँ पहुँचा वे खुश हो उठे, और बोले—'बस, अब हम इस मामले को जीत लेंगे। बेंच पर कौन से जज होंगे, यह जरा ध्यान में रखना होगा।'

जब दादा अबदुल्ला के मामले की तैयारी कर रहा था तब हकीकत की महिमा मैं इस दरजे तक न समझ सका था। हकी-

कत के मानी हैं सत्य बात ; सत्य बात पर आरूढ़ रहने से कानून अपने आप हमारी सहायता के लिए अनुकूल हो जाता है ।

मैंने देख लिया था कि मेरे मवक्किल का पक्ष बहुत मजबूत है । कानून को उसकी मदद के लिए आना ही पड़ेगा ।

पर साथ ही मैंने यह भी देखा कि मामला लड़ते-लड़ते दोनों रिश्तेदार, एक ही शहर के रहने वाले, बरबाद हो जायँगे । मामले का अन्त क्या होगा, यह किसी को खबर न हो सकती थी । अदालत में तो मामला जहाँ तक जी चाहे लंबाया जा सकता है । लंबाने से दो में से किसी को लाभ न था । इस कारण मामला यदि जल्दी तय हो ऐसा करने की इच्छा दोनों पक्ष वालों को थी ।

मैंने तैयब सेठ से अनुरोध किया और आपस में निपटारा कर लेने की सलाह दी । मैंने कहा कि आप अपने वकील से मिलिए । दोनों के विश्वास पात्र पंच को यदि वे नियुक्त कर दें तो मामला जल्दी तय हो सकता है । वकीलों के खर्च का बोझ इतना चढ़ रहा था कि उसमें बड़े-बड़े व्यापारी भी खप जाँय । दोनों इतनी चिंता से मुकदमा लड़ रहे थे कि कोई भी बेफिक्री से दूसरा कोई काम न कर पाते थे । और दोनों में मन-मुटाव जो बढ़ता जाता था सो अलग ही । मेरे मन में वकालत पर घृणा उत्पन्न हुई । वकील का तो यह काम ही ठहरा कि एक दूसरे को जिताने की कानूनी गुजाइशें खोज रक्खें । जीतने वाले को सारा खर्च कभी नहीं मिलता, यह बात मैंने इस मामले में पहले-पहल जानी । वकील मवक्किल से एक फीस लेता है ; और मवक्किल को प्रतिवादी से दूसरी रकम मिलती है । दोनों रकमें जुदा-जुदा होती

हैं। मुझे यह सब बड़ा नागवार गुजरा। मेरी अन्तरात्मा ने कहा कि इस समय मेरा धर्म है दोनों में मित्रता करा देना, दोनों रिश्तेदारों में मिलाप करा देना। मैंने समझौते के लिए जी तोड़ कर मिहनत की। तैयब सेठ ने बात मान ली। अन्त को पंच मुकर्रर हुए और मुकदमा चला। उसमें दादा अबदुल्ला की जीत हुई।

पर मुझे इतने से संतोष न हुआ। यदि पंच के फैसले का अमल एकबारगी हो तो तैयब हाजी खानमहम्मद इतना रुपया एकाएक न दे सकते थे। दक्षिण-अफ्रिका-स्थित पोरबन्दर के मेमन व्यापारियों में एक आपसी का अलिखित कायदा था कि खुद चाहे मर जायँ, पर दिवाला न निकालें। तैयब सेठ ३७००० पौण्ड और खर्च एक-मुश्त नहीं दे सकते थे। वे एक पाई कम न देना चाहते थे। दिवाला भी नहीं निकालना था। ऐसी दशा में एक ही रास्ता था—दादा-अबदुल्ला उन्हें अदायगी के लिए काफी मियाद दें। दादा अबदुल्ला ने उदारता से काम लिया और काफी मियाद दे दी। पंच मुकर्रर कराने में जितना श्रम मुझे हुआ उस से कहीं अधिक लंबी किश्तें कराने में हुआ। दोनों पक्ष खुश रहे। दोनों की प्रतिष्ठा बढ़ी। मेरे संतोष की तो सीमा न रही। मैं सच्ची वकालत करना सीखा। मनुष्य के गुण—उज्वल पक्ष को खोजना सीखा। मनुष्य के हृदय में प्रवेश करना सीखा। मैंने देखा कि वकील का कर्तव्य है फरीकैन में पड़ी खाई को पाट देना। यह शिक्षा मेरे हृदय में इतने जोर के साथ अंकित हो गई कि अपने बीस साल के वकील-जीवन में अधिक समय मेरा सैकड़ों फरीकैन में समझौता कराने में बीता। इसमें मैंने गवांया कुछ नहीं। धन खोया यह भी नहीं कह सकते और आत्मा को तो किसी भी तरह नहीं खोया

(१५)

धार्मिक मन्थन

अब फिर ईसाई-मित्रों के सम्पर्क पर विचार करने का समय आया है।

मेरे भविष्य के सम्बन्ध में मि० बेकर की चिन्ता दिन-दिन बढ़ती जा रही थी। वे मुझे वेलिंग्टन कन्वेन्शन में ले गये। प्रोटेस्टेंट ईसाइयों में, कुछ-कुछ वर्षों के बाद, धर्म-जागृति अर्थात् आत्म-शुद्धि के लिए विशेष प्रयत्न किये जाते हैं। इसे धर्म की पुनःप्रतिष्ठा अथवा धर्म का पुनरुद्धार कहा करते हैं। ऐसा सम्मेलन वेलिंग्टन में था। उसके सभापति वहाँ के प्रख्यात धर्मनिष्ठ पादरी रेवरंड एण्ड्रयू मरे थे। मि० बेकर को ऐसी आशा थी कि इस सम्मेलन में होने वाली जागृति, वहाँ आने वाले लोगों का धार्मिक उत्साह, उनका शुद्ध भाव, मुझपर ऐसा गहरा असर डालेगा कि मैं ईसाई हुए बिना न रह सकूँगा।

परन्तु मि० बेकर का अन्तिम आधार था प्रार्थना-बल। प्रार्थना पर उनकी भारी श्रद्धा थी। उनका विश्वास था कि अन्तःकरण पूर्वक की गई प्रार्थना को ईश्वर अवश्य सुनता है। वे कहते 'प्रार्थना के ही बल पर मुलर (एक विख्यात भावुक ईसाई) जैसे लोग

अपना काम चलाते हैं। प्रार्थना की यह महिमा मैंने तटस्थ भाव से सुनी। मैंने उनसे कहा कि यदि मेरी अन्तरात्मा पुकार उठे कि मुझे ईसाई हो जाना चाहिए तो दुनिया की कोई ताकत मुझे ऐसा करने से रोक नहीं सकती। अन्तरात्मा की पुकार के अनुसार चलने की आदत तो मैं कितने ही वर्षों से डाल चुका था। अन्तरात्मा के अधीन होते हुए मुझे आनन्द आता। उसके विपरीत आचरण करना मुझे कठिन और दुखदाई मालूम होता था।

हम वेलिंग्टन गये। मुझ 'श्यामल साथी' को साथ रखना मि० बेकर के लिए भारी पड़ा। कई बार उन्हें मेरे कारण असुविधा भोगनी पड़ती। रास्ते में हमें मुकाम करना था। क्योंकि मि० बेकर का संघ रविवार को सफर न करता था और बीच में रविवार पड़ गया था। बीच में तथा स्टेशन पर मुझे होटल वाले ने होटल में ठहराने से; तथा चख-चख होने के बाद ठहराने पर भी भोजनालय में भोजन करने देने से इंकार कर दिया। पर मि० बेकर आसानी से हार खाने वाले न थे। वे होटल में ठहरने वालों के हक पर अड़े रहे। परन्तु मैंने उनकी कठिनाइयों का अनुभव किया। वेलिंग्टन में भी मैं उनके पास ही ठहरा था। वहाँ भी उन्हें छोटी-छोटी सी बातों में असुविधा होती थी। वे उन्हें ढाँकने को शुभ प्रयत्न करते थे, फिर भी वे मेरे ध्यान में आ जाया करती थीं।

सम्मेलन में भावुक ईसाइयों का अच्छा सम्मेलन हुआ। उनकी श्रद्धा देखकर मुझे आनन्द हुआ। मि० मरे से परिचय हुआ। मैंने देखा कि मेरे लिए बहुतेरे लोग प्रार्थना कर रहे थे। उनके कितने ही भजन मुझे बहुत मीठे मालूम हुए।

सम्मेलन तीन दिन तक हुआ। सम्मेलन में सम्मिलित होने

वालों की धार्मिकता का तो मैं समझ सका, उसकी कद्र भी कर सका; परन्तु अपनी मान्यता—अपने धर्म—में परिवर्तन करने का कारण न दिखाई दिया। मुझे यह न मालूम हुआ कि मैं अपने को ईसाई कहलाने पर ही स्वर्ग को जा सकता हूँ या मोक्ष पा सकता हूँ। जब मैंने यह बात अपने भले ईसाई मित्रों से कही तब उन्हें दुःख हुआ; पर मैं लाचार था।

मेरी कठिनाइयाँ गहरी थीं। यह बात कि ईसामसीह ही एक-मात्र ईश्वर का पुत्र है, जो उसको मानता है उसीका उद्धार होता है, मुझे न पटी। ईश्वर के यदि कोई पुत्र हो सकता है तो फिर हम सब उसके पुत्र हैं। ईसामसीह यदि ईश्वर-सम है, ईश्वर ही है, तो मनुष्य-मात्र ईश्वर-सम हैं, ईश्वर हो सकते हैं। ईसा की मृत्यु से और उसके लहू से संसार के पाप धुल जाते हैं, इस बात को अक्षरशः मानने के लिए बुद्धि किसी तरह तैयार न होती थी। रूपक के रूप में यह सत्य भले ही हो। फिर ईसाई मत के अनुसार तो मनुष्य को ही आत्मा होती है, दूसरे जीवों को नहीं, और देह के नाश के साथ ही उनका भी सर्वनाश हो जाता है, पर मेरा मत इसके विपरीत था।

ईसा को मैं त्यागी, महात्मा, दैवी शिक्षक मान सकता था; परन्तु एक अद्वितीय पुरुष नहीं। ईसा की मृत्यु से संसार को एक भारी उदाहरण मिला; परन्तु उसकी मृत्यु में कोई गुप्त चम-त्कारी प्रभाव था, इस बात को मेरा हृदय न मान सकता था। ईसाइयों के पवित्र जीवन में से मुझे कोई ऐसी बात न मिली जो दूसरे धर्मवालों के जीवन में न मिलती थी। उनकी तरह दूसरे धर्म वालों के जीवन में भी परिवर्तन होता हुआ मैंने देखा था।

सिद्धान्त की दृष्टि से ईसाई-सिद्धान्तों में मुझे अलौकिकता न दिखाई दी। त्याग की दृष्टि से हिन्दू-धर्म वालों का त्याग मुझे बढ़कर मालूम हुआ। ईसाई-धर्म को मैं सम्पूर्ण अथवा सर्वोपरि धर्म न मान सका।

अपना यह हृदय-मन्थन मैंने, समय पाकर ईसाई मित्रों के सामने रक्खा। उसका जवाब वे संतोष-जनक न दे सके।

परन्तु एक ओर जहाँ मैं इसाई धर्म को ग्रहण न कर सका तहाँ दूसरी ओर हिन्दू-धर्म की सम्पूर्णता अथवा सर्वोपरिता का भी निश्चय मैं उस समय न कर सका। हिन्दू-धर्म की त्रुटियाँ मेरी आखों के सामने घूमा करतीं। अस्पृश्यता यदि हिन्दू-धर्म का अंग हो तो वह मुझे सड़ा हुआ अथवा बढ़ा हुआ मालूम हुआ। अनेक सम्प्रदायों और जात-पांत का अस्तित्व मेरी समझ में न आया। वेद ईश्वर प्रणीत है, इसका क्या अर्थ? वेद यदि ईश्वर प्रणीत हैं तो फिर कुरान और बाइबिल क्यों नहीं?

जिस प्रकार ईसाई मित्र मुझपर असर डालने का उद्योग कर रहे थे उसी प्रकार मुसलमान मित्र भी कोशिश कर रहे थे। अबदुल्ला सेठ मुझे इस्लाम का अध्ययन करने के लिए ललचा रहे थे। उसकी खूबियों का बयान तो वे हमेशा करते रहते।

मैंने अपनी दिक्कतें रायचन्द भाई को लिखीं। हिन्दुस्तान के दूसरे धर्म-शास्त्रियों से भी पत्र-व्यवहार किया। उनके उत्तर भी आये। परन्तु रायचन्द भाई के पत्र ने मुझे शान्ति दी। उन्होंने लिखा कि धीरज रक्खो, और हिन्दू-धर्म का गहरा अध्ययन करो उनके एक वाक्य का भावार्थ यह था—'हिन्दू-धर्म में जो सूक्ष्म और गूढ़ विचार हैं, जो आत्मनिरीक्षण है, दया है, वह दूसरे धर्म में

नहीं है–निष्पक्ष होकर विचार करते हुए मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ।

मैंने सेल कृत कुरान खरीदी और पढ़ना शुरू की। दूसरी इस्लामी पुस्तकें भी मंगाईं। विलायत के ईसाई मित्रों से लिखा पढ़ी की। उनमें से एक ने एडवर्ड मेटलेण्ड से जान-पहचान कराई। उनके साथ चिट्ठी-पत्री हुई। उन्होंने एना किंग्सफर्ड के साथ मिलकर 'परफेक्ट वे' (उत्तम मार्ग) नामक पुस्तक लिखी थी। वह मुझे पढ़ने के लिए भेजी। प्रचलित ईसाई-धर्म का उसमें खण्डन था। 'बाइबिल का नवीन अर्थ' नामक पुस्तक भी उन्होंने मुझे भेजी। ये पुस्तकें मुझे पसन्द आईं। उनसे हिन्दू-मत को पुष्टि मिली। टॉलस्टाय की 'वैकुण्ठ तुम्हारे हृदय में है' नामक पुस्तक ने मुझे मुग्ध कर लिया। उसकी बड़ी गहरी छाप मुझ पर पड़ी। इस पुस्तक की स्वतंत्र विचार शैली, उसकी प्रौढ़ नीति, उसके सत्य के सामने मि० कोट्स की दी हुई तमाम पुस्तकें शुष्क मालूम हुईं।

इस प्रकार मेरा यह अध्ययन मुझे ऐसी दिशा में ले गया जिसे ईसाई-मित्र न चाहते थे। एडवर्ड मेटलेण्ड के साथ मेरा पत्र-व्यवहार काफी समय तक रहा। कवि (रायचन्द भाई) के साथ तो अन्त तक रहा। उन्होंने कितनी ही पुस्तकें भेजीं। उन्हें भी पढ़ गया। उनमें 'पंचीकरण', मणिरत्नमाला', 'योगवसिष्ठ' का मुमुक्षु प्रकरण, हरिभद्र सूरि का 'षड्-दर्शन-समुच्चय' इत्यादि थे।

इस प्रकार यद्यपि मैं ऐसे रास्ते चल पड़ा जिसका ख्याल ईसाई मित्रों ने न किया था, फिर भी उनके समागम ने जो धर्म-जिज्ञासा मुझ में जागृत करदी थी उसके लिए तो मैं उनका चिर कालीन ऋणी हूँ। उनसे मेरा यह संबंध मुझे हमेशा याद रहेगा। ऐसे मीठे और पवित्र संबंध आगे और भी बढ़ते गये हैं, घटे नहीं हैं।

(१६)

'को जाने कलकी'?

'खबर नहिं इस जुग में पल की
समझ मन को जाने कल की ?'

मुकदमा खतम हो जाने के बाद मेरे प्रिटोरिया में रहने का कोई प्रयोजन न रहा था। सो मैं डरबन गया। वहाँ जाकर घर—भारतवर्ष लौटने की तैयारी की। पर अबदुल्ला सेठ भला मुझे आदर-सत्कार किये बिना क्यों जाने देने लगे ? उन्होंने सिडेनहैम में मेरे लिए खान-पान का एक जलसा किया। सारा दिन उसमें लगने वाला था।

मेरे पास कितने ही अखबार रक्खे हुए थे। उन्हे मैं देख रहा था। एक अखबार के कोने में एक छोटी सी खबर छपी थी 'इण्डियन फ्रेंचाइज़'। इसका अर्थ हुआ—'हिन्दुस्तानी मताधिकार'। खबर का भावार्थ यह था कि नेटाल की धारा-सभा के सभ्यों को चुनने का जो अधिकार हिन्दुस्तानियों को था वह छीन लिया जाय। इसके विषय में एक क़ानून धारासभा में पेश था और उसपर चर्चा हो रही थी। मैं उस क़ानून के बारे में कुछ न

जानता था। जलसे में किसी को इस मसविदे की खबर न थी जो कि भारतीयों के अधिकारों को छीनने के लिए तैयार किया था।

मैंने अबदुल्ला सेठ से इसका ज़िक्र किया। उन्होंने कहा— 'इन बातों में हम लोग क्या समझें? हमारे तो व्यापार पर अगर कोई आफ़त आवे तो ख़बर पड़ सकती है। देखिए, आरेञ्ज फ्री स्टेट में हमारे व्यापार की सारी जड़ उखड़ गई। उसके लिए हमने कोशिश भी की। पर हम तो ठहरे अपंग। अख़बार पढ़ते हैं—पर अपने भाव-ताव की बातें ही समझ लेते हैं। क़ानून-क़ायदे की बातों का हमें क्या पता चले? हमारे आंख-कान जो कुछ हैं गोरे वकील हैं।'

'पर यहीं पैदा हुए और अंगरेजी पढ़े-लिखे इतने नौजवान हिन्दुस्तानी जो यहाँ हैं?' मैंने कहा।

'अजी भाई साहब?' अबदुल्ला सेठ ने सिर पर हाथ मारते हुए कहा—'उनसे क्या उम्मीद की जाय? वे बेचारे इन बातों में क्या समझें? वे तो हमारे पास तक नहीं फटकते और सच पूछिए तो हम भी उन्हें नहीं पहचानते। वे हैं ईसाई, इसलिए पादरियों के पंजे में हैं। और पादरी लोग हैं गोरे, वे सरकार के ताबे हैं।'

सुनकर मेरी आँखें खुलीं। सोचा कि इस दल को अपनाना चाहिए। ईसाई-धर्म के क्या यही मानी? क्या ईसाई हो जाने से उनका नाता देश से टूट गया, और विदेशी हो गये?

पर मुझे तो देश वापस लौटना था, अतएव इन विचारों को मूर्त रूप न दिया। अबदुल्ला सेठ से कहा—

'पर यदि यह बिल ज्यों का त्यों पास हो गया तो आपलोगों के लिए बहुत भारी पड़ेगा। यह तो भारतवासियों के अस्तित्व को मिटा

डालने का पहला कदम है। इससे हमारा स्वाभिमान नष्ट होगा।'

'जो कुछ हो। इस फरेंचाइज (इस तरह अंगरेजी के कितने ही शब्द देशी भाषा में रूढ़ हो गये थे। 'मताधिकार' कहने से कोई नहीं समझता) का थोड़ा इतिहास सुन लीजिए। इस मामले में हमारी समझ काम नहीं देती। पर, हमारे बड़े वकील मि० ऐस्कम्ब को तो आप जानते ही हैं वे जबरदस्त लड़वैये हैं। उनकी तथा यहाँ के फुरजा के इंजीनियर की खूब चख-चख चला करती है। मि० ऐस्कम्ब के धारासभा में जाने में यह लड़ाई बाधक हो रही थी। इसलिए उन्होंने हमें हमारी स्थिति का ज्ञान कराया। उनके कहने से हमने अपने नाम मताधिकार-पत्र में दर्ज करा लिये और अपने तमाम मत मि० ऐस्कम्ब को दिये। अब आप समझ जायँगे कि हम इस मताधिकार की कीमत आपके इतनी क्यों नहीं आँकते हैं ? पर आपकी बात अब हमारी समझ में आ रही है—अच्छा तो अब आप क्या सलाह देते हैं' ?

यह बात दूसरे मेहमान लोग गौर से सुन रहे थे। उनमें से एक ने कहा—'मैं आप से सच्ची बात कह दूँ ? यदि आप इस जहाज से न जायँ और एकाध महीना यहाँ रह जायँ तो आप जिस तरह बतायें हम लड़ने को तैयार हैं।'

एक दूसरे ने कहा—'यह बात ठीक है। अबदुल्ला सेठ, आप गांधीजी को रोक लीजिए।'

अबदुल्ला सेठ थे उस्ताद आदमी। वे बोले—'अब इन्हें रोकने का अख्त्यार मुझे नहीं। अथवा जितना मुझे है उतना ही आपको भी है। पर आपकी बात है ठीक। हम सब मिलकर इन्हें रोक लें। पर ये तो बैरिस्टर हैं। इनकी फीस का क्या होगा ?'

फ़ीस की बात से मुझे दुःख हुआ। मैं बीच ही में बोला—

'अबदुल्ला सेठ, इसमें फीस का क्या सवाल? सर्वजनिक सेवा में फीस किस बात की? यदि मैं रहा तो एक सेवक की हैसियत से रह सकता हूँ। इन सब भाइयों से मेरा पूरा परिचय नहीं है। पर यदि आप यह समझते हों कि ये सब लोग मिहनत करेंगे तो मैं एक महीना ठहर जाने के लिए तैयार हूँ। पर एक बात है। मुझे तो आपको कुछ देना-वेना नहीं पड़ेगा, पर ऐसे काम बिना रुपये पैसे के नहीं चल सकते। हमें तार वगैरा देना पड़ेंगे—कुछ छपाना भी पड़ेगा। इधर जाना-आना पड़ेगा, उसका किराया आदि भी लगेगा। मौका पड़ने पर यहाँ के वकीलों की भी सलाह लेनी पड़ेगी। मैं यहाँ के सब क़ानून-कायदों को अच्छी तरह नहीं जानता। क़ानून की पुस्तकें देखनी होंगी। फिर ऐसे काम अकेले हाथों नहीं हो सकते। कई लोगों के सहयोग की जरूरत होगी।'

बहुत-सी आवाज़ एक साथ सुनाई दी—'खुदा की महर है। रुपये-पैसे की फ़िक्र न कीजिए। आदमी भी मिल जायँगे। आप सिर्फ ठहरना मंजूर कर लें तो बस है।

फिर क्या था? वह जलसा कार्यकारिणी-समिति के रूप में परिणत हो गया। मैंने सुझाया कि खा-पी जल्दी फारिग होकर हम लोग घर पहुँचें। मैंने मन में लड़ाई की रूप-रेखा बांधी। यह जान लिया कि मताधिकार कितने लोगों को है मैंने भी एक मास ठहर जाने का निश्चय किया।

इस प्रकार ईश्वर ने दक्षिण आफ्रिका में मेरे स्थायी रूप से रहने की नींव डाली और आत्म-सम्मान के संग्राम का बीजारोपण हुआ।

(१७)

बस गया

१८९३ ईस्वी में सेठ हाजी महम्मद हाजी दादा नेटाल की भारतीय जाति के अग्रगण्य नेता माने जाते थे। साम्पत्तिक स्थिति में सेठ अबदुल्ला हाजी आदम मुख्य थे; परन्तु वे तथा दूसरे लोग भी सार्वजनिक कामों में सेठ हाजी महम्मद को ही प्रथम स्थान देते थे। इसलिए उनकी अध्यक्षता में, अबदुल्ला सेठ के मकान में, एक सभा की गई। उसमें फ्रेंचाइज बिल का विरोध करने का प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। स्वयंसेवकों की सूची भी बनी। इस सभा में नेटाल में जन्मे हिन्दुस्तानी, अर्थात ईसाई नवयुवक भी बुलाए गये थे। मि० पॉल डरबन की अदालत के दुभाषिया थे। मि० सुबहान गाडफ्रे मिशन स्कूल के हेडमास्टर थे। वे भी सभा में उपस्थित हुए थे। और उनके प्रभाव से ईसाई नवयुवक अच्छी संख्या में आये थे। इन सब लोगों ने स्वयंसेवकों में अपना नाम लिखाया। सभा में व्यापारी भी बहुतेरे थे। उनमें जानने योग्य नाम ये हैं:—सेठ दाउद महम्मद, महम्मद कासिम, कमरुद्दीन, सेठ आदमजी मियाँ खान, ए० कोलन्दवेल्लु पिल्ले, सा०लछीराम, रंगस्वामी पड़ियाची, आमद जीवा इत्यादि।

पारसी रुस्तमजी तो थे ही। कारकुन लोगों में पारसी माणेकजी, जोशी, नरसी राम, इत्यादि, दादा अबदुल्ला की तथा दूसरी बड़ी दुकानों के कर्मचारी थे। पहले-पहल सार्वजिक काम में पड़ते हुए इन लोगों को ज़रा अटपटा मालूम हुआ। इस तरह सार्वजनिक काम में निमंत्रित तथा सम्मिलित होने का उन्हें यह पहला अनुभव था। सिर आई विपत्ति के मुकाबले के लिए नीच-ऊँच, छोटे-बड़े, मालिक-नौकर, हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई, गुजराती, मदरासी, सिन्धी, इत्यादि भेद-भाव जाते रहे। उस समय सब भारत की संतान और सेवक थे।

फ्रेंचाइज बिल दुवारा पढ़ा जा चुका था अथवा पढ़ा जाने वाला था। उस समय धारासभा में जो भाषण हुए उनमें यह बात कही गई कि कानून इतना सख्त था, फिर भी हिन्दुस्तानियों की ओर से उसका कुछ विरोध न हुआ। वह भारतीय प्रजा की लापरवाही, और मताधिकार-संबंधी उनकी अपात्रता का प्रमाण था।

मैंने सभा को सारी हकीकत समझा दी। पहला काम तो यह हुआ कि धारा-सभा के अध्यक्ष को तार दिया जाय कि वे बिल पर आगे विचार करना स्थगित कर दें। ऐसा ही तार मुख्य प्रधान सर जान राबिन्सन को भी भेजा, तथा एक और तार दादा अबदुल्ला के मित्र के नाते मि० एस्कम्ब को गया। तार का जवाब मिला कि बिल की चर्चा दो दिन तक स्थगित रहेगी। इससे सब लोगों को खुशी हुई।

अब दरख्वास्त का मसविदा तैयार हुआ। उसकी तीन प्रतियाँ भेजी जाने वाली थीं। अखबारों के लिए भी एक प्रति तैयार करनी थी। उसपर जितनी अधिक सहियाँ ली जा सकें लेनी थीं।

यह सब काम एक रात में पूरा करना था। वे शिक्षित स्वयं-सेवक तथा दूसरे लोग लगभग सारी रात जगे। उनमें एक मि० आर्थर थे, जो बहुत बुड्ढे थे और जिनका खत अच्छा था। उन्होंने सुंदर हरफों में दरख़्वास्त की नकल की। औरों ने उसकी और नकलें कीं। एक बोलता जाता और पाँच लिखते जाते। इस तरह पांच नकलें एक साथ हो गईं। व्यापारी स्वयं-सेवक अपनी-अपनी गाड़ियां लेकर अपने खर्चे से गाड़ियां किराया करके सहियां लेने दौड़ पड़े।

दरख़्वास्त गई। अखबारों में छपी। उस पर अनुकूल टिप्पणियां निकलीं। धारा-सभा पर भी उसका असर हुआ। उसकी चर्चा भी खूब हुई। दरख्वास्त में जो दलीलें पेश की गई थीं, उन पर आपत्तियाँ उठाई गईं। परन्तु खुद उठाने वालों को ही वे लचर मालूम हुईं। इतना करने पर भी बिल तो आखिर पास हो ही गया।

सब जानते थे कि यही हो कर रहेगा। पर इतने आंदोलन से हिन्दुस्तानियों में नवीन जीवन आ गया। सब लोग इस बात को समझ गये कि हम सब का समाज एक है। अकेले व्यापारी अधिकारों के लिए ही नहीं, बल्कि अपने कौमी अधिकारों के लिए भी लड़ना सबका धर्म है।

इस समय लार्ड रिपन उपनिवेश-मंत्री थे। प्रस्ताव हुआ कि उन्हें एक भारी दरख्वास्त लिख कर पेश की जाय। इस पर जितनी अधिक मिले सहियाँ ली जायँ। यह काम एक दिन में नहीं हो सकता था। स्वयं सेवक तैनात हुए और सबने थोड़ा थोड़ा काम का बोझ उठा लिया।

दरख़्वास्त तैयार करने में मैंने बड़ा परिश्रम किया। जितना साहित्य मेरे हाथ लगा सब पढ़ डाला। हिन्दुस्तान में हमें एक

तरह का मताधिकार है, इस सिद्धांत की बात को तथा हिन्दुस्तानियों की आबादी बहुत थोड़ी है, इस व्यवहारिक दलील को मैंने अपना मध्यबिन्दु बनाया।

दरख़्वास्त पर दस हज़ार आदमियों के दस्तखत हुए। एक सप्ताह में दरख्वास्त भेजने के लिए आवश्यक सहियाँ प्राप्त हो गईं। इतने थोड़े समय में नेटाल में दस हजार दस्तखत प्राप्त करने को पाठक ऐसा-वैसा काम न समझें। सारे नेटाल में से दस्तखत प्राप्त करने थे। लोग इस काम से अपरिचित थे। इधर यह निश्चय किया गया था, कि तब तक किसी की सही न ली जाय, जब तक कि वे दरख्वास्त का आशय न समझलें। इस लिए खास तौर पर स्वयंसेवकों को भेजने से ही सहियाँ मिल सकती थीं। गाँव दूर-दूर थे। ऐसी अवस्था में ऐसे काम उसी हालत में जल्दी हो सकते हैं, जब बहुतेरे काम करने वाले निश्चय पूर्वक काम में जुट पड़ें। ऐसा ही हुआ भी। सबने उत्साह-पूर्वक काम किया। इनमें से सेठ दाउद महम्मद, पारसी रुस्तमजी आदमजी मियांखान और आमद जीवाजी की मूर्तियाँ आज भी मेरी आंखों के सामने आ जाती हैं। वे बहुतेरों के दस्तखत लाये थे। दाउद सेठ दिनभर अपनी गाड़ी लिए-लिए घूमते। किसी ने जेब-खर्च तक न मांगा।

दादा अबदुल्ला का मकान तो धर्मशाला अथवा सार्वजनिक कार्यालय जैसा हो गया था। शिक्षित भाई तो मेरे पास डटे ही रहते। उनका तथा दूसरे कर्मचारियों का खाना-पीना दादा अबदुल्ला के ही यहाँ होता। इस तरह सब लोगों ने काफी खर्चा बरदाश्त किया।

दरख्वास्त गई, उसकी एक हज़ार प्रतियाँ छपवाई गई थीं। उस दरख्वास्त ने हिन्दुस्तान के देश-सेवकों को नेटाल का पहली बार परिचय कराया। जितने अखबारों का तथा देश के नेताओं का नाम-ठाम मैं जानता था, सबको इस दरख्वास्त की नक़लें भेजी गई थीं।

'टाइम्स आफ़ इण्डिया' ने उस पर अग्रलेख लिखा और भारतीयों की मांग का ख़ासा समर्थन किया। विलायत में भी प्रार्थना-पत्र की नकलें तमाम दल के नेताओं को भेजी गई थीं। वहाँ लन्दन 'टाइम्स' ने उसकी पुष्टि की। इस कारण बिल के मंजूर न होने की आशा होने लगी।

अब ऐसी हालत हो गई कि मैं नेटाल न छोड़ सकता था। लोगों ने मुझे चारों ओर से आ घेरा और बड़ा आग्रह करने लगे कि अब मैं नेटाल में ही स्थायी-रूप से रहजाऊँ। मैंने अपनी कठिनाइयाँ उन पर प्रकट कीं। अपने मन में मैंने यह निश्चय कर लिया था कि मैं यहाँ सर्व-साधारण के ख़र्च पर न रहूँगा।

अपना अलग इन्तज़ाम करने की आवश्यकता मुझे दिखाई दी। घर भी अच्छा और अच्छे मुहल्ले में होना चाहिए—इस समय मेरा यही मत था। मेरा ख्याल था कि दूसरे बैरिस्टरों की तरह ठाठ-बाट से रहने में अपने समाज का मान-गौरव बढ़ेगा। मैंने देखा कि इस तरह तो मैं ३.०० पौंड साल के बिना काम न चला सकूँगा। तब मैंने निश्चय किया कि यदि यहाँ के लोग इतनी आमदनी के लायक़ वकालत का इन्तज़ाम करा देने का ज़िम्मा लें तो मैं रह जाऊँगा।

'पर इतनी रक़म तो यदि आप सार्वजनिक कामों के लिए लें

तो भी कोई बात नहीं, और इतनी रक़म जुटाना हमारे लिए कोई कठिन बात भी नहीं है। वकालत में जो कुछ मिल जाय वह आपका।' साथियों ने कहा।

'इस तरह मैं आर्थिक सहायता नहीं लेना चाहता। अपने सार्वजनिक काम का मैं इतना मूल्य नहीं समझता। इसमें मुझे वकालत का आडम्बर थोड़े ही रचना है—मुझे तो लोगों से काम लेना है। इसका मावजा मैं द्रव्य के रूप में कैसे ले सकता हूँ। फिर आप लोगों से भी तो मुझे सार्वजनिक कामों के लिए धन लेना है। यदि मैं अपने लिए रुपया लेने लगूँ तो आपसे बड़ी-बड़ी रक़में लेते हुए मुझे संकोच होगा, और अपनी गाड़ी रुक जायगी। लोगों से तो मैं हर साल ३०० पौंड से अधिक ही ख़र्च करा दूँगा।' मैंने उत्तर दिया।

'पर हम तो आपको अब अच्छी तरह जान गये हैं। आप अपने लिए थोड़े ही चाहते हैं? आपके रहने का ख़र्चा तो हमीं लोगों को न देना चाहिए?'

'यह तो आपका स्नेह और तात्कालिक उत्साह आपसे कह-लवा रहा है। यह कैसे मान लें कि यही स्नेह और यही उत्साह सदा क़ायम रह सकेगा? मुझे तो आपको कभी कड़वी बातें भी कहनी पड़ेंगी। उस समय भी मैं आपके स्नेह का पात्र रह सकूँगा या नहीं, सो ईश्वर जाने। पर असली बात यह है कि सार्वजनिक काम के लिए रुपया-पैसा मैं न लूँ। आप लोग सिर्फ़ अपने मामले-मुक़दमे मुझे देते रहने का वचन दें तो मेरे लिए काफ़ी है। यह भी शायद आपको भारी मालूम होगा। क्योंकि मैं कोई गोरा बैरि-स्टर तो हूँ नहीं, और यह भी पता नहीं कि अदालत मुझ जैसे को

दार देगी या नहीं। यह भी नहीं कह सकता कि पैरवी कैसी क्या कर सकूँगा। इसलिए मुझे पहले से महनताना देने में भी आपको जोखिम उठाना पड़ेगी। और इतने पर भी यदि आप मुझे महनताना दें तो यह तो मेरी सेवाओं की बदौलत ही न होगा?'

इस चर्चा का नतीजा यह निकला कि कोई २० व्यापारियों ने मिलकर मेरे एक वर्ष की आय का प्रबन्ध कर दिया। इसके अलावा दादा अबदुल्ला जो बिदाई के समय मुझे रक़म भेंट करने वाले थे उसके बदले उन्होंने मुझे आवश्यक फ़र्नीचर ला दिया और मैं नेटाल में रह गया।

(१८)

वर्ण-द्वेष

अदालतों का चिन्ह है तराज़ू। उसे पकड़ रखने वाली एक निष्पक्ष, अंधी परन्तु समझदार बुढ़िया है। उसे विधाता ने अंधा बनाया है कि जिससे वह मुँह देख कर तिलक न लगावे; बल्कि योग्यता को देखकर लगावे। इसके विपरीत, नेटाल की अदालत से तो मुँह देख कर तिलक लगवाने के लिए वहाँ की वकील-सभा ने कमर कसी थी। किन्तु अदालत ने इस अवसर पर अपने चिन्ह की लाज रख ली।

मुझे वकालत की सनद लेना थी। मेरे पास बंबई हाई-कोर्ट का तो प्रमाण-पत्र था, पर विलायत का प्रमाण-पत्र बंबई अदालत के दफ्तर में था। वकालत की मंजूरी की दरख्वास्त के साथ नेक-चलनी के दो प्रमाण-पत्रों की आवश्यकता समझी जाती थी। मैंने सोचा कि यदि ये प्रमाण-पत्र गोरे लोगों के हों तो ठीक होगा। इसलिए अबदुल्ला सेठ की माफ़त मेरे सम्पर्क में आये दो प्रसिद्ध गोरे व्यापारियों के प्रमाण-पत्र लिये। दरख्वास्त किसी वकील की माफ़त दी जानी चाहिए और मामूली क़ायदा यह था कि ऐसी दरख्वास्त अटर्नी-जनरल बिना फ़ीस के पेश करता है। मि०

एस्कम्ब अटर्नी-जनरल थे। हम जानते ही हैं कि अबदुल्ला सेठ के वे वकील थे। अतएव मैं उनसे मिला और उन्होंने खुशी से मेरी दरख्वास्त पेश करना मंजूर कर लिया।

इतने ही में बिना खोज-ख़बर एकाएक वकील-सभा की तरफ़ से मुझे नोटिस मिला। नोटिस में मेरे वकालत करने के ख़िलाफ़ विरोध की आवाज़ उठाई गई थी। इसमें एक कारण यह बताया गया था कि मैंने वकालत की दरख्वास्त के साथ असल प्रमाण-पत्र की नकल नहीं पेश की थी। परन्तु विरोध की असली बात यह थी कि जिस समय अदालत में वकीलों को दाखिल करने के संबंध में नियम बने, उस समय किसी ने भी यह ख़याल न किया होगा कि वकालत के लिए कोई काला या पीला आदमी आकर दरख्वास्त देगा। नेटाल गोरों के साहस का फल है और इसलिए यहाँ गोरों की ही प्रधानता रहनी चाहिए। उनको भय हुआ कि यदि काले वकील भी अदालत में आने लगेंगे तो धीरे-धीरे गोरों की प्रधानता चली जायगी और उनकी रक्षा की दीवारें टूट जायंगी।

इस विरोध के समर्थन के लिए वकील-सभा ने एक प्रख्यात वकील को अपनी तरफ़ से खड़ा किया था। इस वकील का भी संबंध दादा अबदुल्ला से था। उनकी मार्फत उन्होंने मुझे बुलाया। उन्होंने शुद्ध भाव से मुझसे बात-चीत की। मेरा इतिहास पूछा। मैंने सब कह सुनाया। तब वे बोले—

'मुझे आपके ख़िलाफ़ कुछ नहीं कहना। मुझे यह भय था कि आप कोई यहीं के पैदा हुए धूर्त आदमी होंगे। फिर आपके पास असली प्रमाण-पत्र नहीं है इससे मेरे शक को और पुष्टि मिल गई। फिर ऐसे लोग भी होते हैं जो दूसरे के प्रमाण-पत्रों

को इस्तेमाल कर लेते हैं। और आपने जो गोरों के प्रमाण-पत्र पेश किये हैं उनका असर मेरे दिल पर न हुआ। यहाँ के गोरेलोग भला आपको क्या पहचानें? आपके साथ उनका परिचय हीकितना?

'पर यहाँ तो मेरे लिए सभी नये हैं। अबदुल्ला सेठ से भी मेरी पहचान यहीं हुई।' मैं बीच में बोला।

'हाँ, पर आप कहते हैं कि वे आपके गाँव के हैं। और आपके पिता वहाँ के दीवान थे, अतएव आपके परिवार के लोगों को तो वे पहचानते ही हैं न? यदि उनका लिखित बयान पेश कर दें तो मुझे कुछ भी उज्र न होगा। मैं वकील-सभा को लिख भेजूँगा कि गांधी का विरोध मुझसे न होगा।'

मुझे गुस्सा आया, पर मैंने रोका। मुझे लगा—'यदि मैंने अबदुल्ला सेठ का ही प्रमाण-पत्र पेश किया होता, तो उसकी कोई परवा न करता और गोरों की जान-पहचान माँगी जाती। फिर मेरे जन्म के साथ वकालत-संबंधी मेरी योग्यता का क्या सम्बन्ध हो सकता है? यदि मैं ख़राब अथवा ग़रीब मां-बाप का पुत्र होऊँ तो यह बात मेरी लियाक़त की जाँच में मेरे ख़िलाफ किस लिए कही जाय?' पर मैंने इन सब विचारों को रोक कर उत्तर दिया—

'हालाँकि मैं यह नहीं मानता कि इन सब बातों के पूछने का अधिकार वकील-सभा को है; फिर भी जैसा आप चाहते हैं, दादा अबदुल्ला का हलफ़िया बयान मैं पेश करा देने को तैयार हूँ।'

अबदुल्ला सेठ का हलफ़िया बयान लिखा और वह वकील को दिया। उन्होंने सन्तोष प्रकट कर दिया, पर वकील-सभा को सन्तोष न हुआ। उसने अपना विरोध अदालत में भी उठाया।

अदालत ने मि० ऐस्कंब का जवाब सुने बिना ही सभा का विरोध अस्वीकार कर दिया। प्रधान न्यायाधीश ने कहा—

'इस दलील में कुछ जान नहीं कि प्रार्थी ने असली प्रमाण-पत्र नहीं पेश किया। यदि उसने झूठी सौगन्ध खाई होगी तो उस पर अदालत में झूठी क़सम खाने का मुक़दमा चल सकेगा और उसका नाम वकीलों की सूची से हटा दिया जायगा। अदालत की धाराओं में काले-गोरे का भेद-भाव नहीं है। हमें मि० गांधी को वकालत करने से रोकने का कोई अधिकार नहीं। उनकी दरख्वास्त मंजूर की जाती है। मि० गांधी आप आकर शपथ ले सकते हैं।'

मैं उठा। रजिस्ट्रार के पास जाकर शपथ ली। लेते ही प्रधान न्यायाधीश ने कहा—'अब आपको अपनी पगड़ी उतार देनी चाहिए। वकील की हैसियत से, वकील की पोशाक के संबंध में अदालत का जो नियम है, उसका पालन आपको करना होगा।'

मैंने अपनी मर्यादा समझ ली। डरबन के मेजिस्ट्रेट की अदालत में पगड़ी पहने रहने की बात पर जो मैं अड़ा रहा था सो यहाँ न रह सका। पगड़ी उतारी, यह बात नहीं कि पगड़ी उतारने के विरोध में दलील न थी। पर मुझे तो अब बड़ी लड़ाइयाँ लड़नी थीं। पगड़ी पहने रहने की हठ में मेरी युद्ध-कला की समाप्ति न होती थी। उलटा इससे उसमें बट्टा लग जाता।

अबदुल्ला सेठ तथा दूसरे मित्रों को मेरी यह नरमी (या कमजोरी?) अच्छी न लगी। वे चाहते थे कि वकील की हैसियत से भी मैं पगड़ी पहन रखने की टेक कायम रखता। मैंने उन्हें समझाने की भरसक कोशिश की। 'जैसा देश वैसा वेश' इस कहावत का रहस्य समझाया। हिन्दुस्तान में यदि वहाँ के गोरे

अधिकारी अथवा जज पगड़ी उतारने पर मजबूर करें तो उसका विरोध किया जा सकता है। नेटाल जैसे देश में, और फिर अदालत के एक सदस्य की हैसियत से, मुझे अदालत के रिवाज का विरोध शोभा नहीं देता।'

यह तथा दूसरी दलीलें देकर मित्रों को मैंने कुछ शांत तो किया; पर मैं नहीं समझता कि एक ही बात को भिन्न परिस्थिति में भिन्न रीति से देखने के औचित्य को मैं, इस समय, उनके हृदय पर इस तरह अंकित कर सका कि जिससे उन्हें सन्तोष हो। परन्तु मेरे जीवन में आग्रह और अनाग्रह दोनों सदा साथ-साथ चलते आये हैं। पीछे चलकर मैंने कई वार यह अनुभव किया है कि सत्याग्रह में यह बात अनिवार्य है। अपनी इस समझौता-वृत्ति के कारण मुझे कई बार अपनी जान जोखिम में डालना पड़ी है और मित्रों के असन्तोष को शिरोधार्य करना पड़ा है। पर सत्य तो वज्र की तरह कठोर और कमल की तरह कोमल है।

वकील-सभा के विरोध ने दक्षिण आफ्रिका में मेरे लिए एक और विज्ञापन का काम कर दिया। कितने ही अखबारों ने मेरे खिलाफ उठाये गये विरोध की निन्दा की और वकीलों पर ईर्ष्या का इल्ज़ाम लगाया। इस प्रसिद्धि से मेरा काम कुछ अंश में अपने आप सरल हो गया।

(१८)

नेटाल इंडियन कांग्रेस

वकालत करना मेरे नजदीक गौण बात थी और हमेशा गौण ही रही। नेटाल में अपना रहना सार्थक करने के लिए मुझे सार्वजनिक काम में ही तन्मय हो जाना जरूरी था। भारतीय मताधिकार-प्रतिरोधक कानून के विरोध में आवाज़ उठाकर—महज़ दरख्वास्त भेज कर चुप न बैठा जा सकता था। उसका आन्दोलन होते रहने ही से उपनिवेशों के मंत्री पर असर हो सकता था। इसके लिए एक संस्था स्थापित करने की आवश्यकता दिखाई दी। मैंने अबदुल्ला सेठ के साथ मशवरा किया। दूसरे साथियों से मिला और हम लोगों ने एक सार्वजनिक संस्था खड़ी करने का निश्चय किया।

उसका नाम रखने में कुछ धर्म-संकट आया। यह संस्था किसी पक्ष का पक्षपात नहीं करना चाहती थी। महासभा (कांग्रेस) का नाम कंज़रवेटिव (प्राचीन) पक्ष में अरुचिकर था, यह मुझे मालूम था। परन्तु महासभा तो भारत का प्राण थी। उसकी शक्ति को बढ़ाना जरूरी था। उसके नाम को छुपाने में अथवा धारण करते हुए संकोच रखने में कायरता की गंध आती थी।

इसलिए मैंने अपनी दलीलें पेश करके संस्था का नाम 'कांग्रेस' रखने का प्रस्ताव किया। और मई १८९४ को 'नेटाल इण्डियन कांग्रेस' का जन्म हुआ।

दादा अबदुल्ला का बैठकखाना लोगों से भर गया था। उन्होंने उत्साह के साथ इस संस्था का स्वागत किया। संगठन बहुत सादा रक्खा था, पर चंदा भारी रक्खा गया था। जो हर मास कम से कम पांच शिलिंग देता वही सभ्य हो सकता था। धनिक लोग राजी-खुशी जितना अधिक दे सकें चंदा दें यह तय हुआ। अबदुल्ला सेठ से हर मास दो पौण्ड लिखाये। दूसरे दो सज्जनों ने भी इतना ही चन्दा लिखाया। मैंने खुद भी सोचा कि मैं इसमें संकोच कैसे करूँ? इसलिए मैंने भी प्रति मास एक पौंड लिखाया। यह रकम मेरे लिए कम न थी, पर मैंने सोचा कि जहाँ मेरा इतना खर्चवर्चा चलेगा तहाँ प्रति मास एक पौंड क्यों भारी पड़ेगा? और ईश्वर ने मेरी नाव चलाई। एक पौंड वालों की संख्या खासी हो गई। दस शिलिंग वाले उससे भी अधिक हुए। इसके अलावा बिना सभ्य हुए भेंट के तौर पर जो लोग देवें सो अलग।

अनुभव ने बताया कि उगाही किये बिना कोई चंदा नहीं दे जाता। डरबन से बाहर वालों के यहाँ बार बार जाना असंभव था। इससे मुझे हमारी 'आरंभ-शूरता' का परिचय मिला। डरबन में भी बहुत चक्कर खाने पड़ते, तब कहीं जाकर चंदा मिलता। मैं मंत्री था। रुपया वसूल करने का जिम्मा मुझ पर था। मुझे अपने मुंशी को सारा दिन चंदा-वसूली में ही लगा रहने की नौबत आ गई। वह बेचारा भी थकता उठा। मैंने सोचा कि मासिक नहीं, वार्षिक चंदा होना चाहिए और वह भी सब को पेशगी दे देना चाहिए।

बस, सभा की गई और सबने इस बात को पसन्द किया। तय हुआ कि कम से कम तीन पौंड वार्षिक चंदा लिया जाय। इससे वसूली का काम आसान हो गया।

आरम्भ में ही मैंने यह सीख लिया था कि सार्वजनिक काम कभी कर्ज़ लेकर न चलाना चाहिए। और बातों में भले ही लोगों का विश्वास कर लें पर पैसे की बात में नहीं किया जा सकता। मैंने देख लिया था कि वादा कर चुकने पर भी, देने के धर्म का पालन कहीं भी नियमित रूप से नहीं होता। नेटाल के हिंदुस्तानी इसके अपवाद न थे। इस कारण 'नेटाल इण्डियन कांग्रेस' ने कभी कर्ज़ करके कोई काम नहीं किया।

सभ्य बनाने में साथियों ने असीम उत्साह प्रकट किया था। उस में उनकी बड़ी दिलचस्पी हो गई थी। उसके कार्य से अनमोल अनुभव मिलता था। बहुतेरे लोग खुशी-खुशी नाम लिखवाते और चंदा दे देते। हाँ, दूर-दूर के गावों में जरा मुश्किल पेश आती। लोग सार्वजनिक काम की महिमा नहीं समझते थे। कितनी ही जगह तो लोग अपने यहाँ आने का न्योता भेजते, अकसर व्यापारी के यहाँ ठहराते। परन्तु इस भ्रमण में हमें एक जगह शुरुवात में ही दिक्कत पेश हुई। यहाँ से छः पौंड मिलना चाहिए थे; पर वे तीन पौंड से आगे न बढ़ते थे। यदि उनसे इतनी ही रकम लेते तो औरों से इससे अधिक न मिलती। ठहराये हम उन्हीं के यहाँ गये थे। सब को भूख लग रही थी। पर जबतक चदा न मिले तब तक भोजन कैसे करते? खूब मिन्नत-खुशामद की गई। पर वे टस से मस न हुए। गाँव के दूसरे व्यापारियों ने भी उन्हें समझाया। सारी रात इसी खींचातानी में गई। गुस्सा तो कई साथियों

को आया, पर किसी ने अपना सौजन्य न छोड़ा। ठेठ सुबह जा कर वे पसीजे और छः पौंड दिये तब जा कर हम लोगों को खाना नसीब हुआ। यह घटना टोंगाटा की है। इसका असर उत्तर किनारे पर ठेठ स्टेंगर तक तथा अन्दर ठेठ चार्ल्सटाउन तक पड़ा और चंदा वसूली का हमारा काम बड़ा सरल हो गया।

परन्तु प्रयोजन केवल इतना ही न था कि चंदा एकत्र किया जाय। आवश्यकता से अधिक रुपया जमा न करने का तत्व भी मैंने मान लिया था।

सभा प्रति सप्ताह अथवा प्रति मास आवश्यकता के अनुसार होती। उसमें पिछली सभा की कार्रवाई पढ़ी जाती और अनेक बातों पर चर्चा होती। चर्चा करने की तथा थोड़े में मतलब की बात कहने की आदत लोगों को न थी। लोग खड़े होकर बोलने में सकुचाते। मैंने सभा के नियम उन्हें समझाये और लोगों ने उन्हें माना। इससे होनेवाला लाभ उन्होंने देखा और जिन्हें सभाओं में बोलने का रफ्त न था वे सार्वजनिक कामों के लिए बोलने और विचारने लगे।

सार्वजनिक कामों में छोटी-छोटी बातों में बहुत-सा खर्च हो जाया करता है, यह मैं जानता था। शुरू में तो रसीद बुक तक न छपाने का निश्चय रक्खा था। मेरे दफ्तर में साइक्लोस्टाइल था, उसपर रसीदें छपा लीं। रिपोर्ट भी इसी तरह छपती। जब रुपया-पैसा काफी आ गया, सभ्यों की संख्या बढ़ गई, तभी रसीदें इत्यादि छपाई गईं। ऐसी किफायतशारी हर संस्था में आवश्यक है। फिर भी मैं जानता हूँ कि सब जगह ऐसा नहीं होता है। इसलिए इस छोटीसी उगती हुई संस्था के संगोपन-काल का इतना

वर्णन करना मैंने ठीक समझा। लोग रसीद लेने की परवा न करते; फिर भी उन्हें आग्रह-पूर्वक रसीद दी जाती। इस कारण हिसाब शुरू से ही पाई-पाई का साफ रहा, और मैं मानता हूँ कि आज भी नेटाल कांग्रेस के दफ्तर में १८९४ के बही खाते ब्योरेवार मिल जायंगे। किसी भी संस्था का सविस्तर हिसाब उसकी नाक है। उसके बिना वह संस्था अन्त को जा कर गंदी और प्रतिष्ठा-हीन हो जाती है। शुद्ध हिसाब के बिना शुद्ध सत्य की रखवाली असंभव है।

कांग्रेस का दूसरा अंग था, वहाँ जन्मे और शिक्षा पाये भारतीयों की सेवा करना। उनके लिए 'कालोनियल बॉन इण्डियन एजुकेशनल एसोसियेशन' की स्थापना की। उसमें मुख्यतः नवयुवक ही सभ्य थे। उनके लिए चंदा बहुत थोड़ा रक्खा गया था। इस सभा की बदौलत उनकी आवश्यकतायें मालूम होतीं, उनकी विचार शक्ति बढ़ती; व्यापारियों के साथ उनका संबन्ध बँधता, और खुद उन्हें भी सेवा का स्थान मिलता। यह संस्था एक वाद-विवाद समिति जैसी थी। उसकी नियम-पूर्वक बैठकें होतीं; भिन्न-भिन्न विषयों पर भाषण होते, निबंध पढ़े जाते। उसके सिल्सिले में एक छोटासा पुस्तकालय भी स्थापित हुआ।

कांग्रेस का तीसरा अंग था बाहरी आंदोलन। इसके द्वारा दक्षिण आफ्रिका के अंग्रेजों में तथा बाहर इंग्लैंड में और हिन्दुस्तान में वास्तविक स्थिति प्रकट की जाती थी। इस उद्देश में मैंने दो पुस्तिकायें लिखीं। पहली पुस्तिका थी—'दक्षिण आफ्रिका स्थित प्रत्येक अंग्रेज से अपील' उसमें नेटाल वाले भारतीयों की सामान्य स्थिति का दिग्दर्शन सप्रमाण कराया गया था! दूसरी थी—'भारतीय मताधिकार—एक अपील'। इसमें भारतीय मता

धिकार का इतिहास अंकों और प्रमाणों सहित दिया गया था। इन दोनों पुस्तिकाओं को बड़े परिश्रम और अध्ययन के बाद मैंने लिखा था। उसका परिणाम भी वैसा ही निकला। पुस्तिकाओं का काफी प्रचार किया गया। इस हलचल के फल-स्वरूप दक्षिण आफ्रिका में भारतीयों के मित्र उत्पन्न हुए। इंग्लैंड में तथा हिन्दुस्तान में सब दलों की ओर से मदद मिली और आगे कार्य करने की नीति और मार्ग निश्चित हुआ।

(२०)

बालासुन्दरम्

जैसी जिसकी भावना होती है वैसा ही उसको फल मिला करता है। अपने पर यह नियम घटा हुआ मैंने अनेक बार देखा है। लोगों की, अर्थात् ग़रीबों की सेवा करने की मेरी प्रबल इच्छा ने ग़रीबों के साथ मेरा सम्बन्ध कई-बार अनायास बांध दिया है।

'नेटाल इन्डियन कांग्रेस' में यद्यपि उपनिवेशों में जन्मे भारतीयों ने प्रवेश किया था, कारकुन लोग शरीक हुए थे, फिर भी उसमें अभी मजूर गिरमिटिया लोग सम्मिलित न हुए थे। कांग्रेस अभी उनकी न हुई थी। वे चंदा दे कर, उसके सदस्य हो कर, उसे अपना न समझते थे। कांग्रेस के प्रति उनका प्रेम पैदा तभी हो सकता था, जब कांग्रेस उनकी सेवा करे। ऐसा अवसर अपने आप आ गया और सो भी ऐसे समय जब कि खुद मैं अथवा कांग्रेस उसके लिए मुश्किल से तैयार थी। क्योंकि अभी मुझे वकालत शुरू किये दो-चार महीने भी मुश्किल से हुए होंगे। कांग्रेस भी बाल्यावस्था में ही थी। इन्हीं दिनों एक दिन एक मदरासी हाथ में फेंटा रख कर रोता हुआ मेरे सामने आकर खड़ा हो गया। कपड़े उसके फटे-पुराने थे। उसका शरीर काँप रहा

था। सामने के दो दाँत टूटे हुए थे और मुँह से खून बह रहा था। उसके मालिक ने उसे बेदर्दी से पीटा था। मैंने अपने तामिल जानने वाले मुन्शी से उसकी हालत पुछवाई। बालासुंदरम् एक प्रतिष्ठित गोरे के यहाँ मजूरी करता था। मालिक किसी बात पर उस पर बिगड़ पड़ा और आग बबूला हो कर उसे बुरी तरह उसने पीट डाला जिससे बालासुंदरम् के दो दाँत टूट गये।

मैंने उसे डाक्टर के यहाँ भेजा। उस समय गोरे डाक्टर ही वहाँ थे, मुझे चोट सम्बन्धी प्रमाण-पत्र की जरूरत थी। उसे लेकर मैं बालासुन्दरम् को अदालत में ले गया। बालासुन्दरम् ने अपना बयान लिखवाया। पढ़कर मजिस्ट्रेट मालिक पर बड़ा गुस्सा हुआ। उसने मालिक को तलब करने का हुक्म छोड़ा।

मेरी इच्छा यह न थी कि मालिक को सजा हो जाय। मुझे तो सिर्फ बालासुन्दरम् को उसकी नौकरी से छुड़वाना था। मैंने गिरमिट संबन्धी कानून को अच्छी तरह देख लिया। मामूली नौकर यदि नौकरी छोड़ दे तो मालिक उसपर दीवानी दावा कर सकता है, फौजदारी में नहीं लेजा सकता। गिरमिट और मामूली नौकरी में यों बड़ा फर्क था। पर उसमें मुख्य बात यह थी कि गिरमिटिया यदि मालिक को छोड़ दे तो वह फौजदारी जुर्म समझा जाता था और इसलिए उसे कैद भोगनी पड़ती। इसी कारण सर विलियम विल्सन हण्टर ने इस हालत को 'गुलामी' जैसा बताया है। गुलाम की तरह गिरमिटिया मालिक की सम्पत्ति समझा जाता। बालासुन्दरम् को मालिक के चंगुल से छुड़ाने के दो ही उपाय थे—या तो गिरमिटियों का अफसर, जो कानून के अनुसार उनका रक्षक समझा जाता था, गिरमिट रद्द कर दे, या

दूसरे के नाम पर चढ़ा दे अथवा मालिक खुद उसे छोड़ने के लिए तैयार हो जाय। मैं मालिक से मिला और उससे कहा-'मैं आपको सजा कराना नहीं चाहता। आप जानते हैं कि उसे सख्त चोट पहुँची है। यदि आप उसकी गिरमिट दूसरे के नाम चढ़ाने को तैयार होते हों तो मुझे सन्तोष हो जायगा।' मालिक भी यही चाहता था। फिर मैं उस रक्षक अफसर से मिला। उसने भी रज़ामन्दी तो जाहिर की, पर इस शर्त पर कि मैं बालासुन्दरम् के लिए नया मालिक ढूँढ दूँ।

अब मुझे नया अँगरेज मालिक खोजना था। भारतीय लोग गिरमिटियों को रख नहीं सकते थे। अभी थोड़े ही अंगरेजों से मेरी जान-पहचान हो पाई थी। फिर भी मैं एक से जा कर मिला। उसने मुझ पर महरबानी करके बालासुन्दरम् को रखना स्वीकार कर लिया। मैंने कृतज्ञता प्रदर्शित की। मजिस्ट्रेट ने मालिक को अपराधी करार दिया और यह बात नोट कर ली कि मुजरिम ने बालासुन्दरम् की गिरमिट दूसरे के नाम पर चढ़ा देना स्वीकार किया है।

बालासुन्दरम् के मामले की बात गिरमिटियों में चारों ओर फैल गई और मैं उनके बन्धु के नाम से प्रसिद्ध होगया। मुझे यह सम्बन्ध प्रिय हुआ। फलतः मेरे दफ्तर में गिरमिटियों की बाढ़ आने लगी और मुझे उनके सुख-दुःख जानने की बड़ी सुविधा मिल गई।

बालासुन्दरम् के मामले की ध्वनि ठेठ मदरास तक जा पहुँची। उस इलाके के जिन जिन जगहों से लोग नेटाल की गिरमिट में जाते उन्हें गिरमिटियों ने इस बात का परिचय कराया। मामला कोई इतना महत्वपूर्ण न था; फिर भी लोगों को यह बात नई मालूम हुई कि उनके लिए कोई सार्वजनिक कार्यकर्त्ता तैयार

हो गया है । इस बात से उन्हें तसल्ली और उत्साह मिला ।

मैंने लिखा है कि बालासुन्दरम् अपना फ़ेंटा उतार कर उसे अपने हाथ में रखकर मेरे सामने आया था । इस दृश्य में बड़ा ही करुण-रस भरा हुआ है, यह हमें नीचा दिखाने वाली बात है । मेरी पगड़ी उतारने की घटना पाठकों को मालूम ही है । कोई भी गिरिमिटिया तथा दूसरा नवागत हिंदुस्तानी किसी गोरे के यहाँ जाता तो उसके सम्मान के लिए पगड़ी उतार लेता— फिर वह टोपी हो, या पगड़ी हो या फेंटा हो । दोनों हाथ से सलाम करना काफी न था । बालासुन्दरम् ने सोचा कि मेरे सामने भी इसी तरह जाया जाता होगा । बालासुन्दरम् का यह दृश्य मेरे लिए पहला अनुभव था । मैं शरमिंदा हुआ । मैंने बालासुंदरम से कहा 'पहले फेंटा सिरपर बांध लो' । बड़े संकोच से उसने फेंटा बाँधा; पर मैंने देखा कि इससे उसे बड़ी खुशी हुई । मैं अबतक यह गुत्थी न सुलझा सका कि दूसरों को नीचे झुका कर लोग उसमें अपना सम्मान किस तरह मान सकते होंगे ।

(२१)

तीन पौंड का कर

बालासुन्दरम् वाली घटना ने गिरमिटियों के साथ मेरा सम्बन्ध जोड़ दिया। परन्तु उनकी स्थिति का गहरा अध्ययन तो मुझे उनपर कर बैठाने को जो हल-चल चली उसके फलस्वरूप करना पड़ा।

१८९४ में नेटाल-सरकार ने गिरमिटिया हिन्दुस्तानियों पर प्रतिवर्ष २५ पौंड अर्थात् ३७५) का कर बैठाने का बिल तैयार किया। इस मसविदे को पढ़कर मैं तो भौंचक रह गया। मैंने उसे स्थानिक कांग्रेस में पेश किया और कांग्रेस ने उसके लिए आवश्यक हलचल करने का प्रस्ताव स्वीकार किया।

इस कर का ब्यौरा थोड़ा सुन लीजिए—

१८६० ईसवी के लगभग, जब कि नेटाल के गोरों ने देखा कि यहाँ ईख की खेती अच्छी हो सकती है, उन्होंने मजूरों की खोज करना शुरू की। यदि मजूर न मिलें तो न गन्ने की फसल हो सकती थी, न गुड़-शक्कर बन सकता था। नेटाल के हबशी इस काम को नहीं कर सकते थे। इसलिए नेटालवासी गोरों ने भारत सरकार से लिखा-पढ़ी करके हिन्दुस्तानी मजूरों को नेटाल ले

जाने की इजाजत हासिल कर ली। उन्हें लालच दिया गया था कि तुम्हे पाँच साल तो बँधकर हमारे यहाँ काम करना पड़ेगा फिर आज़ाद हो। शौक से नेटाल में रहो। उन्हें जमीन का हक़ मिल्कियत भी पूरा दिया गया था। उस समय गोरों की यह इच्छा थी कि हिन्दुस्तानी मजदूर पांच साल की गिरमिट पूरी करने के बाद खुशी से जमीन जोतें और अपनी मिहनत का लाभ नेटाल को पहुँचावें।

भारतीय कुलियों ने नेटाल को यह लाभ आशा से अधिक दिया। तरह तरह की साग-तरकारियाँ बोईं। हिन्दुस्तान की कितनी ही मीठी तरकारियाँ बोईं। जो वहाँ साग-तरकारी पहले से मिलती थीं उन्हें सस्ता कर दिया। हिन्दुस्तान से आम ला कर लगाया। पर इसके साथ ही वे व्यापार भी करने लगे। घर बनाने के लिए जमीनें खरीदीं और मजूर से अच्छे जमींदार और मालिक बनने लगे। मजूर की दशा से मालिक की दशा को पहुँचने वाले लोगों के पीछे स्वतंत्र व्यापारी भी वहाँ आये। स्वर्गीय सेठ अबुबकर आमद सबसे पहले व्यापारी थे, जो वहाँ गये। उन्होंने अपना कारबार खूब जमाया।

इससे गोरे व्यापारी चौंके। जब उन्होंने भारतीय कुलियों को बुलाया और उनका स्वागत किया तब उन्हें उनकी व्यापार-क्षमता का अंदाज़ न हुआ था। उनके किसान बनकर आज़ादी के साथ रहने में तो उस समय तक उन्हें आपत्ति न थी। परन्तु व्यापार में उनकी प्रतिस्पर्धा उन्हें नागवार हो गई।

यह है हिन्दुस्तानियों के खिलाफ आवाज़ उठाने का मूल कारण।

अब इसमें और बातें भी शामिल हो गईं। हमारी भिन्न और विशिष्ट रहन-सहन, हमारी सादगी, हमें थोड़े मुनाफे से होने वाला संतोष आरोग्य के नियमों के विषय में हमारी लापरवाही, घर-आंगन को साफ़ रखने का आलस्य, उसे साफ़-सुथरा रखने में कंजूसी, हमारे जुदे जुदे धर्म—ये सब बातें इस विरोध को बढ़ाने वाली थीं।

यह विरोध एक तो उस मताधिकार को छीन लेने के रूप में और दूसरा गिरमिटियों पर कर बैठाने के रूप में सामने आया। क़ानून के अलावा भी तरह-तरह की खुटपचरी चल रही थी सो अलग।

पहले तो यह तजवीज़ पेश हुई थी कि पांच साल पूरा होने पर गिरमिटिया ज़बरदस्ती वापस लौटा दिया जाय। वह इस तरह कि उसकी गिरमिट हिन्दुस्तान में जाकर पूरी हो। पर इस तजवीज को भारत-सरकार मंज़ूर न कर सकती थी। तब ऐसी तजवीज हुई कि—

१—मज़दूरी का इकरार पूरा होने पर गिरमिटिया वापस हिन्दुस्तान चला जाय। अथवा

२—दो दो वर्ष की गिरमिट नये सिरे से कराता रहे और ऐसी हर गिरमिट के समय उसके वेतन में कुछ वृद्धि होती रहे।

३—यदि वापस न जाय और फिर से मजूरी का इकरार भी न करे तो उसे हर साल २५ पौंड कर देना चाहिए।

इस तजवीज को मंजूर कराने के लिए सर हेनरी बीन्स तथा मि० मेसन का शिष्ट-मण्डल हिन्दुस्तान भेजा गया। उस समय लार्ड एल्गिन वायसराय थे। उन्होंने पचीस पौंड का कर

नामंजूर कर दिया; पर यह मान लिया कि सिर्फ ३ पौंड कर लिया जाय। मुझे उस समय भी लगा और आज भी लगता है कि वायसराय ने यह जबरदस्त भूल की थी। उन्होंने इस बात में हिन्दुस्तान के हित का बिल्कुल ख़याल न किया। उनका यह धर्म कतई न था कि वे नेटाल के गोरों को इतनी सुविधा कर दें। यह भी तय हुआ कि तीन चार वर्ष बाद ऐसे हिन्दुस्तानी की स्त्री से, उनके हर १६ वर्ष तथा उससे अधिक उम्र के प्रत्येक पुत्र से और १३वर्ष की तथा उससे अधिक उम्रवाली लड़की से भी लिया जाय। इस तरह पति-पत्नी और दो बच्चों के परिवार के पास से—जिसमें पति को मुश्किल से बहुत से बहुत १४ शिलिंग मासिक मिलते हों १५ पौंड अर्थात् १२०)कर लेना महा अत्याचार है। दुनिया में कहीं भी ऐसा कर ऐसी स्थिति वाले लोगों से नहीं लिया जाता था।

इस कर के विरोध में घोर लड़ाई छिड़ी। यदि नेटाल-इंडियन कांग्रेस की ओर से बिल्कुल आवाज़ न उठी होती तो वायसराय शायद २५ पौंड भी मंजूर कर लेते। २५ पौंड के ३ पौंड होना भी, बिल्कुल संभव है, कांग्रेस के आंदोलन का ही परिणाम हो। पर संभव है, मेरे इस अंदाज में भूल होती हो। संभव है कि भारत-सरकार ने अपने आप ही २५ पौंड को अस्वीकार कर लिया हो और बिना कांग्रेस के विरोध के ३ पौंड का कर स्वीकार कर लिया हो। फिर भी वह हिन्दुस्तान के हित का तो भंग था ही। हिन्दुस्तान के हित-रक्षक की हैसियत से ऐसा अमानुष कर वाइसराय को हरगिज़ न बैठाना चाहिए था।

पच्चीस से तीन पौंड (३७५ से ४५) होने के लिए कांग्रेस

भला श्रेय भी क्या ले ? कांग्रेस को तो यही बात खली कि वह गिरमिटियों के हित की पूरी पूरी रक्षा न कर सकी, और कांग्रेस ने अपना यह निश्चय कि ३ पौंड का कर तो अवश्य रद्द हो जाना चाहिए, कभी ढीला न किया था। इस निश्चय को पूरा हुए आज २० वर्ष हो गये। उसमें अकेले नेटाल के ही नहीं, वरन् सारे दक्षिण आफ्रिका के भारतवासियों को जूझना पड़ा था। इसमें गोखले को भी निमित्त बनना पड़ा था। उसमें गिरमिटियों को पूरा पूरा योग देना पड़ा। उसके सिलसिले में कुछ लोगों को गोलियाँ खाकर भी मरना पड़ा। दस हजार से ऊपर हिन्दुस्तानियों को जेल भोगनी पड़ी।

पर अन्त में सत्य विजयी हुआ। हिंदुस्तानियों की तपश्चर्या के रूप में सत्य प्रत्यक्ष प्रकट हुआ। उसके लिए अटल श्रद्धा, धीरज और सतत आंदोलन की आवश्यकता थी। यदि लोग हार कर बैठ जाते, कांग्रेस लड़ाई को भूल जाती, और कर को अनिवार्य समझ कर घुटने टेक देती, तो आज तक यह कर गिरमिटियों से लिया जाता होता और इसके अपयश का टीका सारे दक्षिण आफ्रिका के भारतवासियों को तथा अखिल भारतवर्ष को लगता।

(२२)

धर्म-निरीक्षण

इस प्रकार जो मैं लोक-सेवा में तल्लीन हो गया था उसका कारण था आत्म-दर्शन की अभिलाषा। यह समझ कर कि सेवा के द्वारा ही ईश्वर की पहचान हो सकती है, मैंने सेवा-धर्म स्वीकार किया था। भारत की सेवा मुझे सहज प्राप्त थी, उसमें मेरी रुचि थी। उसको खोज मुझे न करना पड़ी थी। मैं तो सफर करने, काठियावाड़ के षड्यंत्रों से छूटने और आजीविका प्राप्त करने के लिए दक्षिण-आफ्रिका गया था। पर पड़ गया ईश्वर की शोध में—आत्मदर्शन के प्रयत्न में। ईसाई-भाइयों ने मेरी जिज्ञासा बहुत तीव्र कर दी थी वह किसी प्रकार शान्त न हो सकती थी और मैं शान्त होना चाहता भी तो ईसाई-भाई-बहन ऐसा न होने देते। क्योंकि डरबन में मि० स्पेन्सर वाल्टन ने जोकि दक्षिण आफ्रिका के मिशन के मुखिया थे, मुझे खोज निकाला। मैं भी उनका एक कुटुम्बी जन सा हो गया। इस सम्बन्ध का मूल है प्रिटोरिया में उनसे हुआ समागम। मि० वाल्टन का तर्ज़ कुछ और ही था। मुझे नहीं याद पड़ता कि उन्होंने कभी ईसाई बनने की बात मुझ से कही हो। बल्कि उन्होंने तो

अपना सारा जीवन खोलकर मेरे सामने रख दिया। अपने तमाम काम और हल-चल के निरीक्षण का अवसर मुझे दे दिया उनकी धर्मपत्नी भी बड़ी नम्र परन्तु तेजस्वी थीं।

मुझे इस दम्पती की कार्य-पद्धति पसंद आती थी। परन्तु हमारे अन्दर जो मौलिक भेद थे, उन्हें हम दोनों जानते थे। चर्चा द्वारा उन भेदों को मिटा देना असंभव था। जहाँ-जहाँ उदारता, सहिष्णुता और सत्य है, वहाँ भेद भी लाभदायक होते हैं। मुझे इस दम्पती की नम्रता, उद्यमशीलता और कार्य-परायणता बड़ी प्रिय थी। इससे हम बार बार मिला करते।

इस संबंध ने मुझे जागरूक रक्खा। धार्मिक पठन के लिए जो फुरसत मुझे प्रिटोरिया में मिल गई थी वह तो अब असम्भव थी। परन्तु जो कुछ भी समय मिल जाता उसका उपयोग मैं स्वाध्याय में करता। मेरा पत्र-व्यवहार बराबर जारी था। रायचंद भाई मुझे पथ-प्रदर्शन कर रहे थे। किसी मित्र ने मुझे इस संबंध में नर्मदाशंकर* की 'धर्म विचार' नामक पुस्तक भेजी। उसकी प्रस्तावना से मुझे सहायता मिली। नर्मदाशंकर के विलास-युक्त जीवन की बातें मैंने सुनी थीं। प्रस्तावना में उनके जीवन में हुए परिवर्तनों का वर्णन मैंने पढ़ा और उसने मुझे आकर्षित किया, जिससे कि उस पुस्तक के प्रति मेरा आदर-भाव बढ़ा। मैंने उसे ध्यानपूर्वक पढ़ा। मैक्समूलर की पुस्तक 'हिन्दुस्तान से हमें क्या शिक्षा मिलती है?' मैंने बड़ी दिलचस्पी से पढ़ी। थियासोफिकल सोसायटी द्वारा प्रकाशित

*गुजरात के एक प्रसिद्ध कवि।

उपनिषदों का अनुवाद पढ़ा। उससे हिंदू-धर्म के प्रति मेरा आदर बढ़ा। उसकी खूबी मैं समझने लगा। परन्तु इससे दूसरे धर्मों के प्रति मेरे मन में अभाव न उत्पन्न हुआ। वाशिंग्टन अरविंगकृत महम्मद का चरित्र और कार्लाइल-रचित 'महम्मद-स्तुति' पढ़ी। फलतः पैग़म्बर साहब के प्रति भी मेरा आदर बढ़ा। 'जरथुस्त के वचन' नामक पुस्तक भी पढ़ी।

इस प्रकार मैंने भिन्न भिन्न सम्प्रदायों का कम-ज्यादह ज्ञान प्राप्त किया। इससे आत्मनिरीक्षण बढ़ा। जो कुछ पढ़ा या पसंद हुआ उसपर चलने की आदत बढ़ी। इससे हिंदु-धर्म में वर्णित प्राणायाम-विषयक कितनी ही क्रियायें, पुस्तकें पढ़कर मैं जैसी समझ सका था, शुरू कीं, पर कुछ सिल्सिला जमा नहीं। मैं आगे न बढ़ सका। सोचा कि जब भारत लौटूंगा तब किसी शिक्षक से सीख लूंगा। पर वह अब तक पूरा न हो पाया।
टाल्स्टाय की पुस्तकों का स्वाध्याय बढ़ाया। उनकी 'गोस्पेल इन ब्रीफ', 'वाट टु डू' इत्यादि पुस्तकों ने मेरे दिल पर गहरी छाप डाली। विश्वप्रेम मनुष्य को कहाँ तक ले जाता है यह मैं उससे अधिकाधिक समझने लगा।

इन्हीं दिनों एक दूसरे ईसाई-कुटुम्ब के साथ मेरा सम्बन्ध बँधा। उन लोगों की इच्छा से मैं वेस्लियन गिरजा में हर रविवार को जाता। प्रायः हर रविवार को मेरा शाम का खाना भी उन्हींके यहाँ होता। वहाँ जो प्रवचन हुआ करते थे वे मुझे नीरस मालूम हुए। उपस्थित जनों में मुझे भक्ति-भाव न दिखाई दिया। ग्यारह बजे एकत्र होने वाली यह मण्डली मुझे भक्तों की नहीं, बल्कि कुछ तो मनोविनोद के लिए और कुछ प्रथा के प्रभाव से एकत्र

होनेवाली संसारी जीवों की टोली मालूम हुई। कभी-कभी तो इस सभा में बरबस मुझे नींद के झोंके आने लगते जिससे मैं लज्जित होता। पर जब मैं अपने आस-पास वालों को भी झोंके खाते हुए देखता, तो मेरी लज्जा हलकी पड़ जाती। अपनी यह स्थिति मुझे अच्छी न मालूम हुई। अन्त को मैंने गिरजा जाना ही छोड़ दिया।

जिस परिवार के यहाँ मैं हर रविवार को जाता था, वहाँ से भी मुझे इस तरह से छुट्टी मिली। गृहस्वामिनी, भोली, भली परन्तु संकुचित विचार वाली मालूम हुई। उनके साथ हर वक्त कुछ-न-कुछ धार्मिक चर्चा हुआ ही करती। उस समय मैं घर पर 'लाइट आव् एशिया' पढ़ रहा था। एक दिन हम ईसा और बुद्ध की तुलना के फेर में पड़ गये —

"बुद्ध की दया को देखिए। मनुष्य जाति के आगे बढ़ कर वह दूसरे प्राणियों तक जा पहुँची। उसकी गोद में किलोलें करनेवाले मेमने का चित्र आँखों के सामने आते ही आपका हृदय प्रेम से नहीं उमड़ पड़ता? प्राणिमात्र के प्रति यह प्रेम मुझे ईसा के इतिहास में कहीं दिखाई नहीं देता।"

मेरे इस कथन से उस बहन को दुःख हुआ। मैं समझ गया। मैंने अपनी बात आगे न चलाई। बाद को हम भोजन करने गये। उनका कोई पाँच साल का हँसमुख बच्चा हमारे साथ था। बालक हमारे साथ होने पर मुझे फिर किस बात की जरूरत? उसके साथ मैंने दोस्ती तो पहले ही कर ली थी। मैंने थाली में पड़े मांस के टुकड़े का मजाक किया और मेरी रकाबी में शोभित नासपाती की स्तुति शुरू की। भोला-भाला बालक रीझा और नासपाती की स्तुति में शरीक हो गया।

परन्तु माता ? वह तो बेचारी दुःख में पड़ गई ।

मैं चेता । चुप हो रहा और बात का विषय बदल दिया ।

दूसरे सप्ताह मैं सावधान रहकर उनके यहाँ गया तो, पर मेरा पाँव मुझे भारी मालूम हो रहा था । अपने आप उनके यहाँ जाना बंद कर देना मुझे न सूझा, न उचित मालूम हुआ । पर उस भली बहन ने ही मेरी कठिनाई हल कर दी । वह बोली, "मि० गांधी आप बुरा न मानें, आपकी सोहबत का असर मेरे लड़के पर बुरा होने लगा है । अब वह रोज मांस खाने से आनाकानी करने लगा है और उस दिन की आपकी बातचीत की याद दिलाकर फल मांगता है । मुझे यह गवारा न हो सकेगा । मेरा बच्चा यदि मांस खाना छोड़ दे तो चाहे बीमार न हो, पर कमजोर जरूर हो जायगा । मैं यह कैसे देख सकती हूँ ? आपका चर्चा हम प्रौढ़ लोगों मैं तो फायदेमंद हो सकती हैं, पर बच्चों पर तो उसका असर बुरा ही पड़ता है ।"

'मिसेज—मुझे खेद है । आप, माता के मनोभाव मैं समझ सकता हूँ । मुझे भी बाल-बच्चे हैं । इस आपत्ति का अन्त आसानी से हो सकता है । मेरी बातचीत की अपेक्षा मेरे खान-पान का और उसको देखने का असर बालकों पर बहुत ज्यादा होता है इसलिए सीधा रास्ता यह है कि अब से रविवार को मैं आपके यहाँ न आया करूँ । हमारी मित्रता में इससे किसी प्रकार फ़र्क न आवेगा !'

'मैं आपका अहसान मानती हूँ' बाई ने खुश हो कर उत्तर दिया ।

(२३)

गृह-व्यवस्था

बम्बई में तथा विलायत में मैंने जो घर-गृहस्थी सजाई थी उसमें और नेटाल में जो घर बसाना पड़ा, उसमेंभिन्नता थी। नेटाल में कितना ही खर्च तो महज़ प्रतिष्ठा के लिए मैं उठा रहा था। मैंने यह मान लिया था कि भारतीय वैरिस्टर और और भारतीयों के प्रतिनिधि की हैसियत से नेटाल में मुझे अपनी रहन-सहन खर्चीली रखनी चाहिए। इस कारण अच्छे मुहल्ले में बढ़िया घर लिया था। घर को सजाया भी अच्छी तरह था। खान-पान तो सादा था; परन्तु अंग्रेज़ मित्रों को भोजन के लिए बुलाया करता था और हिन्दुस्तानी साथियों को भी निमन्त्रण दिया करता था, इसलिए आप ही खर्च और भी बढ़ गया था।

नौकर की तंगी सभी जगह रहा करती। किसी को नौकर बनाकर रखना आज तक मैंने जाना ही नहीं।

मेरे साथ एक साथी था। एक रसोईया भी रक्खा था। वह कुटुम्बी ही बन गया था। दफ्तर के कारकुनों में से भी जो रक्खे जा सकते थे, उन्हें घर में ही रक्खा था।

मेरा विश्वास है कि यह प्रयोग ठीक सफल हुआ। परन्तु मुझे संसार के कटु अनुभव भी काफ़ी मिले।

वह साथी बहुत होशियार और मेरी समझ के अनुसार वफादार था। पर मैं उसे न पहचान सका। दफ्तर के एक कारकुन को मैंने घर में रक्खा था। इस साथी को उसकी ईर्ष्या हुई। उसने ऐसा जाल रचा कि जिससे मैं कारकुन पर शक करने लगूँ। यह कारकुन बड़ी आज़ाद तबियत के थे। उन्होंने घर और दफ्तर दोनों छोड़ दिये। इससे मुझे दुःख हुआ। उनके साथ कहीं अन्याय न हुआ हो, यह ख़याल भीतर ही भीतर मुझे दुःख दे रहा था।

इसी बीच मेरे रसोइया को किसी कारण से दूसरी जगह जाना पड़ा। मैंने उसे अपने मित्र की सेवा-शुश्रूषा के लिए रक्खा था। इसलिए उसकी जगह दूसरा रसोइया लाया गया। बाद को मैंने देखा कि यह शख्स उड़ती चिड़िया मारने वाला था। पर वह मुझे इस तरह उपयोगी हो गया, मानों मुझे उसकी ज़रूरत रही हो।

इस रसोइया को रक्खे मुश्किल से दो-तीन दिन हुए होंगे कि इतने ही में उसने मेरे घर की एक भयंकर बुराई को ताड़ लिया, जो मेरे ध्यान में न आई थी और उसने मुझे सचेत करने का निश्चय किया। मैं विश्वासशील और अपेक्षाकृत भला आदमी हूँ, यह धारणा लोगों को हो रही थी, इस कारण रसोइया को मेरे ही घर में फैली गन्दगी भयानक मालूम हुई।

मैं दोपहर के भोजन के लिए दफ्तर से एक बजे घर जाता था। कोई बारह बजे होंगे कि यह रसोइया हाँपता हुआ आया और मुझ से कहा—'आपको अगर कुछ देखना हो तो अभी मेरे साथ घर चलिए।'

मैंने कहा—'इसका क्या मतलब ? कहो भी तो आखिर क्या काम है ? ऐसे वक्त मेरे घर आने की क्या ज़रूरत और देखना भी क्या है ?'

'न आओगे तो पछताओगे। मैं आपको इससे ज्यादा नहीं कहना चाहता।' रसोइया बोला।

उसकी दृढ़ता ने मुझ पर असर किया। अपने मुंशी को साथ लेकर घर गया। रसोइया आगे चला।

घर पहुँचते ही यह मुझे दुमंजिले पर ले गया। जिस कमरे में वह साथी रहता था, उसकी ओर इशारा करके कहा—'इस कमरे को खोलकर देखो।'

अब मैं समझा। मैंने दरवाजा खड़खड़ाया। जवाब क्या मिलता ? मैंने बड़े ज़ोर से दरवाज़ा ठोंका। दीवार काँप उठी। दरवाजा खुला। अन्दर एक बदचलन औरत थी। मैंने उससे कहा—'बहन, तुम तो यहाँ से इसी दम चल दो। अब भूलकर यहाँ कदम मत रखना।'

साथी से कहा—'आज से आपका मेरा सम्बन्ध टूटा। मैं अब तक खूब धोखे में रहा और बेवकूफ बना। मेरे विश्वास का बदला यही मिलना चाहिए था ?'

साथी बिगड़ा। मुझे धमकी देने लगा—'तुम्हारी सब बातें प्रकट कर दूँगा।'

'मेरे पास कोई गुप्त बात है ही नहीं। मैंने जो कुछ किया हो उसे खुशी से प्रकट कर देना। पर तुम्हारा संबंध आज से बंद है।'

साथी अधिक गरम हुआ। मैंने नीचे खड़े मुंशी से कहा—'तुम जाओ; पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्ट से मेरा सलाम कहो और कहो

कि मेरे एक साथी ने मेरे साथ विश्वासघात किया है। उसे मैं अपने घर में रखना नहीं चाहता। फिर भी वह निकलने से इन्कार करता है। महरबानी करके मदद भेजिए'।

अपराधी के बराबर दीन नहीं। मेरे इतना कहते ही वह ठंडा पड़ा। माफी माँगी। भाभीजी से कहा—सुपरिन्टेंडेन्ट के यहाँ आदमी न भेजिए।' और तुरन्त घर छोड़ देना स्वीकार किया।

इस घटना ने ठीक समय पर मुझे सावधान किया। वह साथी मेरे लिए मोह रूप और अनिष्ट था, यह बात अब जा कर मैं स्पष्ट रूप से समझा। इस साथी को रखकर मैंने अच्छा काम करने के लिए बुरे साधन को अपनाया था। कड़वे करेले की बेल में मैंने सुगंधित बेले के फूल की आशा रक्खी थी। साथी का चाल-चलन अच्छा न था। फिर भी मैंने मान लिया था कि वह मेरे साथ बेवफ़ा न होगा। उसे सुधारने का प्रयत्न करते हुए मुझे खुद छींटे लगते लगते बचे। अपने हितैषियों की सलाह का मैंने अनादर किया था। मोह ने मुझे अन्धा बना दिया था।

यदि इस दुर्घटना से मेरी आँखें न खुली होतीं, मुझे सत्य की खबर न पड़ी होती, तो सम्भव है कि मैं कभी वह स्वार्पण न कर सकता जो आज कर पाया हूँ। मेरी सेवा हमेशा अधूरी रहती। क्योंकि यह साथी मेरी प्रगति को रोके बिना नहीं रहता मुझे उसके लिए बहुतेरा समय देना पड़ता। मुझे अंधेरे में रखने की, कुमार्ग में ले जाने की शक्ति उसमें थी। परन्तु 'जाको राखे साइयाँ मारि न सके कोइ।' मेरी निष्ठा शुद्ध थी। इसलिए भूलें करते हुए भी मैं बच गया और मेरे पहले अनुभव ने ही मुझे सावधान किया।

कौन जाने कि ईश्वर ने ही उस रसोइया को प्रेरणा न की हो ! वह रसोई बनाना न जानता था । परन्तु उसके आये बिना मुझे कोई सजग न कर पाता । वह बाई पहली ही बार मेरे घर में न आई थी । परन्तु इस रसोइया की तरह दूसरे की हिम्मत नहीं चलती; क्योंकि सब जानते कि उस साथी पर बेहद विश्वास रखता था ।

इतनी सेवा करके रसोइया उसी दिन और उसी क्षण चला गया । उसने कहा—"मैं आपके यहाँ नहीं रह सकता । आप ठहरे भोले आदमी; यहाँ मुझ जैसों का काम नहीं ।" मैंने भी उसे रहने का आग्रह नहीं किया ।

उस कारकुन पर शक पैदा कराने वाला यह साथी ही था, यह बात मुझे अब जाकर मालूम हुई। मैंने उस कारकुन के साथ न्याय करने का बहुत उद्योग किया; पर मैं उसे पूरी तरह सन्तोष न दे सका । मुझे इस बात का सदा दुःख रहा । फूटा बरतन कितना ही झाला जाय, वह झाला हुआ ही माना जायगा; ज्यों-का त्यों तो साबित न हो पावेगा ।

(२४)

देश की ओर

अब दक्षिण आफ्रिका में रहते हुए मुझे तीन साल हो गये थे। लोगों से मेरी जान-पहचान हो गई थी। वे मुझे जानने-बूझने लगे थे। १८९६ ईसवी में मैंने छः महीने के लिए देश जाने की इजाजत चाही। मैंने देखा कि दक्षिण आफ्रिका में मुझे बहुत समय तक रहना होगा। मेरी वकालत ठीक-ठीक चल निकली थी। सार्वजनिक कामों के लिए लोग मेरी आवश्यकता समझते थे। मैं भी समझता था। इस लिए मैंने दक्षिण आफ्रिका में सकुटुम्ब रहने का निश्चय किया और इसके लिए देश आना ठीक समझा। फिर यह भी देखा कि देश जाने से कुछ यहाँ का काम भी हो जायगा। देश में लोगों के सामने यहाँ के प्रश्न की चर्चा करने से उनकी अधिक दिलचस्पी पैदा हो सकेगी। तीन पौण्ड का कर एक बहता हुआ घाव था। जब तक वह उठ न जाता, जी को चैन नहीं हो सकती थी।

पर यदि मैं देश जाऊँ तो फिर कांग्रेस का और शिक्षा-मंडल का काम कौन जिम्मे ले? दो साथियों पर नजर गई। आदमजी मियाँखान और पारसी रुस्तमजी। व्यापारी-वर्ग में से बहुतेरे काम

करने वाले तैयार हो गये थे। पर उनमें प्रथम पंक्ति में आने योग्य यही दो सज्जन ऐसे थे, जो मन्त्री का काम नियमित-रूप से कर सकते थे, और जो दक्षिण आफ्रिका में जन्मे भारतवासियों का मनहरण कर सकते थे। मंत्री के लिए मामूली अंग्रेज़ी जानना तो आवश्यक था ही। मैंने इनमें से स्वर्गीय आदमजी मियाखान को मन्त्री-पद देने की शिफारिश की और वह स्वीकृत हुई। अनुभव से यह पसन्दगी बहुत ही अच्छी साबित हुई। अपनी उद्योगशीलता, उदारता, मिठास और विवेक के द्वारा सेठ आदमजी मियाखान ने अपना काम सन्तोषजनक रीति से किया और सब को विश्वास हो गया कि मंत्री का काम करने के लिए वकील-बैरिस्टर की अथवा पदवीधारी बड़े अंग्रेज़ीदाँ की जरूरत न थी।

१८९६ के मध्य में मैं पोंगोला जहाज़ से देश को रवाना हुआ। यह कलकत्ते जाने वाला जहाज़ था।

जहाज़ में यात्री बहुत थोड़े थे। दो अंगरेज़ अफसर थे। उनका मेरा अच्छा मेल बैठ गया! एक के साथ तो रोज़ १ घंटा शतरंज खेला करता था। जहाज़ के डाक्टर ने मुझे एक 'तामिलशिक्षक' दिया था और मैंने उसका अभ्यास शुरू कर दिया था।

नेटाल में मैंने देखा कि मुसलमानों के निकट-परिचय में आने के लिए मुझे उर्दू सीखना चाहिए, तथा मदरासियों से सम्बन्ध बाँधने के लिए तामिल जान लेना चाहिए। उर्दू के लिए मैंने उन अंगरेज़ मित्र के कहने से डेक के यात्रियों में से एक अच्छा मुन्शी खोज निकाला था, और हम लोगों की पढ़ाई अच्छी चलने लगी थी। अंगरेज़ अफसर की स्मरणशक्ति मुझ से तेज़ थी। उर्दू अक्षरों को पहचानते हुए मुझे दिक्क़त पड़ती, पर वह तो एक

बार शब्द देख लेने के बाद उसे भूलता ही न था। मैंने अपनी मिहनत की मात्रा बढ़ाई भी; पर उसका मुक़ाबला न कर सका।

तामिल की पढ़ाई भी ठीक चली। उसमें किसी की मदद न मिल सकती थी। पुस्तक लिखी भी इस तरह गई थी कि बहुत मदद की ज़रूरत न थी।

मुझे आशा थी कि देश जाने के बाद वह पढ़ाई जारी रह सकेगी। पर ऐसा न हो पाया। १८९३के बाद मुझे पुस्तकें पढ़ने का अवसर प्रधानतः जेलों में ही मिला है। इन दोनों भाषाओं का ज्ञान मैंने बढ़ाया तो, पर वह सब जेल ही में हुआ—तामिल का दक्षिण आफ्रिका की जेल में और उर्दू का यरवड़ा में। पर तामिल बोलने का अभ्यास कभी न हुआ। पढ़ना तो ठीक-ठाक आ गया था; किन्तु पढ़ने का अवसर न आने से उसका अभ्यास छूटता जाता है। इस बात का मुझे बराबर दुःख बना रहता है। दक्षिण आफ्रिका के मदरासी भाइयों से मैंने खूब प्रेम-रस पिया है। उनका स्मरण मुझे प्रतिक्षण रहता है। जब-जब मैं किसी तामिल-तेलगू को देखता हूँ, तो उनकी श्रद्धा, उनकी उद्योगशीलता, बहुतों का निःस्वार्थ त्याग, याद आये बिना नहीं रहता और ये सब लगभग निरक्षर थे! जैसे पुरुष, वैसी ही स्त्रियाँ। दक्षिण आफ्रिका की लड़ाई ही निरक्षरों की थी और निरक्षर ही उसके लड़नेवाले थे। वह गरीबों की लड़ाई थी और गरीब ही उसमें जूझे।

इन भोले और भले भारतवासियों का चित्त चुराने के लिए भाषा की भिन्नता कभी बाधक न हुई। वे टूटी-फूटी हिंदुस्तानी और अंगरेजी जानते थे और उससे हम अपना काम चला लेते थे। पर मैं तो इस प्रेम का बदला चुकाने के लिए तामिल सीखना-

चाहता था। अतः तामिल तो कुछ-कुछ सीख ली। तेलुगू जानने का प्रयत्न हिंदुस्तान में किया; परन्तु वर्ण-माला से आगे न बढ़ सका।

इस तरह तामिल-तेलगु न पढ़ पाया और अब शायद ही पढ़ पाऊँ। इसलिए मैं यह आशा रख रहा हूँ कि ये द्राविड़ भाषा-भाषी हिंदुस्तानी सीख लेंगे। दक्षिण आफ्रिका के द्राविड़ 'मद-रासी' तो अवश्य थोड़ी-बहुत हिन्दी बोलते हैं। मुश्किल है अंग-रेजी पढ़े-लिखों की। ऐसा मालूम होता है, मानों अंगरेजी का ज्ञान हमें अपनी भाषायें सीखने में बाधक हो रहा है।

पर यह तो विषयान्तर हो गया। हमें अपनी यात्रा पूरी करनी चाहिए। अभी पोंगोला के कप्तान का परिचय कराना बाकी है। अस्तु।

हम दोनों मित्र होगये। यह कप्तान प्लीमथ ब्रदर के सम्प्रदाय का था। इसलिए जहाज-विद्या की अपेक्षा आध्यात्मिक विद्या की ही बातें हम दोनों में अधिक हुईं। उसने नीति और धर्म-श्रद्धा में फर्क बताया। उसकी दृष्टि से बाइबिल की शिक्षा लड़कों का खेल था। उसकी खूबी उसकी सरलता है। बालक, स्त्री-पुरुष सब ईसा को और उसके बलिदान को मान लें, कि बस उनके पाप धुल जावेंगे। इस प्लीमथ ब्रदर ने मेरे प्रिटोरिया के 'ब्रदर' की पहचान ताजा कर दी। जिस धर्म में नीति की चौकी करनी पड़ती हो, वह उसे नीरस मालूम हुआ। इस मित्रता और आध्यात्मिक चर्चा की तह में था मेरा 'अन्नाहार'। मैं मांस क्यों नहीं खाता? गो-मांस में क्या बुराई है? वनस्पति की तरह क्या पशु-पक्षियों को भी ईश्वर ने मनुष्य के आनन्द तथा आहार के

लिए नहीं बनाया है? ऐसी प्रश्नमाला आध्यात्मिक वार्तालाप उत्पन्न किये बिना नहीं रह सकती थी।

पर हम दोनों एक दूसरे को न समझ सके। मैं अपने इस विचार पर दृढ़ हुआ कि धर्म और नीति एक वस्तु के वाचक हैं। इधर कप्तान को भी अपनी धारणा की सत्यता पर सन्देह न था।

चौबीस दिन के अन्त में यह आनन्ददायक यात्रा पूरी हुई, और मैं हुगली का सौंदर्य निहारता हुआ कलकत्ता उतरा। उसी दिन मैंने बंबई जाने के लिए टिकट कटाया।

(२५)

हिन्दुस्तान में

कलकत्ते से बम्बई जाते हुए रास्ते में प्रयाग पड़ता था। वहाँ ४५ मिनट गाड़ी खड़ी रहती थी। मैंने सोचा कि इतने समय में जरा शहर देख आऊँ। मुझे दवाफ़रोश के यहाँ से दवा भी लेना थी। दवाफ़रोश ऊँघता हुआ बाहर आया। दवा देने में बड़ी देर लगा दी। ज्यों ही मैं स्टेशन पहुँचा, गाड़ी चलती हुई दिखाई दी। भले स्टेशनमास्टर ने गाड़ी एक मिनट रोकी भी पर फिर मुझे वापस न आता देख कर मेरा सामान उतरवा लिया।

मैं केलनर के होटल में उतरा और यहीं से अपना काम शुरू करने का निश्चय किया। यहाँ के 'पायोनियर' पत्र की ख्याति मैंने सुनी थी। भारत की आकांक्षाओं का वह विरोधक था, यह मैं जानता था। मुझे याद पड़ता है कि उस समय मि० चेजनी छोटे उसके सम्पादक थे। मैं तो सब पक्ष के लोगों से मिल कर सहायता प्राप्त करना चाहता था। इसलिए मि० चेजनी को मैंने मिलने के लिए पत्र लिखा। अपनी ट्रेन छूट जाने का हाल लिख कर सूचित किया कि कल ही मुझे प्रयाग से चला जाना है। उत्तर में उन्होंने तुरन्त मिलने के लिए बुलाया। मैं खुश हुआ। उन्होंने

गौर से मेरी बातें सुनीं। 'आप जो कुछ लिखेंगे, मैं उसपर तुरन्त टिप्पणी करूँगा' यह आश्वासन देते हुए उन्होंने कहा—"पर मैं आपसे यह नहीं कह सकता कि आपकी सब बातों को मैं स्वीकार कर सकूंगा। औपनिवेशिक दृष्टि-बिंदु भी तो हमें समझना और देखना चाहिए न ?"

मैंने उत्तर दिया—"आप इस प्रश्न का अध्ययन करें और अपने पत्र में इसकी चर्चा करते रहें यही मेरे लिए काफी है। शुद्ध न्याय के अलावा और कुछ नहीं चाहता।"

शेष समय याग के भव्य त्रिवेणी-संगम के दर्शन और अपने काम के विचार में गया।

इस आकस्मिक मुलाकात ने नेटाल में मुझ पर हुए हमले का बीजारोपण किया।

बम्बई से बिना कहीं रुके सीधा राजकोट गया और एक पुस्तिका लिखने की तैयारी की; उसे लिखने तथा छपाने में कोई एक महीना लग गया। उसका मुख-पृष्ठ हरे रंग का था; इस कारण वह बाद को 'हरी पुस्तिका' के नाम से प्रसिद्ध हो गई थी। उसमें मैंने दक्षिण आफ्रिका के हिंदुस्तानियों की स्थिति का चित्र खींचा था; और सोच समझकर उसमें न्यूनोक्ति से काम लिया था। नेटाल की जिन पुस्तिकाओं का जिक्र मैं ऊपर कर चुका हूँ, इसमें उनसे नरम भाषा इस्तैमाल की गई थी; क्योंकि मैं जानता हूँ कि छोटा दुःख भी दूर से देखते हुए बड़ा मालूम होता है।

'हरी पुस्तिका' की दस हजार प्रतियाँ छपवाई और वे सारे हिन्दुस्तान के अख़बारों को तथा भिन्न-भिन्न दलों के मशहूर लोगों को भेजीं। 'पायोनियर' में उसपर सबसे पहले लेख प्रकाशित हुआ।

उसका सारांश विलायत गया और उस सारांश का सार फिर रूटर की मार्फत नेटाल गया। यह तार सिर्फ तीन लाइन का था। वह नेटाल के हिन्दुस्तानियों के दुःखों के मेरे किये वर्णन का छोटा सा संस्करण था। वह मेरे शब्दों में न था। उसका जो असर वहाँ हुआ वह हम आगे चलकर देखेंगे। धीरे-धीरे तमाम प्रतिष्ठित समाचार-पत्रों में इस प्रश्न पर टीका-टिप्पणियाँ हुईं।

इन पुस्तिकाओं को डाक में डालने के लिए तैयार कराना उलझन का, और दाम देकर कराना तो खर्च का काम था। मैंने एक आसान तरकीब खोज निकाली। मुहल्ले के तमाम लड़कों को इकट्ठा किया और सुबह के समय में दो-तीन घंटे दे सकें उनसे मांगे। लड़कों ने इतनी सेवा खुशी से कबूल की। अपनी तरफ से मैंने उन्हें इस्तैमाल किये हुए डाक के टिकट तथा आशीष देना स्वीकार किया। लड़कों ने खेलते-खेलते मेरा काम पूरा कर दिया। छोटे-छोटे बालकों को स्वयं-सेवक बनाने का मेरा यह पहला प्रयोग था। इनमें से दो बालक आज मेरे साथी हैं।

इन्हीं दिनों बम्बई में पहले-पहल प्लेग का दौरा हुआ। चारों ओर भगदड़ मच गई थी। राजकोट में भी उसके फैल जाने का डर था। मैंने सोचा कि आरोग्य-विभाग में मैं अच्छा काम कर सकूँगा। मैंने राज्य को लिखा कि मैं अपनी सेवायें अर्पित करने को तैयार हूँ। राज्य ने एक समिति बनाई और उसमें मुझे भी रक्खा। पाखानों की सफाई पर मैंने जोर दिया और समिति ने मुहल्ले-मुहल्ले जाकर पाखानों की जाँच करने का निश्चय किया। गरीब लोग अपने पाखानों की जाँच कराने में बिल्कुल आनाकानी न करते थे। यही नहीं, बल्कि जो बताये गये वे सुधार भी उन्होंने किये।

पर जब हम राजकाजी लोगों के घरों की जाँच करने गये तब कितनी ही जगह तो हमें पाखाना देखने तक की इजाजत न मिली—सुधार की तो बात ही क्या ? आम तौर पर हमें यह अनुभव हुआ कि धनियों के पाखाने अधिक गन्दे थे। खूब अंधेरा, बदबू और अजहद गन्दगी थी। बैठने की जगह कीड़े छलछलाते थे। मानों रोज जीते जी नरक में जाना था। हमने जो सुधार सुझाये थे, वे बिलकुल मामूली थे। मैला जमीन पर नहीं बल्कि कूँड़ों में गिरे। पानी भी जमीन में जज्ब होने के बदले कूँड़े में गिरा करे। बैठक और भंगी के आने की जगह के बीच में जो दीवार रहती थी वह तोड़ डाली जाय, जिससे भंगी सारा हिस्सा अच्छी तरह साफ कर सके; और, पाखाना भी कुछ बड़ा हो जाय तो, उसमें हवा, प्रकाश जा सके। बड़े लोगों न इन सुधारों के रास्ते में बड़े झगड़े खड़े किये और आखिर होने ही नहीं दिये।

समिति को ढेड़ों के मुहल्ले में भी जाना था। पर सिर्फ एक ही सभ्य मेरे साथ वहाँ जाने के लिए तैयार हुए। एक तो वहाँ जाना और फिर उनके पाखाने देखना ! परन्तु मुझे तो ढेढ़वाडा देखकर सानन्दाश्चर्य हुआ। अपनी जिन्दगी में मैं पहली ही बार ढेड़वाड़ा गया था। ढेड़ भाई-बहन हमें देखकर आश्चर्य-चकित हुए। हमने कहा—'हम तुम्हारे पाखाने देखना चाहते हैं।'

उन्होंने कहा—'हमारे यहाँ पाखाने कहाँ ? हमारे पाखाने तो जंगल में होते हैं। पाखाने तो होते हैं आप बड़े लोगों के यहाँ।'

मैंने पूछा—'अच्छा तो अपने घर हमें देखने दोगे ?'

'हाँ साहब, जरूर ! हमें क्या उज्र हो सकता है ? जहाँ जी चाहे जाइए। हमारे तो ये ऐसे ही घर हैं।'

मैं अन्दर गया। घर की तथा आँगन की सफाई देखकर खुश हो गया। घर साफ़-सुथरा लिपा-पुता था। आँगन बुहारा हुआ था; और जो थोड़े-बहुत बरतन थे, वे साफ मँजे हुए चमकदार थे।

इनके मुहल्ले में बीमारी का भय न था।

एक पाखाने का वर्णन किये बिना नहीं रह सकता। मोरी तो हर घर में रहती ही है। पानी भी उनमें बहता है और पेशाब भी। अतएव कोई कमरा मुश्किल से बिना बदबू वाला होगा। पर एक घर में तो सोने के कमरे में मोरी और पाखाना दोनों देखे और वह सारा मैला नल मेंसे नीचे उतरता। इस कमरे में खड़ा रहना मुश्किल था। अब पाठक ही इस बात का अंदाज़ा कर लें कि उसमें घर वाले सो कैसे सकते होंगे ?

समिति हवेली—वैष्णव मंदिर—देखने भी गई थी। हवेली के मुखियाजी से गांधी-कुटुंब का अच्छा संबंध था। मुखिया जी ने हवेली देखने देना तथा जितने हो सके सुधार करना स्वीकार किया। उन्होंने खुद उस हिस्से को कभी न देखा था, हवेली की पत्तलें और जूठन आदि पीछे की छत से फेंक दिये जाते। वह हिस्सा कौओं और चीलों का घर बन गया था। पाखाने तो गंदे थे ही। मुखिया जी ने कितना सुधार किया, यह मैं न देख पाया। हवेली की गंदगी देखकर दुःख तो बहुत हुआ। जिस हवेली को हम पवित्र स्थान समझते हैं, वहाँ तो आरोग्य के नियमों का काफी पालन होने की आशा रखते हैं। स्मृतिकारों ने जो बाह्यान्तर शौच पर बहुत जोर दिया है यह बात मेरे ध्यान से बाहर उस समय भी न थी।

(२६)

राजनिष्ठा और शुश्रूषा

शुद्ध राजनिष्ठा का अनुभव मैंने जितना अपने अंदर किया है, उतना शायद ही कहीं किया हो। मैं देखता हूँ कि इस राजनिष्ठा का मूल है मेरा सत्य के प्रति स्वाभाविक प्रेम। राजनिष्ठा का अथवा किसी दूसरी चीज का ढोंग मुझसे आज तक न हो सका। नेटाल में जिस किसी सभा में मैं जाता, 'गॉड सेव दि किंग' बराबर गाया जाता। मैंने सोचा, मुझे भी गाना चाहिए। यह बात नहीं कि उस समय मुझे ब्रिटिश राज्य-नीति में बुराइयाँ न दिखाई देती थीं। फिर भी आम तौर पर मुझे वह नीति अच्छी मालूम होती थी उस समय मैं यह मानता था कि ब्रिटिश राज्य तथा राजकर्ताओं की नीति समष्टि-रूप से प्रजा-पोषक है।

पर दक्षिण आफ्रिका में उलटी नीति दिखाई देती—रंग-द्वेष नजर आता। मैं समझता, यह क्षणिक और स्थानिक है। इस कारण राजनिष्ठा में मैं अंगरेजों की प्रतिस्पर्द्धा करने की चेष्टा करता। बड़े श्रम के साथ अंगरेजों के राष्ट्र गीत 'गॉड सेव दि किंग' की लय मैंने सीखी। सभाओं में जब वह गाया जाता, तब अपना भी सुर उसमें मिलाता। और बिना आडम्बर किये वफादारी दिखाने के जितने अवसर आते सब में शरीक होता।

अपनी जिंदगीमें कभी मैंने इस राजनिष्ठा की दूकान नहीं लगाई। अपना निजी मतलब साध लेने की कभी इच्छा तक न हुई। वफ़ादारी को एक तरह का कर्ज समझकर मैंने से अदा किया है।

जब भारत आया, तब महारानी विक्टोरिया की डायमंड ज्युबिली की तैयारियाँ हो रही थ । राजकोट में भी एक समिति बनाई गई। उसमें मैं निमंत्रित किया गया। मैंने निमंत्रण स्वीकार किया पर मुझे उसमें ढकोसले की बू आई। मैंने देखा कि उसमें बहुतेरी बातें महज दिखावे के लिए की जाती हैं। यह देखकर मुझे दुःख हुआ। मैं सोचने लगा कि ऐसी दशा में समिति में रहना चाहिए, या नहीं? अन्त को यह निश्चय किया कि अपने कर्त्तव्य का पालन करके सन्तोष मान लेना ही ठीक है।

एक तजवीज यह थी कि पेड़ लगाये जायँ। इसमें मुझे पाखंड दिखाई दिया। मालूम हुआ कि यह महज साहब लोगों को खुश करने के लिए किया जाता है। मैंने लोगों को यह समझाने की कोशिश की कि पेड़ लगाना अनिवार्य नहीं किया गया है, सिर्फ सिफारिश भर की गई है। यदि लगाना ही हो तो फिर सच्चे दिल से लगाना चाहिए, नहीं तो मुतलक नहीं। मुझे कुछ कुछ ऐसा याद पड़ता है कि जब मैं ऐसी बात कहता तो लोग उसे हँसी में उड़ा देते थे। जो हो, अपने हिस्से का पेड़ मैंने अच्छी तरह बोया और उसकी परवरिश भी समुचित-रूप से की।

'गाड सेव दि किंग' मैं अपने परिवार के बच्चों को भी सिखाता था। मुझे याद है कि ट्रेनिंग कालेज के विद्यार्थियों को मैंने यह सिखाया था। पर मुझे यह ठीक-ठीक याद नहीं पड़ता कि यह इसी मौके पर सिखाया था, अथवा सप्तम एडवर्ड के राज्यारोहण

के प्रसंग पर। आगे चलकर मुझे यह गीत गाना अखरा। ज्यों-ज्यों मेरे मन में अहिंसा के विचार प्रबल होते गये, त्यों त्यों मैं अपनी वाणी और विचार की अधिक चौकीदारी करने लगा। इस गीत में ये दो पंक्तियाँ भी हैं—

'उसके शत्रुओं का नाश कर,
उनकी चालों को विफल कर।'

यह भाव मुझे खटका। अपने मित्र डा० बूथ के सामने मैंने अपनी कठिनाई पेश की। उन्होंने भी स्वीकार किया कि हाँ, अहिंसावादी मनुष्य को यह गान शोभा नहीं देता। जिन्हें हम शत्रु कहते हैं, वे दगाबाजी ही करते हैं, यह कैसे मान लें ? यह कैसे कह सकते हैं कि जिन्हें हमने शत्रु मान लिया है वे सब बुरे ही हैं। ईश्वर से तो हम न्याय की ही याचना कर सकते हैं। डा० बूथ को यह दलील जँची। उन्होंने अपने समाज में गाने के लिए एक नये ही गीत की रचना की। डा० बूथ का विशेष परिचय आगे दूँगा।

जिस प्रकार वफादारी का स्वाभाविक गुण मुझ में था, उसी तरह शुश्रूषा का भी था। बीमारों की सेवा-शुश्रूषा का शौक, फिर बीमार चाहे अपने हों या पराये, मुझे था। राजकोट में दक्षिण आफ्रिका संबंधी काम करते हुए मैं एक बार बंबई गया। इरादा यह था कि बड़े-बड़े शहरों में सभायें करके लोकमत विशेष-रूप से तैयार किया जाय। इसीके सिलसिले में मैं बंबई गया था। पहले न्यायमूर्ति रानडे से मिला। उन्होंने मेरी बात ध्यान से सुनी और सर फ़िरोज़शाह से मिलने की सलाह दी। फिर मैं जस्टिस बदरुद्दीन तैयबजी से मिला। उन्होंने भी मेरी बात सुन कर यही

सलाह दी। 'जस्टिस रानडे से और मुझ से आपको बहुत कम सहायता मिल सकेगी। हमारी स्थिति आप जानते हैं। हम सार्वजनिक कामों में योग नहीं दे सकते। परन्तु हमारे मनोभाव और सहानुभूति तो आपके साथ हुई हैं। हाँ, सर फ़िरोजशाह आपकी सहायता करेंगे।'

सर फ़िरोज़शाह से तो मैं मिलने ही वाला था। परन्तु इन दो बुज़ुर्गों की यह राय जान कर मुझे इस बात का ज्ञान हुआ कि सर फ़िरोज़शाह का कितना अधिकार लोगों पर है।

मैं सर फ़िरोज़शाह से मिला। मैं उनसे चकाचौंध होने के लिए तैयार ही था। उनके नाम के साथ लगे बड़े-बड़े विशेषण मैंने सुन रक्खे थे। 'बंबई के सिंह' 'बंबई के बिना ताज के बादशाह' से मिलना था। परन्तु बादशाह ने मुझे भयभीत नहीं किया। जिस प्रकार पिता अपने जवान पुत्र से प्रेम के साथ मिलता है, उसी प्रकार वे मुझ से मिले। उनके चेम्बर में उनसे मिला था। अनुयायियों से तो वे सदा घिरे हुए रहते ही थे। वाच्छा थे, कामा थे। उनसे मेरा परिचय कराया। वाच्छा का नाम मैंने सुना था वे फ़िरोज़शाह के दहने हाथ माने जाते थे। अंकशास्त्री के नाम से वीरचंद गांधी ने मुझे उनका परिचय कराया था। उन्होंने कहा—'गांधी, हम फिर मिलेंगे।'

दो मिनट में यह सब हो गया। सर फ़िरोज़शाह ने मेरी बात सुन ली। न्यायमूर्ति रानडे और तैयबजी से मिलने की भी बात मैंने कही। उन्होंने कहा—'गांधी, तुम्हारे काम के लिए मुझे एक सभा करनी होगी। तुम्हारे काम में ज़रूर मदद देनी चाहिए।' मुंशी की ओर देखकर सभा का दिन निश्चय करने के

लिए कहा। दिन तय हुआ और मुझे छुट्टी मिली। कहा—'सभा के एक दिन पहले मुझ से मिल लेना।' मैं निश्चिंत होकर मन में फूलता हुआ अपने घर गया।

मेरे बहनोई बंबई में रहते थे। उनसे मिलने गया। वे बीमार थे। गरीब हालत थी। बहन अकेली उनकी सेवा-शुश्रूषा नहीं कर सकती थी। बीमारी सख्त थी। मैंने कहा—'मेरे साथ राजकोट चलिए।' वे राज़ी हुए। बहन-बहनोई को लेकर मैं राजकोट गया। बीमारी अन्दाज़ से बाहर भीषण हो गई थी। मैंने उन्हें अपने कमरे में रक्खा। दिनभर मैं उनके पास ही रहता। रात को भी जगना पड़ता। उनकी सेवा करते हुए दक्षिण आफ्रिका का काम मैं कर रहा था। अन्त में बहनोई का स्वर्गवास हो गया। पर मुझे इस बात से कुछ संतोष रहा कि अन्त समय में उनकी सेवा करने का अवसर मुझे मिल गया।

शुश्रूषा के इस शौक़ ने आगे चलकर व्यापक रूप धारण किया। वह यहाँ तक कि उसमें मैं अपना काम-धन्धा छोड़ बैठता। अपनी धर्मपत्नी को भी उसमें लगाता और सारे घर को भी शामिल कर लेता था। इस वृत्ति को मैंने 'शौक़' कहा है। क्योंकि मैंने देखा है कि यह गुण तभी निभता है, जब आनन्ददायक हो जाता है। खींचा-तानी करके दिखावे या लुलाहिज़े के लिए जब ऐसे काम होते हैं, तब वे मनुष्य को कुचल डालते हैं और उनको करते हुए भी मनुष्य मुरझा जाता है। जिस सेवा से चित्त को आनन्द नहीं मालूम होता वह न सेवक को फलती है न सेव्य को सुहाती है। जिस सेवा से चित्त आनन्दित होता, है उसके सामने ऐशोआराम या धनोपार्जन इत्यादि बातें तुच्छ मालूम होती हैं।

(२७)

बम्बई में सभा

बहनोई जी के देहांत के दूसरे ही दिन मुझे सभा के लिए बम्बई जाना था। मुझे इतना समय न मिला था कि अपने भाषण की तैयारी कर रखता। जागरण करते-करते थक रहा था। आवाज़ भी भारी हो रही थी। यह विचार करता हुआ कि ईश्वर ज्यों-त्यों निबाह लेगा, मैं बम्बई गया। भाषण लिखकर ले जाने का तो मुझे स्वप्न में भी ख़याल न हुआ था।

सभा की तिथि के एक दिन पहले शाम को पाँच बजे आज्ञानुसार मैं सर फिरोजशाह के दफ्तर में हाजिर हुआ।

'गांधी, तुम्हारा भाषण तैयार है न ?' उन्होंने पूछा।

'नहीं तो, मैंने तो जबानी ही भाषण करने का इरादा कर रक्खा है।' मैंने डरते-डरते उत्तर दिया।

'बम्बई में ऐसा न चलेगा। यहाँ का रिपोर्टिङ्ग खराब है, और यदि हम चाहते हों कि सभा से लाभ हो तो तुम्हारा भाषण लिखित ही होना चाहिए और रातों-रात छपा लेना चाहिए। रात ही को भाषण लिख सकोगे न ?

मैं पशोपेश में पड़ा। परन्तु मैंने लिखने की कोशिश करना स्वीकार किया।

'तो मुन्शी तुमसे भाषण लेने कब आवे?' बम्बई के सिंह बोले।

'ग्यारह बजे।' मैंने उत्तर दिया।

सर फिरोजशाह ने मुन्शी को हुक्म दिया कि उतने बजे जाकर मुझ से भाषण ले आवे और रातों रात उसे छपा लें। इसके बाद मुझे बिदा किया।

दूसरे दिन सभा में गया। मैंने देखा कि लिखित भाषण पढ़ने की सलाह कितनी बुद्धिमत्तापूर्ण थी। फ्रामजी कावसजी इन्स्टीट्यूट के हाल में सभा थी। मैंने सुन रक्खा था कि सर ...शाह के भाषण में सभा-भवन में खड़े रहने को जगह न मिलती थी। विद्यार्थी लोग खूब दिलचस्पी लेते थे।

ऐसी सभा का यह मुझे पहला अनुभव था। मुझे विश्वास हो गया कि मेरी आवाज लोगों तक नहीं पहुँच सकती। काँपते-काँपते मैंने अपना भाषण शुरू किया। सर फिरोजशाह मुझे उत्साहित करते जाते—हाँ, जरा और ऊँची आवाज से!' ज्यों-ज्यों वे ऐसा कहते त्यों-त्यों मेरी आवाज गिरती जाती थी।

मेरे पुराने मित्र केशवराव देशपांडे मेरी मदद के लिए दौड़े। मैंने उनके हाथ में भाषण सौंप कर छुट्टी पाई। उनकी आवाज थी तो बुलन्द, पर प्रेक्षक क्यों सुनने लगे? 'वाचा' 'वाचा' की की पुकार से हाल गूँज उठा। अब वाचा उठे। उन्होने देशपांडे के हाथ से कागज लिया और मेरा काम बन गया। सभा में तुरन्त सन्नाटा छा गया और लोगों ने अथ से इति तक भाषण

सुना। मामूल के मुताबिक प्रसंगानुसार 'शर्म' 'शर्म' की अथवा करतल ध्वनि हुई। सभा के इस फल से मैं खुश हुआ।

सर फिरोजशाह को भाषण पसंद आया। मुझे गंगा नहाने के बराबर संतोष हुआ

इस सभा के फल-स्वरूप देशपांडे तथा एक पारसी सज्जन ललचाये। पारसी सज्जन आज एक पदाधिकारी हैं, इसलिए उनका नाम प्रकट करते हुए हिचकता हूँ। जज खरदोशजी ने उनके निश्चय को डाँवाडोल कर दिया। उनकी तह में एक पारसी बहन थी। विवाह करें या दक्षिण अफ्रिका जायँ, यह समस्या उनके सामने थी? अन्त को विवाह कर लेना ही उन्होंने अधिक उचित समझा। परन्तु इन पारसी मित्र की तरफ से पारसी रुस्तमजी ने प्रायश्चित्त किया। और पारसी बहन की ओर से दूसरी पारसी बहनें सेविका बनकर, खादी के लिए बैराग लेकर, प्रायश्चित कर रही हैं। इस कारण इस दम्पति को मैंने माफ़ कर दिया है। देशपांडे को विवाह का प्रलोभन तो न था। पर वे भी न आ सके। इसका प्रायश्चित वे खुद ही कर रहे हैं। लौटती बार रास्ते में जंजीबार पड़ता था। वहाँ एक तैयबजी से मुलाकात हुई। उन्होंने भी आने की आशा दिलाई थी—पर वे भला दक्षिण अफ्रिका क्यों आने लगे? उनके न आने के गुनाह का बदला अब्बास तैयबजी चुका रहे हैं। परन्तु बैरिस्टर मित्रों को दक्षिण आफ्रिका आने के लिए लुभाने के मेरे प्रयत्न इस तरह विफल हुए।

यहाँ मुझे पेस्तनजी पादशाह याद आते हैं। विलायत से ही उनका मेरा मधुर सम्बन्ध हो गया था। पेस्तनजी से मेरा परिचय लण्डन के अन्नाहारी भोजनालय में हुआ था। उनके भाई बर-

जीरजी दीवान प्रख्यात थे। मैंने उनकी ख्याति सुनी थी, पर मिला न था। परन्तु मित्र लोग कहते, वे 'चक्रम' (सनकी) हैं। घोड़े पर दया खाकर ट्राम पर नहीं बैठते। शतावधानी की तरह स्मरण-शक्ति होते हुए भी डिग्री के फेर में नहीं पड़ते, इतने आजाद मिजाज के कि किसी के दम-झांसे में नहीं आते और पारसी होते हुए भी अन्नाहारी! पेस्तनजी की डिग्री इतनी बढ़ी हुई नहीं समझी जाती थी; पर फिर भी उनका बुद्धि-वैभव प्रसिद्ध था। विलायत में भी उनकी ऐसी ख्याति थी। परन्तु उनके मेरे सम्बन्ध का मूल तो था उनका अन्नाहार। उनके बुद्धि-वैभव का मुकाबला करना मेरे सामर्थ्य के बाहर था।

बम्बई में मैंने पेस्तनजी को खोज निकाला। ये प्रोथोनोटरी थे। जब मैं मिला तब आप बृहद् गुजराती शब्द-कोष के काम में लगे हुए थे। दक्षिण अफ्रिका के काम में मदद लेने के सम्बंध में मैंने एक भी मित्र को टटोले बिना नहीं छोड़ा था। पेस्तनजी पादशाह ने तो मुझे ही उल्टे दक्षिण अफ्रिका न जाने की सलाह दी। 'मैं तो भला आपको क्या मदद दे सकता हूँ; पर मुझे तो आपका ही वापस लौटना पसन्द नहीं। यहीं, अपने देश में ही, क्या कम काम है? देखिए अभी अपनी मातृ-भाषा की सेवा का ही कितना क्षेत्र सामने पड़ा हुआ है? मुझे विज्ञान-सम्बन्धी शब्दों के पर्याय खोजना हैं। यह हुआ एक काम। देश की ग़रीबी का विचार कीजिए। हाँ, दक्षिण अफ्रिका में हमारे लोगों को कष्ट है, पर उसमें आपके जैसे लोग खप जायँ, यह मुझे बरदाश्त नहीं हो सकता। यदि हम यहीं राज्य-सत्ता अपने हाथ में ले सकें तो वहाँ उनकी मदद अपने आप हो जायगी। आपको

शायद मैं न समझा सकूँगा, परन्तु दूसरे सेवकों को आपके साथ ले जाने में मैं आपको हरगिज सहायता न दूँगा।' ये बातें मुझे अच्छी तो न लगीं, परन्तु पेस्तनजी पादशाह के प्रति मेरा आदर बढ़ गया। उनका देश-प्रेम, भाषा-प्रेम देखकर मैं मुग्ध हो गया। इस प्रसंग के बदौलत मेरी उनकी प्रेम-गाँठ मजबूत हो गई। उनके दृष्टि-बिन्दु को मैं ठीक-ठीक समझ गया। परन्तु दक्षिण अफ्रिका के काम को छोड़ने के बदले, उनकी दृष्टि से भी, मुझे तो उसी पर अधिक दृढ़ होना चाहिए—यह मेरा विचार हुआ। देश-प्रेमी एक भी अंग को जहाँ तक हो न छोड़े। और मेरे सामने तो गीता का श्लोक तैयार ही था—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥ *

बढ़े चढ़े पर-धर्म से घटिया स्वधर्म अच्छा है। स्वधर्म में मौत भी उत्तम है, पर-धर्म तो भयकर्त्ता है।

* अ० ३ श्लोक ३५

(२८)

पूना में—

सर फिरोजशाह ने मेरा रास्ता सरल कर दिया। बम्बई से मैं पूना गया। मैं जानता था कि पूना में दो पक्ष थे। पर मुझे तो सब की सहायता की जरूरत थी। पहले मैं लोकमान्य से मिला। उन्होंने कहा—

'सब दलों की सहायता प्राप्त करने का आपका विचार ठीक है। आपके प्रश्न के सम्बन्ध में मत-भेद हो ही नहीं सकता। परन्तु आपके काम के लिए किसी तटस्थ सभापति की आवश्यकता है। आप प्रोफेसर भाण्डारकर से मिलिए। यों तो वे आजकल किसी हलचल में पड़ते नहीं हैं, पर, शायद इस काम के लिए 'हाँ' कर लें। उनसे मिलकर नतीजे की खबर मुझे कीजिएगा। मैं आपको पूरी-पूरी सहायता देना चाहता हूँ। आप प्रोफेसर गोखले से भी अवश्य मिलिएगा। मुझ से जब कभी मिलने की इच्छा हो जरूर आइएगा।'

लोकमान्य के यह मुझे पहले दर्शन थे। उनकी लोक-प्रियता का कारण मैं तुरन्त समझ गया।

यहाँ से मैं गोखले के पास गया। वे फर्ग्यूसन कालेज में थे।

बड़े प्रेम से मुझ से मिले और मुझे अपना बना लिया। उनका भी यह प्रथम ही परिचय था। पर ऐसा मालूम हुआ, मानो हम पहले मिल चुके हों। सर फिरोजशाह मुझे हिमालय जैसे मालूम हुए। लोकमान्य समुद्र की तरह मालूम हुए। गोखले गंगा की तरह मालूम हुए; उसमें मैं नहा सकता था। हिमालय पर चढ़ना मुश्किल है, समुद्र में डूबने का भय रहता है। पर गंगा की गोदी में खेल सकते हैं, उसमें डोंगी पर चढ़कर तैर सकते हैं। गोखले ने खोद-खोद कर बातें पूछीं—जैसी कि मदरसे में भरती होते समय विद्यार्थी से पूछी जाती हैं। किस-किस से मिलूँ और किस प्रकार मिलूँ, यह बताया और मेरा भाषण देखने के लिए माँगा। मुझे अपने कालेज की व्यवस्था दिखाई। कहा—'जब मिलना हो, खुशी से मिलना और डाक्टर भाण्डारकर का उत्तर मुझे जनाना।' फिर मुझे बिदा किया। राजनैतिक क्षेत्र में गोखले ने जीते-जी जैसा आसन मेरे हृदय में जमाया और जो उनके देहान्त के बाद अब भी जमा हुआ है वैसा फिर कोई न जमा सका।

रामकृष्ण भाण्डारकर मुझ से उसी तरह पेश आये, जिस तरह पिता पुत्र से पेश आता है। मैं दोपहर के समय उनके यहाँ गया था। ऐसे समय भी मैं अपना काम कर रहा था, यह बात इस परिश्रमी-शास्त्रज्ञ को प्रिय हुई और तटस्थ अध्यक्ष बनाने के मेरे आग्रह पर ('दैट्स इट' 'दैट्स इट') 'यही ठीक है' 'यही ठीक है' उद्गार सहज ही उनके मुँह से निकल पड़े।

बातचीत के अन्त में उन्होंने कहा—'तुम किसी से भी पूछोगे तो वह कह देगा कि आजकल मैं किसी भी राजनैतिक काम में

नहीं पड़ता हूँ। परन्तु तुमको मैं विमुख नहीं कर सकता। तुम्हारा मामला इतना मजबूत है और तुम्हारा उद्यम इतना स्तुत्य है कि मैं तुम्हारी सभा में आने से इन्कार नहीं कर सकता। श्रीयुत तिलक और श्रीयुत गोखले से तुम मिल ही लिये हो, यह अच्छा हुआ। उनसे कहना कि दोनों पक्ष जिस सभा में मुझे बुलावेंगे मैं आ जाऊँगा और अध्यक्ष-स्थान ग्रहण कर लूँगा। समय के बारे में मुझसे पूछने की आवश्यकता नहीं। जो समय दोनों पक्षों को अनुकूल होगा उसीकी पाबंदी मैं कर लूँगा; यह कहकर मुझे धन्यवाद और आशीर्वाद देकर उन्होंने बिदा किया।

बिना कुछ गुल-गपाड़े के, बिना कुछ आडम्बर के, एक सादे मकान में पूना के इन विद्वान और त्यागी-मण्डल ने सभा की और मुझे पूरा-पूरा प्रोत्साहन देकर बिदा किया।

यहाँ से मदरास गया। मदरास तो पागल हो उठा। बाला-सुन्दरम् के किस्से का बड़ा गहरा असर सभा पर पड़ा। मेरा भाषण कुछ लम्बा था। पर था सब छपा हुआ। एक-एक शब्द सभा ने मन लगा कर सुना। सभा के अन्त में उस हरी पुस्तिका पर लोग टूट पड़े। मदरास में कुछ घटा-बढ़ाकर उसका दूसरा संस्करण दस हजार का छपवाया। उसका बहुतांश निकल गया। पर मैंने देखा कि दस हजार की जरूरत न थी, लोगों के उत्साह को मैंने अधिक आँक लिया था। मेरे भाषण का असर तो अंग्रेजी बोलने वालों पर ही हुआ था और अकेले मदरास में अंग्रेजीदाँ लोगों के लिए दस हजार प्रतियों की आवश्यकता न थी।

यहाँ मुझे बड़ी से बड़ी सहायता स्वर्गीय जी० परमेश्वरन् पिल्ले से मिली। वे 'मदरास स्टैंडर्ड, के सम्पादक थे। उन्होंने इस प्रश्न

का अच्छा अध्ययन कर लिया था। वे बार-बार अपने दफ्तर में बुलाते और सलाह देते। 'हिंदू' के जी० सुब्रह्मण्यम् से भी मिला था। उन्होंने तथा डा०सुब्रम्ह्रण्यम् ने भी पूरी-पूरी हमदर्दी दिखाई। परन्तु जी परमेश्वरन् पिल्ले ने तो अपना अखबार इस काम के लिए मानों मेरे हवाले ही कर दिया और मैंने भी दिल खोलकर उसका उपयोग किया। सभा पाच्याप्पा हाल में हुई थी और डा० सुब्रह्मण्यम् अध्यक्ष हुए थे, ऐसा मुझे स्मरण है।

मदरास में मैंने बहुतों का प्रेम और उत्साह इतना देखा कि यद्यपि वहाँ सब के साथ मुख्यत: अंग्रेजी में ही बोलना पड़ता था फिर भी मुझे घर के जैसा ही मालूम हुआ। सच है, प्रेम किन बंधनों को नहीं तोड़ सकता?

(२६)

'जल्दी लौटो'

मदरास से मैं कलकत्ता गया। कलकत्ते में मेरी कठिनाइयों की सीमा न रही। वहाँ 'ग्रेन्डईस्टर्न' होटल में उतरा। न किसी से जान न पहचान। होटल में 'डेली टेलिग्राफ' के प्रतिनिधि मि० एलर थार्प से पहचान हुई। वे रहते थे बंगाल क्लब में। वहाँ उन्होंने मुझे बुलाया। उस समय उन्हें पता न था कि होटल के दीवानखाने में कोई हिंदुस्तानी नहीं जा सकता। बाद को उन्हें इस रुकावट का हाल मालूम हुआ। इसलिए वे मुझे अपने कमरे में ले गये। भारतवासियों के प्रति स्थानीय अंग्रेजों के इस हेय भाव को देख कर उन्हें खेद हुआ। दीवानखाने में न ले जा सकने के लिए उन्होंने मुझसे माफी माँगी।

'बंगाल के देव' सुरेन्द्रनाथ बनरजी से तो मिलना ही था। उनसे जब मैं मिलने गया तब दूसरे मिलनेवाले भी उन्हें घेरे हुए थे। उन्होंने कहा—मुझे अंदेशा है कि आपकी बात में यहाँ के लोग दिलचस्पी न लेंगे। आप देखते ही हैं कि यहाँ हम लोगों को कम मुसीबतें नहीं है। फिर भी आपको तो भरसक कुछ न कुछ करना ही है। इस काम में आपको महाराजाओं की

मदद की जरूरत होगी । 'ब्रिटिश इण्डिया एसोसियेशन' के प्रतिनिधियों से मिलिएगा । राजा सर प्यारीमोहन मुकर्जी और महाराजा टागोर से भी मिलिएगा । दोनों उदार-हृदय हैं और सार्वजनिक कामों में अच्छा भाग लेते हैं ।' मैं इन सज्जनों से मिला। पर वहाँ मेरी दाल न गली । दोनों ने कहा—'कलकत्ता में सभा करना आसान बात नहीं । पर यदि करना ही हो तो उसका बहुत कुछ दारोमदार सुरेन्द्रनाथ बनर्जी पर है ।'

मेरी कठिनाइयाँ बढ़ती जाती थीं । 'अमृत-बाजार पत्रिका' के दफ़्र में गया । वहाँ भी जो सज्जन मिले उन्होंने मान लिया कि मैं कोई रमताराम वहाँ आ पहुँचा हूँगा । 'बंगवासी' वालों ने तो हद कर दी । मुझे एक घण्टे तक तो बैठा ही रक्खा । औरों के साथ तो सम्पादक महोदय बातें करते जाते; पर मेरी ओर आँख उठाकर भी न देखते । एक घण्टा राह देखने के बाद मैंने अपनी बात उनसे छेड़ी । तब उन्होंने कहा—'आप देखते नहीं, हमें कितना काम रहता है ? आपके जैसे कितने ही यहाँ आते रहते हैं । आप चले जायँ, यही अच्छा है । हम आपकी बात सुनना नहीं चाहते ।' मुझे ज़रा देर के लिए रंज तो हुआ, पर मैं सम्पादक का दृष्टि-बिन्दु समझ गया । 'बंगवासी' की ख्याति भी सुनी थी । मैं देखता था कि उनके पास आने-जाने वालों का ताँता लगा रहता था । वे सब उनके परिचित थे । उनके अखबार के लिए विषयों की कमी न थी । दक्षिण अफ्रिका नाम तो उन दिनों नया ही नया था । नित नये आदमी आकर अपनी कष्ट-कथा उन्हें सुनाते । अपना-अपना दुःख हरएक के लिए सबसे बड़ा सवाल था । परन्तु सम्पादक के पास ऐसे दुखियों का अड्डा लगा

रहता। बेचारा सबको तसल्ली कैसे दे सकता है। फिर दुःखी आदमी के लिए तो सम्पादक की सत्ता एक भारी बात होती है। यह दूसरी बात है कि सम्पादक जानता रहता है कि मेरी सत्ता दफ़्तर के दरवाजे के बाहर पैर नहीं रख सकती।

पर मैं हिम्मत न हारा। दूसरे सम्पादकों से मिला। अपने मामूल के माफ़िक अंग्रेज़ों से भी मिला। 'स्टेटस्मैन' और 'इंग्लिशमैन' दोनों दक्षिण अफ्रिका के प्रश्न का महत्व समझते थे। उन्होंने मेरी लम्बी-लम्बी बातचीत छापी। 'इंग्लिशमैन' के मि० सॉंडर्स ने मुझे अपनाया। उनका दफ़्तर मेरे लिए खुला था; उनका अख़बार मेरे लिए खुला था। अपने अग्रलेख में कमीबेशी करने की भी छूट उन्होंने मुझे दे दी। यह भी कहूँ तो अत्युक्ति नहीं कि उनका मेरा ख़ासा स्नेह हो गया। उन्होंने भरसक मदद देने का वचन दिया। मुझ से कहा कि 'दक्षिण अफ्रिका जाने के बाद भी मुझे पत्र लिखिएगा और वचन दिया कि मुझसे जो कुछ हो सकेगा करूँगा।' मैंने देखा कि उन्होंने अपना यह वचन अक्षरशः पाला और जब तक कि उनकी तबियत खराब न होगई उन्होंने मेरे साथ चिट्ठी-पत्री जारी रक्खी। मेरी ज़िन्दगी में ऐसे अकल्पित मीठे सम्बन्ध अनेक हुए हैं। मि० सॉंडर्स को मेरे अन्दर जो सबसे अच्छी बात लगी वह थी अत्युक्ति का अभाव और सत्य-परायणता। उन्होंने मुझसे जिरह करने में कोरकसर न रक्खी थी। उसमें उन्होंने अनुभव किया कि दक्षिण अफ्रिका के गोरों के पक्ष को निष्पक्ष होकर पेश करने में तथा उसके तोलने में मैंने कोई कमी नहीं रक्खी थी।

मेरा अनुभव कहता है कि प्रतिपक्षी के साथ न्याय करके हम अपने लिए जल्दी न्याय प्राप्त कर सकते हैं ।

इस प्रकार मुझे अकल्पित सहायता मिल जाने से कलकत्ते में भी सभा करने की आशा बँधी, पर इसी अर्से में डरबन से तार मिला—'पार्लियामेंट की बैठक जनवरी में होगी, जल्दी लौटो ।'

इस कारण अखबारों में इस आशय की एक चिट्ठी लिखकर कि मुझे तुरन्त दक्षिण अफ्रिका चला जाना जरूरी है, मैंने कलकत्ता छोड़ा और दादा अब्दुल्ला के एजेंट को तार दिया कि पहले जहाज से जाने का इन्तजाम करो । दादा अब्दुल्ला ने खुद 'कुरलैण्ड' जहाज खरीद लिया था। उसमें उन्होंने मुझे तथा मेरे बाल-बच्चों को ले जाने का आग्रह किया। मैंने धन्यवाद-सहित स्वीकार किया और दिसम्बर के आरम्भ में, 'कुरलैंड' में मेरी धर्म-पत्नी, दो बच्चे और मेरे स्वर्गीय बहनोई के इकलौते पुत्र को लेकर दूसरी बार दक्षिण अफ्रिका रवाना हुआ । इस जहाज के साथ ही 'नादरी' नामक एक और जहाज डरबन रवाना हुआ । उसके एजेंट दादा अब्दुल्ला थे । दोनों जहाजों में मिलाकर कोई ८०० यात्री थे । उनमें आधे से अधिक यात्री ट्रांसवाल जाने वाले थे ।

दूसरा भाग समाप्त

सत्य के प्रयोग अथवा आत्म-कथा

[भाग तीसरा]

(१)

तूफ़ान के चिन्ह

परिवार के साथ यह मेरी प्रथम जल-यात्रा थी। मैंने कई बार लिखा है कि हिन्दू-संसार में विवाह बचपन में हो जाने से, तथा मध्यमवर्ग के लोगों में पति के बहुतांश में साक्षर और पत्नी के निरक्षर होने के कारण 'पति-पत्नी' के जीवन में बड़ा अन्तर रहता है, और पति को पत्नी का शिक्षक बनना पड़ता है। मुझे अपनी धर्म-पत्नी के तथा बालकों के लिबास पर, खान-पान पर, तथा बोल-चाल पर ध्यान रखने की आवश्यकता थी। मुझे उन्हें रहन-सहन और रीति-नीति सिखानी थी। उस समय की कितनी बातें याद करके मुझे अब हँसी आजाती है। हिन्दू पत्नी पति-परायणता को अपने धर्म की पराकाष्ठा समझती है। हिन्दू-पति अपने को पत्नी का ईश्वर मानता है। इस कारण पत्नी को जैसा वह नचावे नाचना पड़ता है।

मैं जिस समय की बात लिख रहा हूँ उस समय मैं मानता था कि सुधरा हुआ समझा जाने के लिए हमारा बाह्याचार जहाँ तक हो यूरोपियनों से मिलता-जुलता होना चाहिए। ऐसा करने ही से रौब पड़ता है और रौब पड़े बिना देश-सेवा नहीं हो सकती।

इस कारण पत्नी तथा बालकों का पहनावा मैंने ही पसंद किया। बालकों इत्यादि को लोग कहें कि काठियावाड़ के बनिये हैं तो यह कैसे सुहा सकता था ? पारसी अधिक से अधिक सुधरे हुए माने जाते हैं। इस कारण जहाँ यूरोपियन पोशाक का अनुकरण करना ठीक न मालूम हुआ वहाँ पारसी का किया। पत्नी के लिए पारसी तर्ज़ की साड़ियाँ लीं। बच्चों के लिए पारसी कोट-पतलून लिये। सब के लिए बूट-मौज़े तो अवश्य चाहिएँ। पत्नी को तथा बच्चों को दोनों चीज़ें कई महीनों तक पसन्द न हुईं। बूट काटते, मौजे बदबू करते, पैर तंग रहते। इन अड़चनों का उत्तर मेरे पास तैयार था। और उत्तर के औचित्य की अपेक्षा हुक्म का बल तो अधिक था ही। इसलिए लाचार हो कर पत्नी तथा बच्चों ने पोशाक-परिवर्तन को स्वीकार किया। उतनी ही बेबसी और उससे भी अधिक अनमने होकर भोजन के समय छुरी-कांटे का इस्तैमाल करने लगे। जब मेरा मोह उतरा तब फिर उन्हें बूट-मौज़े, छुरी-कांटे इत्यादि छोड़ने पड़े। यह परिवर्तन जिस प्रकार दुःखदायी था उस प्रकार एक बार आदत पड़ जाने के बाद फिर उनको छोड़ना भी दुःखकर था। पर अब मैं देखता हूँ कि हम सब सुधारों की केंचुल को छोड़कर हलके हो गये हैं।

इसी जहाज़ में दूसरे सगे-सम्बन्धी तथा परिचित लोग थे। उनके तथा डेक के दूसरे यात्रियों के भी परिचय में मैं ख़ूब आता। एक तो मवक्किल और फिर मित्र का जहाज़, घर के जैसा मालूम होता और मैं हर जगह जहाँ जी चाहता जा सकता था।

जहाज़ दूसरे बन्दरों पर ठहरे बिना ही नेटाल पहुँचने वाला था। इसलिए सिर्फ़ १८ दिन की यात्रा थी। मानों हमारे पहुँचते

ही भारी तूफ़ान की चेतावनी देने के लिए, हमारे पहुँचने के तीन-चार दिन पहले, समुद्र में भारी तूफ़ान उठा। इस दक्षिण प्रदेश में दिसम्बर मास गरमी और बरसात का समय होता है। इस कारण दक्षिण समुद्र में इन दिनों छोटे-बड़े तूफ़ान अक्सर उठा करते हैं। तूफ़ान इतने ज़ोर का था और इतने दिनों तक रहा कि मुसाफिर घबड़ा गये।

यह दृश्य भव्य था। दुःख में सब एक हो गये। भेद-भाव भूल गये। ईश्वर को सच्चे हृदय से स्मरण करने लगे। हिन्दू-मुसलमान सब साथ मिलकर ईश्वर को याद करने लगे। कितनों ने मानतायें मानीं। कप्तान भी यात्रियों में आकर आश्वासन देने लगा कि यद्यपि तूफ़ान ज़ोर का है, फिर भी इससे बड़े-बड़े तूफ़ानों का अनुभव मुझे है। जहाज़ यदि मज़बूत हो तो एका-एक डूबता नहीं। इस तरह उसने मुसाफिरों को बहुत समझाया, पर उन्हें किसी तरह तसल्ली न होती थी। जहाज़ में ऐसी-ऐसी आवाज़ें निकलतीं, मानो जहाज़ अभी कहीं न कहीं से टूट पड़ता है--अभी कहीं छेद होता है। झोले इतने खाता कि जान पड़ता, अभी उलट जायगा। डेक पर तो खड़ा रहना ही मुशकिल था। 'ईश्वर जो करे सो सही' इसके सिवा दूसरी बात किसी के मुँह से निकलती।

मुझे जहाँ तक याद है, ऐसी चिन्ता में चौबीस घण्टे बीते होंगे। अन्त को बादल बिखरे, सूर्यनारायण ने दर्शन दिये। कप्तान ने कहा---'अब तूफ़ान जाता रहा।'

लोगों के चेहरों से चिन्ता दूर हुई, और उसके साथ ही ईश्वर भी न जाने कहाँ चला गया। मौत का डर दूर हुआ और उसके साथ ही फिर गान-तान, खान-पान शुरू हो गया; फिर वही माया

का आवरण चढ़ गया। अब भी नमाज पढ़ी जाती, भजन होते; परन्तु तूफ़ान के अवसर पर उसमें जो गम्भीरता दिखाई देती थी, वह न रही।

परन्तु इस तूफ़ान के बदौलत मैं यात्रियों में हिल-मिल गया था। यह कह सकते हैं कि मुझे तूफ़ान का भय न था अथवा कम से कम था। प्रायः इसी तरह के तूफ़ान मैं पहले देख चुका था। जहाज़ में मेरा जी नहीं मिचलाता, चक्कर नहीं आते—इसलिए मुसाफ़िरों में मैं निर्भय हो कर घूम-फिर सकता था। उन्हें आश्वासन दे सकता था। और कप्तान के संदेश उन तक पहुँचाता था। यह स्नेह-गाँठ मुझे बहुत उपयोगी साबित हुई।

हमने १८ या १९ दिसम्बर को डरबन के बंदर पर लंगर डाला। और 'नादरी' भी उसी दिन पहुँचा।

पर सच्चे तूफ़ान का अनुभव तो अभी होना बाक़ी ही था।

(२)

तूफ़ान

अठारह दिसम्बर के आस-पास दोनों जहाज़ों ने लंगर डाला। दक्षिण अफ्रिका के बन्दरों में यात्रियों की पूरी-पूरी डाक्टरी जांच होती है। यदि रास्ते में किसी को कोई संक्रामक रोग हो गया हो तो जहाज़ सूतक में—क्वारन्टीन में—रक्खा जाता है। हमने जब बंबई छोड़ी, तब वहाँ प्लेग फैल रहा था। इसलिए हमें सूतक-बाधा होने का कुछ तो भय था ही। बंदर में लंगर डालने के बाद सबसे पहले जहाज़ पीला झण्डा फहराता है। डाक्टरी जांच के बाद जब डाक्टर छुट्टी देता है, तब पीला झण्डा उतरता है; फिर मुसाफिरों के नाते-रिश्तेदारों को जहाज़ पर आने की छुट्टी मिलती है।

इसके मुताबिक हमारे जहाज़ पर भी पीला झण्डा लहरा रहा था। डाक्टर आये। जांच करके पांच दिन के सूतक का हुक्म दिया। क्योंकि उनकी यह धारणा थी कि प्लेग के जन्तु २३ दिन तक क़ायम रहते हैं। इसलिए उन्होंने यह तय किया कि बंबई छोड़ने के बाद २३ दिन तक यात्रियों को सूतक में रखना चाहिए।

परन्तु इस सूतक के हुक्म का हेतु केवल आरोग्य न था।

डरबन के गोरे हमें फिर वापिस लौटाने की हलचल मचा रहे थे। इस हुक्म में यह बात भी कारणीभूत थी।

दादा अबदुल्ला की ओर से हमें शहर की इस हलचल की खबरें मिला करती थीं। गोरे एक के बाद एक विराट् सभायें कर रहे थे। दादा अबदुल्ला को धमकियां भेज रहे थे। उन्हें लालच भी दिखाते थे। यदि दादा अबदुल्ला दोनों जहाज़ों को वापस लौटा दें तो उन्हें सारा हरजाना देने को तैयार थे। दादा अबदुल्ला किसी की धमकियों से डरने वाले न थे। इस समय वहाँ सेठ अबदुलकरीम हाजी आदम दूकान पर थे। उन्होंने प्रतिज्ञा कर रक्खी थी कि चाहे जितना नुकसान हो, मैं जहाज़ को बंदरप लाकर मुसाफ़िरों को उतरवा कर छोड़ूंगा। मुझे वे सविस्तर पत्र हमेशा लिखा करते। तक़दीर से इस बार स्वर्गीय मनसुखलाल हीरालाल नाज़र मुझे मिलने डरबन से आ पहुँचे थे। वे बड़े चतुर और जवांमर्द आदमी थे। उन्होंने लोगों को उतरने की सलाह दी। उनके वकील मि० लाटन थे। वे भी वैसे ही बहादुर आदमी थे। उन्होंने गोरों के काम की खूब निन्दा की, और लोगों को जो सलाह दी वह केवल वकील की हैसियत से फ़ीस लेने के लिए नहीं, बल्कि एक सच्चे मित्र के तौर पर दी थी।

इस तरह डरबन में द्वंद्व-युद्ध छिड़ा। एक ओर बेचारे मुट्ठी-भर भारतवासी और उनके इने-गिने अंग्रेज़ मित्र; तथा दूसरी ओर धन-बल, बाहु-बल, अक्षर-बल और संख्या-बल में भरे-पूरे अंग्रेज़। फिर इस बलशाली प्रतिपक्षी के साथ सत्ता-बल भी मिल गया। क्योंकि नेटाल सरकार ने प्रकाश्य रूप से उसकी सहायता की। मि० हैरी एस्कम्ब जो प्रधान-मण्डल में थे और उसके कर्त्ता-

हर्ता थे, उन्होंने इस मण्डल की सभा में खुले तौर पर भाग लिया था।

इसलिए हमारा सूतक केवल आरोग्य के नियमों का ही अहसानमंद न था। बात यह थी कि एजंट को अथवा यात्रियों को किसी न किसी बहाने तंग करके हमें वापस लौटाने की तजवीज थी। एजंट को तो धमकी दी ही गई थी। अब हमें भी धमकियाँ दी जाने लगीं—'यदि तुम लोग वापस न लौटोगे तो समुद्र में डुबा दिये जाओगे। यदि लौट जाओगे तो शायद लौटने का किराया भी मिल जायगा।' मैं मुसाफ़िरों में खूब घूमा-फिरा और उन्हें धीरज-दिलासा देता रहा। 'नादिरी' के यात्रियों को भी धीरज के संदेश भेजे। मुसाफिर शांत रहे और उन्होंने हिम्मत दिखाई।

मुसाफिरों के मनोविनोद के लिए जहाज़ में तरह-तरह के खेलों की व्यवस्था थी। क्रिसमस के दिन आये। कप्तान ने उन दिनों पहले दरजे के मुसाफिरों को भोज दिया। यात्रियों में मुख्यतः तो मैं और मेरे बाल-बच्चे ही थे। भोजन के बाद व्याख्यान का नम्बर आया। मैंने पश्चिमी सुधारों पर व्याख्यान दिया। मैं जानता था कि यह अवसर गंभीर भाषण के अनुकूल नहीं है। पर मैं दूसरी तरह का भाषण कर ही नहीं सकता था। विनोद और आमोद-प्रमोद की बातों में मैं शरीक तो होता था; पर मेरा दिल तो डरबन में छिड़े संग्राम की ओर लग रहा था।

इस हमले का मध्यबिंदु मैं ही था। मुझ पर दो इल्जाम थे।

(१) हिन्दुस्तान में मैंने नेटाल के गोरों की अनुचित निन्दा की है; और

(२) मैं नेटाल को हिन्दुस्तानियों से भर देना चाहता हूँ।

इसलिए 'कुरलैण्ड' और 'नादरी' में खास तौर पर नेटाल में बसाने के लिए हिन्दुस्तानियों को भर लाया हूँ।

मुझे अपनी जिम्मेदारी का खयाल था। मेरे कारण दादा अबदुल्ला ने बड़ी जोखिम सिर ले ली थी। मुसाफिरों की भी जान जोखिम में थी; मैंने अपने बालबच्चों को साथ लाकर उन्हें भी दुःख में डाल दिया था।

फिर भी मैं था सब तरह निर्दोष। मैंने किसी को नेटाल जाने के लिए ललचाया न था। 'नादरी' के यात्रियों को तो मैं जानता तक न था। 'कुरलैण्ड' में अपने दो-तीन रिश्तेदारों के अलावा और जो सैकड़ों मुसाफिर थे, उनके तो नाम-ठाम तक न जानता था। मैंने हिन्दुस्तान में नेटाल के अंग्रेजों के सम्बन्ध में ऐसा एक भी अक्षर न कहा था, जो नेटाल में न कह चुका था; और जो कुछ मैंने कहा था उसके लिए मेरे पास बहुतेरे सबूत थे।

इस कारण उस संस्कृति के प्रति जिसकी उपज नेटाल के गोरे थे, जिसके वे प्रतिनिधि और हामी थे, मेरे मन में बड़ा खेद उत्पन्न हुआ। उसीका विचार करता रहता था। और इस कारण उसी के सम्बन्ध में अपने विचार मैंने इस छोटी-सी सभा में पेश किये और श्रोताओं ने उन्हें सहन भी किया। जिस भाव से मैंने उन्हें पेश किया था उसी भाव में कप्तान इत्यादि ने उन्हें ग्रहण किया था। मैं यह नहीं जानता कि उसके कारण उन्होंने अपने जीवन में कोई परिवर्तन किया या नहीं; पर इस भाषण के बाद कप्तान तथा दूसरे अधिकारियों के साथ पश्चिमी संकृति के सम्बन्ध में मेरी बहुतेरी बातें हुईं। पश्चिमी–संस्कृति को मैंने प्रधानतः हिंसक बताया; पूर्व की संस्कृति को अहिंसक। प्रश्न-

कर्ताओं ने मेरे सिद्धान्त मुझी पर घटाये। शायद, बहुत करके, कप्तान ने पूछा—

'गोरे लोग जैसी धमकियाँ दे रहे हैं उसीके अनुसार यदि वे आपको हानि पहुँचावें तो आप फिर अपने अहिंसा-सिद्धान्त का पालन किस तरह से करेंगे ?'

मैंने उत्तर दिया—'मुझे आशा है कि उन्हें माफ कर देने की तथा उन पर मामला न चलाने की हिम्मत और बुद्धि ईश्वर मुझे दे देगा। आज भी मुझे उन पर रोष नहीं है। उनके अज्ञान तथा उनकी संकुचित दृष्टि पर मुझे अफ़सोस होता है। पर मैं यह मानता हूँ कि वे शुद्ध भाव से यह मान रहे हैं कि हम जो कुछ कह रहे हैं वह ठीक है; और इसलिए मुझे उन पर रोष करने का कारण नहीं।

पूछने वाला हँसा। शायद उसे मेरी बात पर भरोसा न हुआ।

इस तरह हमारे दिन गुज़रे और बढ़ते गये। सूतक बन्द करने की मियाद अन्त तक मुकर्रर न हुई। इस विभाग के कर्मचारी से पूछता तो कहता—'यह बात मेरे अख़्तियार के बाहर है। सरकार मुझे जब हुक्म देगी तब मैं उतरने दे सकता हूँ।'

अन्त को मुसाफिरों के और मेरे पास आख़िरी चेतावनियाँ आईं। दोनों को धमकियाँ दी गई थीं कि अपनी जान को ख़तरे में समझो। जवाब में हम दोनों ने लिखा कि नेटाल के बन्दर में उतरने का हमें हक़ हासिल है; और, चाहे जैसा ख़तरा क्यों न हो, हम अपने हक़ पर कायम रहना चाहते हैं।

अन्त को तेईसवें दिन अर्थात् १३ जनवरी को जहाज़ को इजाज़त मिली और मुसाफिरों को उतरने देने की आज्ञा प्रकाशित हो गई।

(३)

कसौटी

जहाज धक्के पर आया। मुसाफिर उतरे, परन्तु मेरे लिए मि० ऐस्कम्ब ने कप्तान से कहला दिया था कि गांधी को तथा उनके बाल-बच्चों को शाम को उतारिएगा। गोरे उनके ख़िलाफ़ बहुत उमड़े हुए हैं, और उनकी जान ख़तरे में है। धक्के के सुपरिन्टेन्डेन्ट टैटम उन्हें शाम को लिवा ले जायँगे।

कप्तान ने मुझे इस सन्देशे का समाचार सुनाया। मैंने उसके अनुसार करना स्वीकार किया। परन्तु इस सन्देश को मिले अभी आध घण्टा भी न हुआ होगा कि मि० लाटन आये और कप्तान से मिलकर कहा—'यदि मि० गांधी मेरे साथ आना चाहें तो मैं उन्हें अपनी जिम्मेवारी पर ले जाना चाहता हूँ। जहाज के एजंट के वकील की हैसियत से मैं आपसे कहता हूँ कि मि० गांधी के सम्बन्ध में जो सन्देश आपको मिला है उससे आप अपने को बरी समझें।' इस तरह कप्तान से बात-चीत करके वे मेरे पास आये और कुछ इस प्रकार कहा—'यदि आपको जिन्दगी का डर न हो तो मैं चाहता हूँ कि श्रीमती गाँधी और बच्चे गाड़ी में रुस्तम जी सेठ के यहाँ चले जायँ और मैं और आप आम-रास्ते होकर पैदल

चलें रात को अंधेरा पड़ जाने पर चुपके-चुपके शहर में जाना मुझे बिलकुल अच्छा नहीं लगता। मेरा ख़याल है कि आपका बाल तक बांका नहीं हो सकता। अब तो चारों ओर शान्ति है। गोरे सब इधर-उधर बिखर गये हैं। और मेरा तो यही मत है कि आपका इस तरह छिप कर जाना उचित नहीं।'

मैं सहमत हुआ। धर्म-पत्नी और बच्चे रुस्तम जी सेठ के यहां गाड़ी में गये और सही-सलामत जा पहुँचे। मैं कप्तान से बिदा मांगकर मि० लाटन के साथ जहाज़ से उतरा। रुस्तमजी सेठ का घर लगभग दो मील था।

जैसे ही हम जहाज़ से उतरे, कुछ छोकरों ने मुझे पहचान लिया और वे 'गांधी, गांधी' चिल्लाने लगे। तत्काल दो-चार आदमी इकट्ठे हो गये और मेरा नाम ले कर ज़ोर से चिल्लाने लगे। मि० लाटन ने देखा कि भीड़ बढ़ जायगी, उन्होंने रिक्शा मंगाई। मुझे रिक्शा में बैठना कभी अच्छा न मालूम होता था। मुझे उसका अनुभव यह पहली ही बार होने वाला था। पर छोकरे क्यों बैठने देने लगे? उन्होंने रिक्शा वाले को धमकाया, और वह भाग खड़ा हुआ।

हम आगे चले। भीड़ भी बढ़ती जाती थी। काफ़ी मजमा हो गया। सबसे पहले तो भीड़ ने मुझे मि० लाटन से अलग कर दिया। फिर मुझ पर कंकड़ और सड़े अंडे बरसने लगे। किसी ने मेरी पगड़ी भी गिरा दी और मुझे लातें लगनी शुरू हुई।

मुझे ग़श आ गया। नज़दीक के घर के सींखचे को पकड़ कर मैंने सहारा लिया। खड़ा रहना तो असंभव ही था। अब थप्पड़ें भी पड़ने लगीं।

इतने ही में पुलिस-सुपरिंटेंडेन्ट की पत्नी, जो मुझे जानती थी, उधर होकर निकली। मुझे देखते ही वह मेरे पास आ खड़ी हुई, और धूप के न रहते हुए भी अपना छाता मुझ पर तान दिया। इससे भीड़ कुछ दबी। अब अगर वे चोट करते भी तो मिसेज़ अलेकज़ेण्डर को बचाकर ही कर सकते थे।

इसी बीच कोई हिन्दुस्तानी, मुझ पर हमला होता हुआ देख, पुलिस-थाने पर दौड़ गया। सुपरिंटेंडेंट अलेकज़ेण्डर ने पुलिस की एक टुकड़ी मुझे बचाने के लिए भेजी। वह समय पर आ पहुँची। मेरा रास्ता पुलिस चौकी से ही होकर गुजरा था। सुपरिंटेंडेंट ने मुझे थाने में ठहर जाने को कहा। मैंने इनकार कर दिया, कहा—'जब लोग अपनी भूल समझ लेंगे तब शांत हो जायँगे। मुझे उनकी न्याय-बुद्धि पर विश्वास है।'

पुलिस की रक्षा में मैं सही-सलामत पारसी रुस्तमजी के घर पहुँचा। पीठ पर मुझे चोट पहुँची थी। जख्म सिर्फ एक ही जगह हुआ था। जहाज़ के डाक्टर दादी बरजोर वहीं मौजूद थे। उन्होंने मेरी अच्छी तरह सेवा-शुश्रूषा की।

इस तरह जहाँ अन्दर शान्ति थी, तहाँ बाहर से गोरों ने घर को घेर लिया। शाम हो गई थी। अँधेरा पड़ गया था। हजारों लोग बाहर किलकारियाँ मार रहे थे और पुकार रहे थे— "गाँधी को हमारे हवाले कर दो" मौक़ा बेढ़ब देखकर सुपरिंटेंडेंट अलेकजण्डर वहाँ पहुँच गये थे और भीड़ को डरा-धमका कर नहीं, बल्कि हँसी-मजाक करते हुए क़ाबू में रख रहे थे।

फिर भी वे चिन्तामुक्त न थे। उन्होंने मुझे इस आशय का संदेश भेजा —'यदि आप अपने मित्र के जान-माल को, मकान

को तथा अपने बाल-बच्चों को बचाना चाहते हों; तो, मैं जिस तरह बताऊँ आपको छिप कर इस घर से निकल जाना चाहिए।'

एक ही दिन मुझे एक दूसरे से विपरीत दो काम करने का समय आया। जब कि जान जाने का भय केवल कल्पित मालूम होता था तब मि० लाटन ने मुझे खुले-आम बाहर चलने की सलाह दी और मैंने उसे माना। पर जब खतरा आखों के सामने था, तब दूसरे मित्र ने इससे उल्टी सलाह दी और उसे मैंने मान लिया। अब कौन बता सकता है कि मैं अपने जान को जोखम से डरा, अथवा मित्र के जानमाल को या मेरे अपने बाल-बच्चों को हानि पहुँचने के डर से या तीनों के? कौन निश्चय-पूर्वक कह सकता है कि मेरा जहाज़ से हिम्मत दिखाकर उतरना और फिर खतरे के प्रत्यक्ष होते हुए छिप कर भाग जाना उचित था? परन्तु जो बातें हो चुकी हैं उनकी इस तरह चर्चा ही फ़िजूल है। उसमें काम की बातें सिर्फ़ इतनी है कि जो-कुछ हुआ उसे समझ लें। उससे जो नसीहत मिल सकती हो उसे ले लें। किस मौक़े पर कौन मनुष्य क्या करेगा, यह निश्चय-पूर्वक नहीं कह सकते। उसी तरह, हम यह भी देख सकते हैं कि, मनुष्य के बाह्याचार से उसके गुण की जो परिक्षा होती है वह अधूरी होती है और अनुमान-मात्र होती है।

जो कुछ हो। भागने की तैयारी में मैं अपनी चोटों को भूल गया। मैंने हिन्दुस्तानी सिपाही की वर्दी पहनी। कहीं सिर पर चोट न लगे, इस अंदेशे से शिर पर एक पीतल की तश्तरी रखली और उस पर मदरासियों का लंबा साफ़ा लपेटा। साथ में दो जासूस थे, जिनमें एक ने हिन्दुस्तानी व्यापारी का रूप बनाया था, अपना

मुँह हिन्दुस्तानी की तरह रँग लिया था। दूसरे ने क्या स्वांग बनाया था, यह मैं भूल गया हूँ। हम नजदीक की गली से होकर पड़ौस की एक दूकान में पहुँचे, और गोदाम में रक्खे बोरों के ढेर के अंधेरे में बचते हुए दूकान के दरवाजे से निकल भीड़ में होकर बाहर चले गये। गली के मुँह पर गाड़ी खड़ी थी, उसमें बैठ कर हम उसी थाने पर पहुँचे, जहाँ ठहरने के लिए सुपरिंटेंडेंट अलेक्जएडर ने पहले कहा था। मैंने सुपरिंटेंडेंट का तथा खुफ़िया पुलिस के अफ़सर का एहसान माना।

इस तरह एक ओर जब मैं दूसरी जगह ले जाया जा रहा था, तब दूसरी ओर सुपरिंटेंडेंट भीड़ को गीत सुना रहा था। उसका हिन्दी-भाव यह है—

'चलो इस गाँधी को हम उस इमली के पेड़ पर फाँसी लटका दें।

जब सुपरिंटेंडेंट को खबर मिल गई कि मैं सही-सलामत मुकाम पर पहुँच गया, तब उन्होंने भीड़ से कहा—'लो तुम्हारा शिकार तो इस दूकान से हो कर सही सलामत बाहर सटक गया। यह सुन कर भीड़ में से कुछ लोग बिगड़े, कुछ हँसे, और बहुतेरों ने तो उनकी बात ही न मानी।

'तो तुममें से कोई जाकर अन्दर देख ले। अगर गाँधी वहाँ मिल जाय, तो उसे मैं तुम्हारे हवाले कर दूँगा, न मिले तो तुमको अपने-अपने घर चले जाना चाहिए। मुझे इतना तो विश्वास है कि तुम पारसी रुस्तमजी के मकान को न जलाओगे और गाँधी के बाल-बच्चों को नुकसान न पहुँचाओगे।' सुपरिंटेंडेंट ने कहा।

भीड़ ने प्रतिनिधि चुने। प्रतिनिधियों ने भीड़ को निराशा

जनक समाचार सुनाए। सब सुपरिंटेंडेंट अलेक्जरगडर की समय-सूचकता और चतुराई की स्तुति करते हुए, और कुछ लोग मनही मन कुढ़ते हुए, घर चले गये।

स्वर्गीय मि० चेंबरलेन ने तार दिया कि गाँधी पर हमला करने वालों पर मामला चलाया जाय और ऐसा किया जाय कि गाँधी को इन्साफ़ मिले। मि० ऐस्कंब ने मुझे बुलाया। मुझे जो चोटें पहुँची थीं, इसके लिए दुःख प्रदर्शित किया; और कहा—'आप यह तो अवश्य मानेंगे कि आपको ज़रा-भी कष्ट पहुँचने से मुझे खुशी नहीं हो सकती। मि० लाटन की सलाह मानकर आपने जो तुरन्त उतर जाने का साहस किया, उसका आपको हक़ था। पर यदि मेरे सन्देश के अनुसार आपने किया होता, तो यह दुःखद घटना न हुई होती। अब यदि आप हमलाइयों को पहचान सकें, तो मैं उन्हें गिरफ्तार करके मुक़दमा चलाने के लिए तैयार हूँ। मि० चेम्बरलेन भी ऐसा ही चाहते हैं।'

मैंने उत्तर दिया—'मैं किसी पर मुक़द्दमा चलाना नहीं चाहता। हमलाइयों में से एक-दो को मैं पहचान भी लूँ, तो उन्हें सजा कराने से मुझे क्या लाभ? फिर मैं तो उन्हें दोषी भी नहीं मानता हूँ। क्योंकि उन बेचारों को तो यह कहा गया कि मैंने हिन्दुस्तान में नेटाल के गोरों की भर-पेट और बढ़ा-चढ़ा कर निंदा की है। इस बात पर यदि वे विश्वास कर लें और बिगड़ पड़ें, तो इसमें आश्चर्य की कौन बात है? कुसूर तो ऊपर के लोगों का, और मुझे कहने दें तो, आपका माना जा सकता है। आप लोगों को ठीक सलाह दे सकते थे। पर आपने रूटर के तार पर विश्वास किया और कल्पना कर ली कि मैंने सचमुच अत्युक्ति से काम

लिया था। मैं किसी पर मुक़दमा चलाना नहीं चाहता। जब असली और सच्ची बात लोगों पर प्रकट हो जायगी और लोग जान जायँगे तब अपने आप पछतावेंगे।'

'तो आप मुझे यह बात लिख कर दे देंगे? मुझे मि० चेम्बर-लेन को इस आशय का तार देना पड़ेगा। मैं नहीं चाहता कि आप जल्दी में कोई बात लिखदें। मि० लाटन से तथा अपने दूसरे मित्रों से सलाह करके जो उचित मालूम हो वही करें। हाँ, यह बात मैं मानता हूँ कि यदि आप हमलाइयों पर मामला न चलावेंगे तो सब बातों को ठण्डा करने में मुझे बहुत मदद मिलेगी और आपकी प्रतिष्ठा तो बहुत ही बढ़ जायगी।'

मैंने उत्तर दिया—'इस सम्बन्ध में मेरे विचार निश्चित हो चुके हैं। यह तय है कि मैं किसी पर मुक़दमा चलाना नहीं चाहता। इसलिए मैं यहीं का यहीं आपको लिखे देता हूँ।'

यह कहकर मैंने वह आवश्यक पत्र लिख दिया।

(४)

शान्ति

हमले के दो-एक दिन बाद जब मैं मि० एस्कंब से मिला तब मैं पुलिस थाने में ही था। मेरे साथ मेरी रक्षा के लिए एक-दो सिपाही रहते थे। पर वास्तव में देखा जाय तो जब मैं मि० एस्कंब के पास ले जाया गया था, तब इस तरह रक्षा करने की जरूरत ही नहीं रह गई थी।

जिस दिन मैं जहाज़ से उतरा उसी दिन, अर्थात् पीला झंडा उतरते ही, तुरन्त 'नेटाल एडवरटाइज़र' का प्रतिनिधि मुझसे आकर मिला था। उसने कितनी ही बातें पूछी थीं और उसके प्रश्नों के उत्तर में मैंने एक-एक बात का पूरा-पूरा जवाब दिया था। सर फ़िरोज़शाह की नेक सलाह के अनुसार उस समय मैंने भारतवर्ष में एक भी भाषण अ-लिखित नहीं दिया था। अपने इन तमाम लेखों और भाषणों का संग्रह मेरे पास था ही। वे सब मैंने उसे दे दिये, और यह साबित कर दिया कि भारत में मैंने ऐसी एक भी बात न कही थी, जो उससे तेज़ शब्दों में दक्षिण आफ्रिका में न कही थी। मैंने यह भी स्पष्ट कर दिया था कि 'कुरलैंड' तथा

'नादरी' के मुसाफिरों को लाने में मेरा हाथ बिलकुल नहीं है। उनमें से बहुतेरे तो नेटाल के ही पुराने बाशिन्दे थे, और शेष नेटाल जाने वाले नहीं, बल्कि ट्रान्सवाल जाने वाले थे। उस समय नेटाल में रोजगार मंदा था। ट्रान्सवाल में काम-धन्धा खूब चलता था, और आमदनी भी अच्छी होती थी। इसलिए अधिकांश हिन्दुस्तानी वहीं जाना पसन्द करते थे।

इस स्पष्टीकरण का तथा हमलाइयों पर मुक़दमा न चलाने का प्रभाव इतना ज़बरदस्त हुआ, कि गोरों को शर्मिन्दा होना पड़ा। अखबारों ने मुझे निर्दोष बताया और हुल्लड़ करने वालों को बुरा-भला कहा। इस तरह अन्त को जाकर मुझे इस घटना से लाभ ही हुआ। और जो मेरा लाभ था वह कार्य का ही लाभ था। इससे हिन्दुस्तानी लोगों की प्रतिष्ठा बढ़ी, और मेरा रास्ता अधिक सुगम हो गया।

तीन या चार दिन में मैं घर गया और थोड़े ही दिनों में मैं अपना काम-काज देखने-भालने लगा। इस घटना के कारण मेरी वकालत भी चमक उठी।

परन्तु इस तरह एक ओर हिन्दुस्तानियों की प्रतिष्ठा बढ़ी, तो इसके साथ ही दूसरी ओर उनके प्रति द्वेष भी बढ़ा। गोरों को यह निश्चय हो गया कि इनमें दृढ़ता के साथ लड़ने का सामर्थ्य है और इस कारण उनका भय बढ़ गया। नेटाल की धारा-सभा में दो बिल पेश हुए, जिनसे हिन्दुस्तानियों के कष्ट और बढ़ जाने वाले थे। एक से हिन्दुस्तानी व्यापारियों के धन्धे को हानि पहुँचती थी और दूसरे से हिन्दुस्तानियों के जाने-आने में भारी रुकावट होती थी। सुदैव से मताधिकार की लड़ाई के समय यह

फ़ैसला हो गया था कि हिन्दुस्तानियों के खिलाफ़, उनके हिन्दुस्तानी होने की हैसियत से, कोई क़ानून नहीं बनाया जा सकता। इसका अर्थ यह हुआ कि क़ानून में जाति-भेद और रंग भेद को स्थान न मिलना चाहिए। इस कारण पूर्वोक्त दोनों बिलों की भाषा तो ऐसी रक्खी गई, जिससे वे सब लोगों पर घटते हुए दिखाई दें; पर उनका असली हेतु था हिन्दुस्तानियों के हक़ों को कम कर देना।

इन बिलों ने मेरा काम बहुत बढ़ा दिया था और हिन्दुस्तानियों में जागृति भी बहुत फैला दी था। इन बिलों की बारीकियाँ इस तरह लोगों को समझा दी गई थीं कि कोई भी भारतवासी उनसे अजान न रहने पावे और उसके अनुवाद भी प्रकाशित किये गये। झगड़ा अन्त को विलायत तक पहुँचा। परन्तु बिल नामन्जूर न हुए।

अब मेरा बहुतेरा समय सार्वजनिक कामों में ही जाने लगा। मैं लिख चुका हूँ कि मनसुखलाल नाज़र नेटाल में थे। वे मेरे साथ हुए। जबसे वे सार्वजनिक कामों में अधिक योग देने लगे तबसे मेरा बोझ कुछ हलका हुआ।

मेरी ग़ैरहाज़री में आदमजी मियाखाँन ने मन्त्री पद का काम सुचारु-रूप से किया। उनके समय में सभासदों की संख्या भी बढ़ी और लगभग एक हज़ार पौण्ड स्थानिक कांग्रेस के कोष में बढ़े। हम मुसाफ़िरों पर हुए उस हमले के बदौलत तथा पूर्वोक्त बिलों के विरोध के फल-स्वरूप जो जागृति हुई उसे मैंने अधिक से अधिक फैलाने का उद्योग किया और अब कोष में लगभग ५००० पौंड जमा हो गये। मुझे यह लोभ लग रहा था कि यदि कांग्रेस का कोष स्थायी हो जाय और ज़मीन लेली जाय तो उसके

किराये से कांग्रेस आर्थिक दृष्टि से निश्चिन्त हो जाय। सार्वजनिक संस्थाओं का यह मुझे पहला अनुभव था। मैंने अपना विचार अपने साथियों के सामने रक्खा। उन्होंने उसका स्वागत किया। मकान खरीदे गये और वे किराये पर उठाये गये। उनके किराये से कांग्रेस का मासिक खर्च बड़े मज़े में चलने लगा। सम्पत्ति का अच्छा ट्रस्ट बनाया गया। यह जायदाद आज भी मौजूद है। परन्तु वह आपस के कलह का मूल हो गई है और उसका किराया आज अदालत में जमा हो रहा है।

यह दुःखद बात तो मेरे दक्षिण आफ्रिका छोड़ने के बाद हुई है; परन्तु सार्वजनिक संस्थाओं के लिए स्थायी कोष रखने के संबंध में मेरे विचार दक्षिण आफ्रिका में ही बदल गये थे। कितनी सार्वजनिक संस्थाओं को जन्म देने तथा उनका संचालन करने की ज़िम्मेवारी रह चुकने के कारण मेरा यह दृढ़ निर्णय हुआ है कि किसी भी सार्वजनिक संस्था को स्थायी कोष पर निर्वाह करने का प्रयत्न न करना चाहिए। क्योंकि इसमें नैतिक अधोगति का बीज समाया रहता है।

सार्वजनिक संस्था का अर्थ है लोगों की मंजूरी और लोगों के धन से चलने वाली संस्था। जब लोगों की मदद मिलना बंद हो जाय तब उसे जीवित रहने का अधिकार नहीं। स्थायी सम्पत्ति पर चलने वाली संस्था लोकमत से स्वतंत्र होती हुई देखी जाती है और कितनी ही बार तो लोकमत के विपरीत भी आचरण करती है। इसका अनुभव भारतवर्ष में हमें क़दम-क़दम पर होता है। कितनी ही धार्मिक मानी जाने वाली संस्थाओं के हिसाब-किताब का कोई ठिकाना नहीं है। उनके प्रबंधक ही उनके मालिक

बन बैठे हैं। और ऐसे बन गये हैं, मानों वे किसी के प्रति जवाब-देह ही नहीं हैं। क़ुदरत जिस प्रकार नित्य पैदा करती और नित्य खाती है उसी प्रकार सार्वजनिक संस्थाओं का जीवन होना चाहिए। जिस संस्था की सहायता करने के लिए लोग तैयार न हों उसे सार्वजनिक संस्था की हैसियत से क़ायम रहने का अधिकार नहीं। वार्षिक चन्दा संस्था की लोकप्रियता और उसके संचालकों की प्रामाणिकता की कसौटी है; और, मेरा यह मत है कि प्रत्येक संस्था को चाहिए कि वह अपने को इस कसौटी पर कसे।

दक्षिण आफ्रिका के सत्याग्रह के समय मेरे ये विचार दृढ़ हुए। छः साल तक यह भारी लड़ाई बिना स्थायी चन्दे के चली, हालाँ कि उसके लिए लाखों रुपयों की आवश्यकता थी। ऐसा समय मुझे याद है कि जब मैं यह नहीं जानता था कि कल का खर्च कहाँ से आवेगा। परन्तु ये बातें आगे प्रसंगानुसार आने ही वाली हैं, इसलिए यहाँ इनका ज़िक्र न करूँगा।

(५)

बाल-शिक्षण

जनवरी १८८७ में मैं जब डरबन उतरा तब मेरे साथ तीन बालक थे ! एक मेरा १० साल का भानजा, दूसरे मेरे दो लड़के—एक नौ साल का और दूसरा पाँच साल का, अब सवाल यह पेश हुआ कि इनकी पढ़ाई-लिखाई का क्या प्रबन्ध करें ?

गोरों की पाठशालाओं में मैं अपने बच्चों को भेज सकता था; पर वह उनकी महरबानी से और बतौर अपवाद के। दूसरे हिन्दुस्तानियों के लड़के उनमें न पढ़ सकते थे। हिन्दुस्तानी बच्चों को पढ़ाने के लिए ईसाई मिशन के मदरसे थे। उनमें अपने बच्चों को पढ़ाने के लिए मैं तैयार न था। वहाँ की शिक्षा-दीक्षा मुझे पसंद न थी। और गुजराती के द्वारा भला वहाँ पढ़ाई कैसे हो सकती थी ? या तो अंग्रेजी द्वारा हो सकती थी, या बहुत प्रयास करने पर टूटी-फूटी तामिल या हिन्दी के द्वारा। इन तथा दूसरी त्रुटियों को दर-गुज़र करना मेरे लिए मुश्किल था।

मैं खुद बच्चों को पढ़ाने की थोड़ी-बहुत कोशिश करता। परन्तु

पढ़ाई नियमित-रूप से न चलती । इधर गुजराती शिक्षक भी मैं अपने अनुकूल न खोज सका ।

मैं सोच में पड़ा । मैंने एक ऐसे अंग्रेज़ी शिक्षक के लिए विज्ञापन दिया, जो मेरे विचारों के अनुसार बालकों को शिक्षा दे सके। सोचा कि इस तरह जो शिक्षक मिल जायगा। कुछ तो उससे थोड़ी नियमित पढ़ाई होगी और कुछ मैं खुद जिस तरह बन पड़ेगा काम चलाऊँगा । ७ पौंड वेतन पर एक अंग्रेज़ महिला को रक्खा और किसी तरह काम आगे चलाया ।

मैं बालकों से गुजराती में ही बात-चीत करता । इससे उन्हें कुछ गुजराती का ज्ञान हो जाता था । उन्हें देश भेज देने के लिए मैं तैयार न था । उस समय भी मेरा यह विचार था कि छोटे बच्चों को माँ-बाप से दूर न रखना चाहिए । सुव्यवस्थित घर में बालक जो शिक्षा अपने आप पा लेते हैं वह छात्रालयों में नहीं पा सकते । अतएव अधिकांश में वे मेरे ही पास रहे । हाँ, भानजे और बड़े लड़के को मैंने कुछ महीनों के लिए देश के जुदा जुदा छात्रालयों में भेज दिया था; पर शीघ्र ही वापस बुला लिया । बाद को मेरा बड़ा लड़का, वयस्क हो जाने पर, अपनी इच्छा से अहमदाबाद के हाईस्कूल में पढ़ने के लिए दक्षिण आफ्रिका से चला आया । भानजे के बारे में तो मेरा खयाल है कि जो शिक्षण मैं उसे दे रहा था. उससे उसे संतोष था । वह कुछ दिन बीमार रह कर भर-जवानी में इस लोक को छोड़ गया । शेष तीन लड़के कभी किसी पाठशाला में पढ़ने न गये । सिर्फ सत्याग्रह के सिलसिले में स्थापित मेरी पाठशाला में वे कुछ नियमित रूप से पढ़े थे ।

मेरे ये प्रयोग अपूर्ण थे। जितना मैं चाहता था उतना समय बालकों को न दे सकता था। इस तथा अन्य अनिवार्य अड़चनों के कारण मैं जैसा चाहता था वैसा अक्षर-ज्ञान उन्हें न दे सका। मेरे तमाम लड़कों को, थोड़ी-मात्रा में, यह शिकायत मुझसे रहा करती है। क्योंकि जब-जब वे 'बी० ए०' 'एम० ए०' अथवा 'मैट्रिक्युलेट' के भी समागम में आते हैं, तब-तब वे अपने अन्दर स्कूल में न पढ़ने की त्रुटि को अनुभव करते हैं।

इतना होते हुए भी मेरा अपना यह मत है कि जो अनुभव-ज्ञान उन्हें मिला है, माता-पिता का जो सहवास वे प्राप्त कर सके हैं, स्वतन्त्रता का जो पदार्थ-पाठ वे सीख पाये हैं,—यह सब वे न प्राप्त कर सकते, यदि मैंने उनकी रुचि के अनुसार स्कूल में उन्हें भेजा होता। उनके सम्बन्ध में जितना निश्चिन्त मैं आज हूँ उतना न हुआ होता, और जो सादगी और सेवा-भाव आज उनके अन्दर दिखाई देता है उसे वे न सीख पाते, यदि मुझसे अलग रह कर विलायत में अथवा दक्षिण आफ्रिका में कृत्रिम शिक्षा पाये होते। बल्कि उनकी कृत्रिम रहन सहन शायद मेरे देश-कार्य में भी बाधक हो जाती।

इस कारण, यद्यपि मैं जितना चाहता था उतना अक्षर-ज्ञान उन्हें न दे सका, तथापि जब मैं अपने पिछले वर्षों का विचार करता हूँ तो मुझे यह नहीं भासित होता कि मैंने उनके प्रति अपने धर्म का यथाशक्ति पालन नहीं किया, और न मुझे इस बात पर पश्चात्ताप ही होता है। बल्कि इसके विपरीत जब मैं अपने बड़े लड़के के विषय में दुःखद परिणाम देखता हूँ तो मुझे बार-बार यह मालूम होता है कि वह मेरे अधकचरे पूर्व-काल की प्रतिध्वनि

है। वह मेरा एक तरह से मूर्च्छा-काल, वैभव-काल था और उस समय उसकी उम्र इतनी थी कि उसे उसका स्मरण रह सकता था। अब वह कैसे मानेगा कि वह मेरा मूर्च्छा-काल था? वह यह क्यों न मानेगा कि वह तो मेरा ज्ञान-काल था और बाद के ये परिवर्तन अनुचित और मोह-जात हैं? वह क्यों न माने कि उस समय मैं जगत् के राजमार्ग पर चल रहा था और इसलिए सुरक्षित था, और उसके बाद किये परिवर्तन मेरे सूक्ष्म अभिमान और अज्ञान के चिन्ह हैं? यदि मेरे पुत्र बैरिस्टर इत्यादि पदवी पाये होते तो क्या बुरा था? मुझे उनके पंख काटने का क्या अधिकार था? मैंने उन्हें क्यों न ऐसी स्थिति में रक्खा, जिससे वे अपनी रुचि के अनुसार जीवन-मार्ग पसंद करते? ऐसी दलीलें मेरे कितने ही मित्रों ने मेरे सामने पेश की हैं।

पर मुझे इनमें ज़ोर नहीं मालूम देता। अनेक विद्यार्थियों से मेरा साबका पड़ा है। दूसरे बालकों पर दूसरे प्रयोग भी मैंने किये हैं अथवा करने में सहायक हुआ हूँ। उनके परिणाम भी मैंने देखे हैं। वे बालक और मेरे लड़के आज एक उम्र के हैं। पर मैं नहीं मानता कि वे मेरे लड़कों से मनुष्यत्व में बढ़े-चढ़े हैं अथवा मेरे लड़के उनसे बहुत-कुछ सीख सकते हैं।

फिर भी मेरे प्रयोग का अन्तिम परिणाम तो भविष्य ही बता सकता है। इस विषय की चर्चा यहाँ करने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य-जाति की उत्क्रान्ति का अध्ययन करने वाला मनुष्य इस बात का कुछ-कुछ अन्दाज कर सके कि गृह-शिक्षा और स्कूल-शिक्षा के भेद का और अपने जीवन में किये माता पिता के परिवर्तनों का क्या असर बच्चों पर होता है।

इसके अलावा इस प्रकरण का यह भी एक तात्पर्य है कि सत्य का पुजारी देख सके कि सत्य की आराधना उसे किस हद तक ले जा सकती है और स्वतन्त्रतादेवी का उपासक यह जान सके कि यह देवी कितना बलिदान माँगती है। हाँ, बालकों को अपने साथ रखते हुए भी मैं उन्हें अक्षर-ज्ञान दिला सकता था, यदि मैंने आत्म-सम्मान छोड़ दिया होता, यदि मैंने इस विचार को, कि जो शिक्षा दूसरे हिन्दुस्तानी बालकों को नहीं मिल सकती वह मुझे अपने बच्चों को दिलाने की इच्छा न करनी चाहिए, अपने हृदय में स्थान न दिया होता। पर उस अवस्था में वे स्वतंत्रता और आत्म-सम्मान का वह पदार्थ-पाठ न सीख पाते, जो आज सीख सके हैं। और जहाँ स्वतंत्रता और अक्षर-ज्ञान इनमें में किसी एक को पसन्द करने का सवाल हो, वहाँ कौन कह सकता है कि स्वतंत्रता अक्षर-ज्ञान से हजार गुनी अच्छी नहीं है?

१९२० में मैंने जिन नवयुवकों को स्वतंत्रता-घातक स्कूलों और कालेजों को छोड़ देने का निमन्त्रण दिया और जिनसे मैंने कहा कि स्वतंत्रता के लिए निरक्षर रहकर सड़कों पर गिट्टी फोड़ना बेहतर है, बनिस्बत इसके कि गुलामी में रहकर अक्षर-ज्ञान प्राप्त करें, वे शायद अब मेरे इस कथन का मूल समझ सकेंगे।

(६)

सेवा-भाव

मेरा काम यद्यपि ठीक चल रहा था, फिर भी मुझे उससे सन्तोष न था। मन में ऐसा मन्थन चलता ही रहता था कि जीवन में अधिक सादगी आनी चाहिए, और कुछ-न-कुछ शारीरिक सेवा-कार्य होना चाहिए।

संयोग से एक दिन एक अपंग कोढ़ी घर आ पहुँचा। पहले तो कुछ खाने को देकर हटा देने को जी चाहा। पर बाद को मैंने उसे एक कमरे में रक्खा, उसके जख्मों को धोया और उसकी शुश्रूषा की।

किन्तु यह कितनों दिनों तक चल सकता था? सदा के लिए उसे घर में रखने योग्य न सुविधा थी, न हिम्मत। अतः मैंने उसे गिरमिटियों के सरकारी अस्पताल में भेज दिया।

पर इससे मुझे तृप्ति न हुई। मन में यह हुआ करता कि यदि ऐसा कोई शुश्रूषा का काम सदा मिलता रहे तो क्या अच्छा हो! डा० बूथ सेंट एडम्स मिशन के अधिकारी थे। जो कोई आता उसे वे हमेशा मुफ्त दवा देते थे। बड़े भले आदमी थे। उनका हृदय स्नेहपूर्ण था। उनकी देख-रेख में पारसी रुस्तमजी

के दान से एक छोटा-सा अस्पताल खोला गया था। इससे नर्स के तौर पर काम करने की मुझे प्रबल इच्छा हुई। एक से लेकर दो घंटे तक उसमें दवा देने का काम रहता था। दवा बनाने वाले किसी अवैतनिक वा स्वयंसेवक की वहाँ जरूरत थी। मैंने इतना समय अपने काम में से निकालकर इस काम को करने का निश्चय किया। वकालत-सम्बन्धी मेरा काम तो इतना ही था—दफ्तर में बैठे-बैठे सलाह देना, दस्तावेज़ों के मसविदे बनाना और झगड़े सुलझाना। मजिस्ट्रेट के इजलास में थोड़े-बहुत मुकदमे रहते। उनमें से अधिकांश तो अविवादास्पद होते थे। जब ऐसे मुकदमे होते तब मि० खान उनकी पैरवी कर देते। वे मेरे बाद आये थे और मेरे साथ ही रहते थे। उनके इस सहयोग के कारण मैं इस छोटे से अस्पताल में काम करने लगा।

रोज़ सुबह वहाँ जाना पड़ता था। आने-जाने और वहाँ काम करने में कोई दो घण्टे रोज़ लग जाते थे। इस काम से मेरे मन को शांति मिली। रोगी से हाल-चाल पूछकर डाक्टर को समझाना और डाक्टर जो दवा बतावे वह तैयार करके दे देना—यह मेरा काम था। इस कार्य से मैं दुःखी हिन्दुस्तानियों के प्रगाढ़ सम्बन्ध में आने लगा। उनमें अधिक भाग तामिल और तेलगू अथवा हिन्दुस्तानी गिरमिटियों का था।

यह अनुभव मुझे भविष्य में बड़ा उपयोगी साबित हुआ। बोअर-युद्ध के समय घायलों की शुश्रूषा में तथा दूसरे रोगियों की सेवा-टहल में मुझे उससे बड़ी सहायता मिली। अस्तु।

इधर बालकों की परवरिश का प्रश्न तो मेरे सामने था ही। दक्षिण आफ्रिका में मुझे दो लड़के और हुए। उनका लालन-

पालन करने की समस्या को हल करने में मुझे इस काम से अच्छी सहायता मिली। मेरा स्वतंत्र स्वभाव मुझे बहुत तंग करता था और अब भी करता है। हम दम्पती ने निश्चय किया कि प्रसव-कार्य शास्त्रीय पद्धति के अनुसार ही होना चाहिए। इसलिए यद्यपि डाक्टर और नर्स का तो प्रबंध था ही, फिर भी मेरे मन में यह विचार आया कि यदि डाक्टर समय पर न आ पावे और दाई कहीं चली जाय तो मेरा क्या हाल होगा? दाई तो हिन्दुस्तानी ही बुलाई जाने वाली थी। शिक्षिता दाई हिन्दुस्तान में ही मुश्किल से मिलती है, तो फिर दक्षिण आफ्रिका की तो बात ही क्या? इसलिए मैंने बाल-पालन का अध्ययन किया। डा० त्रिभुवनदास लिखित "माने शिखामण" नामक पुस्तक पढ़ी। उसमें कुछ घटा-बढ़ाकर अंतिम दोनों बालकों का लालन-पालन प्रायः मैंने खुद किया। हर बार दाई की सहायता तो ली, पर दो मास से अधिक नहीं। सो भी प्रधानतः धर्मपत्नी की सेवा के लिए। बच्चों को नहलाने-धुलाने का काम शुरूआत में मैं ही करता था।

पर अन्तिम बालक के जन्म के समय मेरी पूरी-पूरी आजमाइश हो गई। प्रसव वेदना एकाएक शुरू हुई। डाक्टर मौजूद नहीं था। मैं दाई को बुलाने वाला था। पर वह यदि नज़दीक होती भी तो प्रसव न करा पाती। अतएव प्रसव कालीन सारा काम खुद मुझे करना पड़ा। सौभाग्य से मैंने यह विषय 'माने शिखामण' में अच्छी तरह पढ़ लिया था। इससे घबराया नहीं।

मैंने देखा कि माता-पिता यदि चाहते हों कि उन बच्चों की परवरिश अच्छी तरह हो तो दोनों को बाल-पालन आदि का

मामूली ज्ञान अवश्य प्राप्त कर लेना चाहिए। इसके संबंध में जितनी चिंता मैंने रक्खी है उसका लाभ मुझे कदम-कदम पर दिखाई दिया है। मेरे लड़कों की तंदुरुस्ती जो आज आम तौर पर अच्छी है वह अच्छी नहीं रही होती, यदि मैंने बालकों के लालन-पालन का आवश्यक ज्ञान न प्राप्त किया होता और उसका पालन न किया होता। हम लोगों में यह एक वहम प्रचलित है कि पहले पाँच साल तक बच्चे को शिक्षा देने की जरूरत नहीं है। परन्तु सच्ची बात यह है कि बालक प्रथम पाँच वर्षों में जितनी बातें सीखता है उतनी बाद को नहीं। मैं अनुभव से यह कह सकता हूँ कि बालक की शिक्षा की शुरूआत तो माता के उदर से ही शुरू हो जाती है। गर्भाधान के समय की माता-पिता की शारिरिक एवं मानसिक स्थिति का प्रभाव बच्चे पर अवश्य पड़ता है। माता की गर्भ-कालीन प्रकृति, माता के आहार-विहार के अच्छे-बुरे फल को विरासत में पाकर बच्चा जन्म पाता है। जन्म के बाद वह माता-पिता का अनुकरण करने लगता है। वह खुद तो असहाय होता है, इसलिए उसके विकास का दारोमदार माता-पिता पर ही रहता है।

जो समझदार दम्पती इतना विचार करेंगे वे तो कभी दम्पती-संग को विषय-वासना की पूर्ति का साधन न बनावेंगे। वे तो तभी संग करेंगे जब उन्हें संतति की इच्छा होगी। रति-सुख का स्वतंत्र अस्तित्व है, यह मानना मुझे तो घोर अज्ञान ही दिखाई देता है। जनन-क्रिया पर संसार के अस्तित्व का अवलंबन है। संसार ईश्वर की लीला-भूमि है, उसकी महिमा का प्रतिबिंब है। जो शख्स यह मानता है कि उसकी सुव्यवस्थित वृद्धि के

लिए ही रति-क्रिया निर्माण हुई है, वह विषय-वासना को भगीरथ प्रयत्न के द्वारा भी रोकेगा। और रति-भोग के फल-स्वरूप जो सन्तति उत्पन्न होगी उसकी शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक रक्षा करने के लिए आवश्यक ज्ञान प्राप्त करके अपनी प्रजा को उससे लाभान्वित करेगा।

१—ब्रह्मचर्य

अब ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में विचार करने का समय आया है। एक पत्नीव्रत ने तो विवाह के समय से ही मेरे हृदय में स्थान कर लिया था। पत्नी के प्रति मेरी वफ़ादारी मेरे सत्यव्रत का एक अंग था। परन्तु स्व-पत्नी के साथ भी ब्रह्मचर्य का पालन करने की आवश्यकता मुझे दक्षिण आफ्रिका में ही स्पष्ट रूप से दिखाई दी। किस प्रसंग से अथवा किस पुस्तक के प्रभाव से यह विचार मेरे मन में पैदा हुआ, यह इस समय ठीक-ठीक याद नहीं पड़ता। पर इतना स्मरण होता है कि इसमें रायचन्द भाई का प्रभाव प्रधान-रूप से काम कर रहा था।

उनके साथ हुआ एक संवाद मुझे याद है। एक बार मैं मि० ग्लैडस्टन के प्रति मिसेज ग्लैडस्टन के प्रेम की स्तुति कर रहा था। मैंने पढ़ा था कि हाउस आफ़ कामन्स की बैठक में भी मिसेज़ ग्लैडस्टन अपने पति को चाय बना कर पिलाती थीं। यह बात उस नियम-निष्ठ दम्पती के जीवन का एक नियम ही बन गया था। मैंने यह प्रसंग कविजी को पढ़ सुनाया और उसके सिलसिले में दम्पती-प्रेम की स्तुति की। रायचंद भाई

बोले—'इसमें आपको कौनसी बात महत्व की मालूम होती है—मिसेज ग्लैडस्टन का पत्नीपन या सेवा-भाव? यदि वे ग्लैडस्टन की बहन होतीं तो? अथवा उनकी वफ़ादार नौकर होतीं और फिर भी उसी प्रेम से चाय पिलातीं तो? ऐसी बहनों, ऐसी नौकरानियों के उदाहरण क्या आज हमें न मिलेंगे? और नारी-जाति के बदले ऐसा प्रेम यदि नर-जाति में देखा होता तो क्या आपको सानन्दाश्चर्य न होता? इस बात पर विचार कीजिएगा।'

रायचन्द भाई स्वयं विवाहित थे। उस समय तो उनकी यह बात मुझे कठोर मालूम हुई—ऐसा स्मरण होता है। परन्तु इन वचनों ने मुझे लोह-चुम्बक की तरह जकड़ लिया। पुरुष नौकर की ऐसी स्वामि-भक्ति की कीमत पत्नी की स्वामि-निष्ठा की कीमत से हज़ार गुना बढ़कर है। पति-पत्नी में एकता का अतएव प्रेम का होना कोई आश्चर्य की बात नहीं। पर स्वामी और सेवक में ऐसा प्रेम पैदा करना पड़ता है। अतएव दिन-दिन कविजी के वचन का बल मेरी नज़रों में बढ़ने लगा।

अब मन में यह विचार उठने लगा कि मुझे अपनी पत्नी के साथ कैसा सम्बन्ध रखना चाहिए? पत्नी को विषय-भोग का वाहन बनाना पत्नी के प्रति वफ़ादारी कैसे हो सकती है? जबतक मैं विषय-वासना के अधीन रहूँगा तबतक मेरी वफ़ादारी की कीमत प्राकृत मानी जायगी। मुझे यहाँ यह बात कह देनी चाहिए कि हमारे पारस्परिक संबंध में कभी पत्नी की तरफ से मुझ पर ज्यादती नहीं हुई। इस दृष्टि से मैं जिस दिन से चाहूँ, ब्रह्मचर्य का पालन मेरे लिए सुलभ था। पर मेरी अशक्ति अथवा आसक्ति ही मुझे रोक रही थी।

जागरूक होने के बाद भी दो बार तो मैं असफल ही रहा। प्रयत्न करता, पर गिरता। क्योंकि उसमें मुख्य हेतु उच्च न था। सिर्फ़ सन्तानोत्पत्ति को रोकना ही प्रधान लक्ष्य था। सन्तति-निग्रह के बाह्य उपकरणों के विषय में विलायत में मैंने थोड़ा-बहुत साहित्य पढ़ लिया था। डा० एलिंसन के इन उपायों का उल्लेख अन्नाहार-संबंधी प्रकरण में कर चुका हूँ। उसका कुछ क्षणिक असर मुझ पर हुआ भी था। परंतु मि० हिल्स के द्वारा किये गये उनके विरोध का तथा अंतःसाधन—संयम—के समर्थन का का बहुत असर मेरे दिल पर हुआ और अनुभव के द्वारा वह चिरस्थायी हो गया। इस कारण प्रजोत्पत्ति की अनावश्यकता जँचते ही संयम-पालन के लिए उद्योग आरम्भ हुआ।

संयम-पालन में कठिनाइयाँ बेहद थीं। हम चारपाइयाँ एक-दूसरे से दूर रखते। इधर मैं रात को थक कर सोने की कोशिश करने लगा। इन सारे प्रयत्नों का विशेष परिणाम उसी समय तो न दिखाई दिया। पर जब मैं भूतकाल की ओर आँख उठाकर देखता हूँ तो जान पड़ता है कि इन्हीं सारे प्रयत्नों ने मुझे यह अन्तिम बल प्रदान किया है।

अन्तिम निश्चय तो ठेठ १९०६ ई० में ही कर सका। उस समय सत्याग्रह का श्रीगणेश नहीं हुआ था। उसका स्वप्न तक में मुझे खयाल न था। बोअर-युद्ध के बाद नेटाल में 'जुलू' बलवा हुआ। उस समय मैं जोहान्सबर्ग में वकालत करता था। पर मन ने कहा कि इस समय बलवे में मुझे अपनी सेवा नेटाल-सरकार को अर्पित करनी चाहिए। तदनुसार मैंने अर्पित की भी और वह स्वीकृत भी हुई। उसका वर्णन अब आगे आवेगा।

परन्तु इस सेवा के फल-स्वरूप मेरे मन में तीव्र विचार उत्पन्न हुए। अपने स्वभाव के अनुसार अपने साथियों से मैंने उसकी चर्चा की। मुझे जँचा कि सन्तानोत्पत्ति और संतान-रक्षण लोक-सेवा के विरोधक हैं। इस बलवे के काम में शरीक होने के लिए मुझे अपना जोहान्सबर्ग वाला घर तितर-बितर करना पड़ा। टीपटाप के साथ सजाये घर को और जुटाई हुई विविध सामग्री को अभी एक महीना भी न हुआ होगा कि मैंने उसे छोड़ दिया। पत्नी और बच्चों को फ़ीनिक्स में रक्खा। और मैं घायलों की शुश्रूषा करने वालों की टुकड़ी बना कर चल निकला। इन कठिनाइयों का सामना करते हुए मैंने देखा कि यदि मुझे लोक-सेवा में ही लीन हो जाना है तो फिर पुत्रैषणा एवं धनैषणा को भी नमस्कार कर लेना चाहिए और वानप्रस्थ-धर्म का पालन करना चाहिए।

'बलवे' में मुझे डेढ़ महीने से ज्यादा न ठहरना पड़ा। परन्तु यह छः सप्ताह मेरे जीवन का अत्यन्त मूल्यवान् समय था। व्रत का महत्व मैं इस समय सबसे अधिक समझा। मैंने देखा कि व्रत बंधन नहीं, स्वतंत्रता का द्वार है। आज तक मेरे प्रयत्नों में आवश्यक सफलता नहीं मिलती थी; क्योंकि मुझमें निश्चय का अभाव था। मुझे अपनी शक्ति पर विश्वास न था, मुझे ईश्वर की कृपा पर अविश्वास था। और इसलिए मेरा मन अनेक तरंगों में और अनेक विकारों के अधीन रहता था। मैंने देखा कि व्रत-बंधन से पृथक् रह कर मनुष्य मोह में पड़ता है। व्रत से अपने को बाँधना मानों व्यभिचार से छूट कर एक पत्नी से संबंध रखना है। 'मेरा तो विश्वास प्रयत्न में है, व्रत के द्वारा मैं बँधना

नहीं चाहता' यह वचन निर्बलता-सूचक है और उसमें छुपे-छुपे भोग की इच्छा रहती है। जो चीज़ त्याज्य है, उसे सर्वथा छोड़ देने में कौनसी हानि हो सकती है ? जो साँप मुझे डसने वाला है उसको मैं निश्चय पूर्वक हटा देता हूँ, हटाने का केवल उद्योग ही नहीं करता। क्योंकि मैं जानता हूँ कि सहज प्रयत्न का परिणाम होने वाला है मृत्यु। प्रयत्न में साँप की विकरालता के स्पष्ट ज्ञान का अभाव है। उसी प्रकार जिस चीज़ के त्याग का हम प्रयत्न-मात्र करते हैं उसके त्याग की आवश्यकता हमें स्पष्ट रूप से दिखाई नहीं दी है, यही सिद्ध होता है। 'मेरे विचार यदि बाद को बदल जायँ तो ?' ऐसी शंका से बहुत बार हम व्रत लेते हुए डरते हैं। इस विचार में स्पष्ट दर्शन का अभाव है। इसीलिए निष्कुलानंद ने कहा है—

त्याग न टिके रे वैराग बिना।

जहाँ किसी चीज़ से पूर्ण वैराग्य हो गया है वहाँ उसके लिए व्रत लेना अपने-आप अनिवार्य हो जाता है।

(८)

२----ब्रह्मचर्य

चर्चा और दृढ़ विचार करने के बाद १९०३ में मैंने ब्रह्मचर्य-व्रत धारण किया। व्रत लेने तक मैंने धर्म-पत्नी से इस विषय में सलाह न ली थी। व्रत के समय अलबत्ते ली। उसने उसका कुछ भी विरोध न किया।

यह व्रत लेते हुए मुझे बड़ा कठिन मालूम हुआ। मेरी शक्ति कम थी। मुझे चिन्ता रहती कि विकारों को क्यों कर दबा सकूँगा ? और स्वपत्नी के साथ भी विकारों से अलिप्त रहना एक अजीब बात मालूम होती थी। फिर भी मैं देख रहा था कि वह मेरा स्पष्ट कर्त्तव्य है। मेरी नीयत साफ़ थी। इसलिए, यह सोच कर कि ईश्वर शक्ति और सहायता देगा, मैं कूद पड़ा।

आज २० साल के बाद उस व्रत को स्मरण करते हुए मुझे सानंदाश्चर्य होता है। संयम-पालन करने का भाव तो मेरे मन में १९०१ से ही प्रबल था, और उसका पालन मैं कर भी रहा था; परन्तु जो स्वतंत्रता और आनंद मैं अब पाने लगा वह, मुझे नहीं याद पड़ता, कि १९०६ के पहले मिला हो। क्योंकि उस

समय मैं वासनाबद्ध था— हर समय उसके अधीन हो जाने का भय रहता था। किन्तु अब वासना मुझपर सवारी करने में असमर्थ हो गई।

फिर मैं ब्रह्मचर्य की महिमा और अधिकाधिक समझने लगा। यह व्रत मैंने फिनिक्स में लिया था। घायलों की शुश्रूषा से छुट्टी पा कर में फिनिक्स गया था। वहाँ से मुझे तुरन्त जोहान्सबर्ग जाना था। वहाँ जाने के एक ही महीने के अन्दर सत्याग्रह-संग्राम की नींव पड़ी। मानों यह ब्रह्मचर्य-व्रत उसके लिए मुझे तैयार करने ही न आया हो! सत्याग्रह का खयाल मैंने पहले ही से कर रक्खा हो, सो बात नहीं। उसकी उत्पत्ति तो अनायास— अनिच्छा से—हुई। पर मैंने देखा कि उसके पहले मैंने जो-जो काम किये थे—जैसे फिनिक्स जाना, जोहान्सबर्ग का भारी घर-खर्च कम कर डालना और अन्त को ब्रह्मचर्य का व्रत लेना—वे मानों इसकी पेशबंदी थे।

ब्रह्मचर्य के सोलहों आने पालन का अर्थ है ब्रह्म-दर्शन। यह ज्ञान मुझे शास्त्रों के द्वारा न हुआ था। यह तो मेरे सामने धीरे-धीरे अनुभव-सिद्ध होता गया। उससे संबंध रखने वाले शास्त्र-वचन मैंने बाद को पढ़े। ब्रह्मचर्य्य में शरीर-रक्षण, बुद्धि-रक्षण और आत्मा का रक्षण, सब कुछ है, यह बात मैं व्रत के बाद दिनों-दिन अधिकाधिक अनुभव करने लगा। क्योंकि अब ब्रह्मचर्य्य को एक घोर तपश्चर्या रहने देने के बदले रसमय बनाना था; उसके बल पर काम चलाना था। इसलिए उसकी खूबियों के नित नये दर्शन मुझे होने लगे।

पर मैं जो इस तरह उससे रस की घूंटें पी रहा था, इससे

कोई यह न समझे कि मैं उसकी कठिनता को अनुभव न कर रहा था। आज यद्यपि मेरे छप्पन साल पूरे हो गये हैं, फिर भी उसकी कठिनता का अनुभव तो होता ही है। यह अधिकाधिक समझता जाता हूँ कि यह असिधारा-व्रत है। अब भी निरन्तर जागरूकता की आवश्यकता देखता हूँ।

ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिए पहले स्वादेन्द्रिय को वश में करना चाहिए। मैंने खुद अनुभव करके देखा है कि यदि स्वाद को जीत लें तो फिर ब्रह्मचर्य अत्यन्त सुगम हो जाता है। इस कारण इसके बाद मेरे भोजन-प्रयोग केवल अन्नाहार की की दृष्टि से नहीं, पर ब्रह्मचर्य की दृष्टि से होने लगे प्रयोग-द्वारा मैंने अनुभव किया कि भोजन कम, सादा, बिना मिर्च-मसाले का और स्वाभाविक रूप में करना चाहिए। मैंने खुद छः साल तक प्रयोग करके देखा है कि ब्रह्मचारी का आहार वन-पके फल हैं। जिन दिनों मैं हरे या सूखे वन-पके फलों पर रहता था, उन दिनों जिस निर्विकारता का अनुभव होता था वह खुराक में परिवर्तन करने के बाद न हुआ। फलाहार के दिनों में ब्रह्मचर्य सहल था; दूधाहार के कारण अब कष्टसाध्य हो गया है। फलाहार छोड़कर दूधाहार क्यों ग्रहण करना पड़ा, इसका जिक्र समय आने पर होगा ही। यहाँ तो इतना ही कहना काफ़ी है कि ब्रह्मचारी के लिए दूध का आहार विघ्नकारक है, इसमें मुझे लेशमात्र सन्देह नहीं। इससे कोई यह अर्थ न निकाल ले कि हर ब्रह्मचारी के लिए दूध छोड़ना जरूरी है। आहार का असर ब्रह्मचर्य पर क्या और कितना पड़ता है, इस सम्बन्ध में अभी अनेक प्रयोगों की आवश्यकता है। दूध

के सदृश शरीर के रगोरेशे को मजबूत बनाने वाला और उतना ही आसानी से हजम हो जाने वाला फलाहार अब तक मेरे हाथ नहीं लगा है। न कोई वैद्य, हकीम या डाक्टर ऐसे फल या अन्न बता सके हैं। इस कारण दूध को विकारोत्पादक जानते हुए भी अभी मैं उसके त्याग की सिफ़ारिश किसी से नहीं कर सकता।

बाहरी उपचारों में जिस प्रकार आहार के प्रकार का और परिमाण की मर्यादा आवश्यक है उसी प्रकार उपवास की बात भी समझनी चाहिए। इन्द्रियाँ ऐसी बलवान् हैं कि चारों ओर से ऊपर-नीचे दशों दिशाओं से जब उनपर घेरा डाला जाता है तभी वे कब्जे में रहती हैं। सब लोग इस बात को जानते हैं कि आहार के बिना वे अपना काम नहीं कर सकतीं। इसलिए इस बात में मुझे ज़रा भी शक नहीं है कि इन्द्रिय-दमन के हेतु से इच्छा-पूर्वक किये उपवासों से इन्द्रिय-दमन में बड़ी सहायता मिलती है। कितने ही लोग उपवास करते हुए भी सफल नहीं होते। वे यह मान लेते हैं कि केवल उपवास से ही सब काम हो जायगा। वे बाहरी उपवास-मात्र करते हैं। पर मन में छप्पन भोगों का ध्यान लगाते रहते हैं। उपवास के दिनों में इन विचारों का स्वाद चक्खा करते हैं कि उपवास पूरा होने पर क्या-क्या खायँगे; और फिर शिकायत करते हैं कि न तो स्वादेन्द्रिय का संयम हो पाया और न जननेन्द्रिय का। उपवास से वास्तविक लाभ वहीं होता है जहाँ मन भी देह-दमन में साथ देता है। इसका यह अर्थ हुआ कि मन में विषय-भोग के प्रति वैराग्य हो जाना चाहिए। विषय का मूल तो मन में है। उपवासादि साधनों से मिलने वाली सहायतायें बहुत होते हुए भी अपेक्षाकृत

थोड़ी ही होती हैं। यह कहा जा सकता है कि उपवास करते हुए भी मनुष्य विषयासक्त रहता है। परन्तु उपवास के बिना विषयासक्ति का समूल विनाश संभवनीय नहीं। इसलिए उपवास ब्रह्मचर्य-पालन का अनिवार्य अंग है।

ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले बहुतेरे विफल होते हैं; क्योंकि वे आहार विहार तथा दृष्टि इत्यादि में अ-ब्रह्मचारी की तरह बर्ताव करते हुए भी ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहते हैं। यह कोशिश वैसी ही है, जैसी कि गरमी के मौसम में सरदी के मौसम का अनुभव करने की कोशिश होती है। संयमी और स्यागी के जीवन में भेद अवश्य होना चाहिए। साम्य तो सिर्फ ऊपर ही ऊपर रहता है। यह भेद स्पष्ट रूप से दिखाई देना चाहिए। आँख से दोनों काम लेते हैं। परन्तु ब्रह्मचारी देव-दर्शन करता है; भोगी नाटक-सिनेमा में लीन रहता है। कान का उपयोग दोनों करते हैं। परन्तु एक ईश्वर-भजन सुनता है, और दूसरा विलासमय गीतों को सुनने में आनन्द मनाता है। जागरण दोनों करते हैं। परन्तु एक तो जागृत अवस्था में अपने हृदय-मन्दिर में विराजित राम की आराधना करता है; दूसरा नाच-रंग की धुन में सोने की याद भूल जाता है। भोजन दोनों करते हैं। परन्तु एक शरीर-रूपी तीर्थ-क्षेत्र की रक्षा-मात्र के लिए कोठे में अन्न डाल लेता है। और दूसरा स्वाद के लिए देह में अनेक चीजों को भर कर उसे दुर्गंधित बनाता है। इस प्रकार दोनों के आचार-विचार में भेद रहा ही करता है और यह अक्सर दिन-दिन बढ़ता है, घटता नहीं।

ब्रह्मचर्य का अर्थ है मन, वचन और काया से समस्त इन्द्रियों

का संयम । इस संयम के लिए पूर्वोक्त त्यागों की आवश्यकता है, यह बात मुझे दिन-दिन दिखाई देने लगी और आज भी दिखाई देती है। त्याग के क्षेत्र की सीमा ही नहीं, जैसे कि ब्रह्मचर्य की महिमा की भी सीमा नहीं है। ऐसा ब्रह्मचर्य अल्प प्रयत्न से साध्य नहीं होता। करोड़ों के लिए तो यह हमेशा एक आदर्श के रूप में ही रहेगा। क्योंकि प्रयत्नशील ब्रह्मचारी तो नित्य अपनी त्रुटियों का दर्शन करेगा, अपने हृदय के कोने-कुचरे में छिपे विकारों को पहचान लेगा और उन्हें निकाल बाहर करने का सतत उद्योग करेगा। जब तक अपने विचारों पर इतना कब्ज़ा न हो जाय कि अपनी इच्छा के बिना एक भी विचार न आने पावे, तब तक वह सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य नहीं। जितने भी विचार हैं, वे सब एक तरह के विकार हैं। उनको वश में करने के मानी हैं मन को वश में करना। और मन को वश में करना वायु को वश में करने से भी कठिन है। इतना होते हुए भी यदि आत्मा कोई चीज़ है तो फिर यह भी साध्य हो कर रहेगा। रास्ते में बड़ी कठिनाइयाँ आती हैं, इससे यह न मान लेना चाहिए कि वह असाध्य है। वह तो परम-अर्थ है। और परम-अर्थ के लिए परम-प्रयत्न की आवश्यकता हो तो इसमें कौन आश्चर्य की बात है?

परन्तु देश आने पर मैंने देखा कि ऐसा ब्रह्मचर्य महज़ प्रयत्न-साध्य नहीं है। कह सकते हैं कि तब तक मैं इस मूर्च्छा में था कि फलाहार से विकार समूल नष्ट हो जायँगे; और इसलिए अभिमान से मानता था कि अब मुझे कुछ करना बाक़ी नहीं रहा है।

परन्तु इस विचार के प्रकरण तक पहुँचने में अभी विलम्ब है। इस बीच इतना कह देना आवश्यक है कि ईश्वर-साक्षात्कार करने के लिए मैंने जिस ब्रह्मचर्य की व्याख्या की है उसका पालन जो करना चाहते हैं, वे यदि अपने प्रयत्न के साथ ही ईश्वर पर श्रद्धा रखने वाले होंगे तो उन्हें निराश होने का कोई कारण नहीं है।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥*

गीता; अ. २ श्लोक ५९।

इसलिए आत्मार्थी का अन्तिम साधन तो राम-नाम और राम-कृपा ही है। इस बात का अनुभव मैंने हिन्दुस्तान आने पर ही किया।

* निराहारी के विषय तो शान्त हो जाते हैं, परन्तु रसों का शमन नहीं होता। ईश्वर-दर्शन से रस भी शान्त हो जाते हैं।

(९)

सादगी

भोगों को भोगने का आरंभ तो मैंने किया, पर वह टिक न सका। टीपटाप की साधन-सामग्री मैंने जुटाई तो, परन्तु उसका मोह मुझे न हुआ था। इसलिए घर-गृहस्थी बनाते ही मैंने दूसरी ओर खर्च कम करने की शुरुआत की। धुलाई का खर्च भी ज्यादा मालूम हुआ। फिर धोबी नियमित रूप से कपड़े न लाता, इस कारण दो-तीन दर्जन कमीज़ और इतने ही कालर से भी मेरा काम न चलता। कालर रोज़ बदलता था; कमीज रोज़ नहीं तो तीसरे दिन ज़रूर बदलता। इस तरह दुहेरा खर्च लगता। यह मुझे व्यर्थ मालूम हुआ। इसलिए घर पर ही धोने की चीजें मँगाई। धुलाई-विद्या की पुस्तक पढ़ कर धोना सीख लिया और पत्नी को भी सिखा दिया। इससे काम का कुछ बोझ तो बढ़ा—पर एक नई चीज़ थी, इसलिए मनोविनोद भी होता।

पहले-पहल जो कालर मैंने धोया उसे मैं कभी न भूल सकूँगा। इसमें कलप ज्यादा था, और इस्त्री पूरी गरम न थी। फिर कालर के जल जाने के भय से इस्त्री ठीक-ठीक दबाई नहीं

गई थी। इस कारण कालर कड़ा तो हो गया; पर उसमें से कलप झिरता रहता था।

ऐसा ही कालर लगा कर मैं अदालत में गया और बैरिस्टरों के मज़ाक का साधन बन गया। परन्तु ऐसी हँसी-दिल्लगी को सहन करने की क्षमता मुझमें उस समय भी कम न थी।

'कालर हाथ से धोने का यह पहला प्रयोग है, इसलिए उसमें से कलप झिर रहा है, पर मेरा इससे कुछ हर्ज नहीं होता। फिर आप सब लोगों के इतने विनोद का कारण हुआ, यह विशेष बात है।' मैंने स्पष्टीकरण किया।

'पर धोबी क्या नहीं मिलते?' एक मित्र ने पूछा।

'यहाँ धोबी का खर्च मुझे नागवार हो रहा है। कालर की क़ीमत के बराबर धुलाई का खर्च—और फिर भी धोबी की गुलामी बरदाश्त करना पड़ती है, सो जुदो ही। इसके बनिस्बत तो मैं घर पर हाथ से धो लेना ही ज्यादा पसन्द करता हूँ।'

यह स्वावलम्बन की ख़ूबी मैं मित्रों को न समझा सका।

मुझे कहना चाहिए कि अन्त को मैंने अपने काम के लायक़ कपड़े धोने की कुशलता प्राप्त कर ली थी, और मुझे कहना चाहिए कि धोबी की धुलाई से घर की धुलाई किसी तरह घटिया न रहती थी। कालर का कड़ापन और चमक धोबी के धोये कालर से किसी तरह कम न थी। गोखले के पास स्व० महादेव गोविंद रानडे का प्रसाद-स्वरूप एक दुपट्टा था। गोखले उसे बड़े जतन से रखते और प्रसंग-विशेष पर ही उसे इस्तैमाल करते। जोहांस्बर्ग में उनके स्वागत के उपलक्ष्य में जो भोज हुआ था, वह अवसर बड़े महत्व का था। दक्षिण आफ्रिका में यह उनका

सबसे बड़ा भाषण था। इसलिए इस अवसर पर वे वह दुपट्टा डालना चाहते थे। उसमें सिलवटें पड़ गई थीं और इस्त्री करने की ज़रूरत थी। धोबी के यहाँ भेज कर तुरन्त इस्त्री करा लेना संभव न था। मैंने कहा—ज़रा मेरी विद्या को भी आज़मा लीजिए।

'तुम्हारी वकालत पर मैं विश्वास कर सकता हूँ, पर इस दुपट्टे पर तुम्हारी धुलाई-कला की आज़माइश न होने दूँगा। तुम कहीं इसे दाग़ लगा दो तो? जानते हो, इसका कितना मूल्य है?' यह कह कर उन्होंने अति उल्लास से प्रसादी की कथा मुझे कह सुनाई।

मैंने आजिज़ी के साथ दाग़ न पड़ने देने की ज़िम्मेवारी ली। फलतः मुझे इस्त्री करने की इजाज़त मिल गई। और बाद को अपनी कुशलता का प्रमाण-पत्र भी मुझे मिला। अब यदि दुनिया मुझे प्रमाण-पत्र न दे तो इससे क्या?

जिस तरह मैं धोबी की ग़ुलामी से छूटा, उसी तरह नाई की ग़ुलामी से भी छूटने का अवसर आ गया। हाथ से डाढ़ी बनाना तो विलायत जाने वाले सभी सीख लेते हैं; पर मुझे ख़याल नहीं कि बाल काटना भी कोई सीख लेते हों। प्रिटोरिया में एक बार मैं एक अंग्रेज नाई की दूकान पर गया। उसने मेरे बाल काटने से साफ़ इनकार कर दिया, और ऐसा करते हुए तिरस्कार प्रदर्शित किया सो जुदा ही। मुझे बड़ा दुःख हुआ। मैं सीधा बाज़ार में पहुँचा। बाल काटने की कैंची ख़रीदी और आईने के सामने खड़े रह कर बाल काट डाले। बाल ज्यों-त्यों- कटे तो; पर पीछे के बाल काटने में बड़ी दिक्क़त पेश आई। फिर भी जैसे चाहिए न कट पाये। यह देख कर अदालत में ख़ूब क़हक़हा मचा।

'तुम्हारे सिर पर छछूंदर तो नहीं फिर गई ?'

मैंने कहा—'नहीं, मेरे काले सिर को गोरा नाई कैसे छू सकता है ? इस कारण जैसे-तैसे हाथ-कटे बाल ही मुझे अधिक प्रिय हैं ।'

इस उत्तर से मित्रों को आश्चर्य हुआ। सच पूछिए तो उस नाई का कसूर न था। यदि वह श्यामवर्ण के लोगों के बाल काटने लगता तो उसकी रोजी चली जाती। हम भी तो कहाँ अछूतों के बाल उच्च वर्ण के नाइयों से कटवाने देते हैं ? इसका बदला मुझे दक्षिण आफ्रिका में एक बार नहीं बहुत बार मिला है। और मेरा यह खयाल बन रहा है कि यह हमारे ही दोष का फल है। इसलिए इस बात पर मुझे कभी रोष नहीं हुआ।

स्वावलंबन और सादगी के मेरे शौक़ ने आगे जाकर जो तीव्र स्वरूप ग्रहण किया, उसका वर्णन तो यथा-प्रसंग होगा; परन्तु उसका मूल पुराना था। उसके फलने-फूलने के लिए सिर्फ़ सिंचाई की आवश्यकता थी, और वह अवसर अनायास ही मिल गया था।

(१०)

बोअर-युद्ध

१८९७ से ९९ ई० तक के जीवन के दूसरे कई अनुभवों को छोड़ कर अब बोअर-युद्ध पर आता हूँ। जब यह युद्ध छिड़ा तब मेरे मनोभाव बिलकुल बोअरों के पक्ष में थे। पर मैं यह मानता था कि ऐसी बातों में व्यक्तिगत विचारों के अनुसार काम करने का अधिकार अभी मुझे प्राप्त नहीं हुआ है। इस सम्बन्ध में जो मन्थन मेरे हृदय में हुआ, उसका सूक्ष्म निरीक्षण मैंने दक्षिण आफ्रिका के सत्याग्रह के इतिहास में किया है, इसलिए यहाँ लिखने की आवश्यकता नहीं। जिनको जानने की इच्छा हो वे उस पुस्तक को पढ़ लें। यहाँ तो इतना ही कहना काफ़ी है कि ब्रिटिश राज्य के प्रति मेरी वफ़ादारी मुझे उस युद्ध में योग देने के लिए जबरदस्ती घसीट ले गई। मैंने सोचा कि जब मैं ब्रिटिश प्रजा की हैसियत से हकों का मतालबा कर रहा हूँ तो ब्रिटिश प्रजा की हैसियत से ब्रिटिश राज्य की रक्षा में सहायक होना मेरा धर्म है। ब्रिटिश साम्राज्य में हिन्दुस्तान की सब तरह उन्नति हो सकती है, यह उस समय मेरा मत था।

इसलिए जितने साथी मिले उनको लेकर, अनेक मुसीबतों का सामना करके, हमने घायलों की सेवा-शुश्रूषा करने वाली एक टुकड़ी तैयार की। अब तक अंग्रेजों की आम तौर पर यह धारणा थी कि यहाँ के हिंदुस्तानी जोखिम के कामों में नहीं पड़ते, स्वार्थ के अलावा उन्हें और कुछ नहीं सूझता। इसलिए कितने ही अंग्रेज मित्रों ने मुझे निराशाजनक उत्तर दिये। अलबत्ते डा० बूथ ने खूब प्रोत्साहन दिया। उन्होंने हमें घायल योद्धाओं की शुश्रूषा करने की शिक्षा दी। हमारी योग्यता के संबंध में मैंने डाक्टर के प्रमाण-पत्र प्राप्त कर लिये। मि० लाटन तथा स्वर्गीय मि० ऐस्कम्ब ने भी इस काम को पसन्द किया। अन्त को हमने सरकार से प्रार्थना की कि हमें लड़ाई में सेवा करने का अवसर दिया जाय। जवाब में सरकार ने हमें धन्यवाद दिया; किन्तु कहा कि आपकी सेवा की इस समय आवश्यकता नहीं है।

परन्तु मैं ऐसे 'ना' से खामोश होकर बैठ न गया। डा० बूथ की मदद ले कर उनके साथ मैं नेटाल के बिशप से मिला। हमारी टुकड़ी में बहुतेरे ईसाई हिन्दुस्थानी थे। बिशप को हमारी योजना बहुत पसन्द आई और उन्होंने सहायता देने का वचन दिया।

इस बीच घटना-चक्र अपना काम कर रहा था। बोअरों की तैयारी, दृढ़ता, वीरता इत्यादि अन्दाज से अधिक तेजस्वी साबित हुई, जिसके फलस्वरूप सरकार को बहुतेरे रंगरूटों की जरूरत हुई, और अन्त को हमारी प्रार्थना स्वीकृत हुई।

इस टुकड़ी में लगभग ११०० लोग थे। उनमें लगभग ४० मुखिया थे। कोई ३०० स्वतंत्र हिन्दुस्तानी भरती हुए थे; और

शेष गिरमिटिया थे डा० बूथ भी हमारे साथ थे टुकड़ी ने अपना काम अच्छी तरह किया। यद्यपि उसका कार्यक्षेत्र लड़ाई के मैदान के बाहर था और रेडक्रास * चिन्ह उनकी रक्षा के लिए लगा हुआ था, फिर भी आवश्यकता के समय प्रत्यक्ष युद्धक्षेत्र की हद के अन्दर भी काम करने का अवसर हमें मिला। ऐसी जोखिम में न पड़ने देने का इकरार सरकार ने अपनी इच्छा से हमारे साथ किया था; परन्तु स्पियांकोप की हार के बाद स्थिति बदली। इस कारण जनरल बुलर ने सन्देश भेजा कि यद्यपि आप जोखिम की जगह काम करने के लिए बँधे हुए नहीं हैं, फिर भी यदि आप खतरे का सामना करके घायल सिपाहियों को अथवा अफ़सरों को रणक्षेत्र से उठा कर डालियों में ले जाने के लिए तैयार हो जायँगे तो सरकार आपका उपकार मानेगी। इधर हम तो जोखिम उठाने के लिए तैयार ही थे। अतएव स्पियांकोप के युद्ध के बाद हम गोली-बारूद की हद के अन्दर भी काम करने लगे।

इन दिनों में सबको कई बार बीस-पचीस मील रोज मंज़िल तय करना पड़ती थी। एक बार तो घायलों को डोली में रखकर इतनी दूर चलना भी पड़ा था। जिन घायल योद्धाओं को हम उठाकर ले जाते थे उनमें जनरल वुडगेट इत्यादि भी थे।

छः सप्ताह के अन्त में हमारी टुकड़ी को रुख़सत दी गई।

---

* रेडक्रास का अर्थ है लाल स्वस्तिक। युद्ध में इस चिन्ह से अंकित पट्टे शुश्रूषा करने वालों के बायें हाथों में बँध रहते हैं और ऐसा नियम है कि शत्रु भी उनको नुकसान नहीं पहुँचा सकते। अधिक ब्योरे के लिए द० आफ्रिका सत्या० खण्ड १ प्र० ९ देखिए।

स्पियांकोप और वालक्रा ज की हार के बाद लेडीस्मिथ आदि-आदि स्थानों को बोअरों के घेरे से तेजी के साथ मुक्त करने का विचार ब्रिटिश सेनापति ने त्याग दिया और इंग्लैण्ड तथा हिन्दुस्तान से और सेना आने की राह देखने तथा धीरे धीरे काम करने का निश्चय कि ा था ।

हमारी इस छोटी-सी सेवा की उस समय बहुत स्तुति हुई । उससे हिन्दुस्तानियों की प्रतिष्ठा बढ़ी । 'आखिर हिन्दुस्तानी हैं तो साम्राज्य के वारिस ही ।' ऐसे गीत गाये गये । जनरल बुलर ने अपने खरीते में हमारी टुकड़ी के कार्य की प्रशंसा की । मुखियों को लड़ाई के तमगे भी मिले ।

इसके फलस्वरूप हिन्दुस्तानी अधिक संगठित हुए । मैं गिरमिटिया हिन्दुस्तानियों के अधिक सम्पर्क में आ सका । उनमें अधिक जागृति हुई और यह भावना अधिक दृढ़ हुई कि हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, मद्रासी, गुजराती, सिन्धी, सब हिंदुस्तानी हैं । सबने माना कि अब हिन्दुस्तानियों के दुःख अवश्य दूर हो जायँगे । गोरों के बर्ताव में भी उसके बाद साफ़-साफ़ फ़र्क़ नज़र आने लगा ।

लड़ाई में गोरों से जो संबंध बँधा, वह मीठा था । हज़ारों 'टामियों' के सहवास में हम लोग आये । वे हमारे साथ मित्र-भाव से व्यवहार करते और इस ख़याल से कि हम उनकी सेवा के लिए हैं, हमारे उपकार मानते ।

मनुष्य-स्वभाव दुःख के समय कैसा पसीज जाता है, इसकी एक मधुर स्मृति यहाँ दिये बिना नहीं रह सकता । हम लोग चीवली छावनी की ओर जा रहे थे । यह वही क्षेत्र था, जहाँ

लार्ड राबर्ट्स के पुत्र लेफ्टैनेंट राबर्ट्स को मर्मान्तक गोली लगी थी। लेफ्टैनेन्ट राबर्ट्स के शव को ले जाने का गौरव हमारी टुकड़ी को प्राप्त हुआ था। लौटते दिन धूप कड़ी थी। हम कूच कर रहे थे। सब प्यासे थे। पानी पीने के लिए रास्ते में एक छोटा-सा झरना पड़ा। सवाल उठा--पहले कौन पानी पिये ? मैंने सोचा था कि 'टामियों' के पी लेने के बाद हम पियेंगे। 'टामियों' ने हमें देख कर तुरंत कहा—पहले आप लोग पी लें। हमने कहा—नहीं, पहले आप पीवें। इस तरह बहुत देर तक हमारे और उनके बीच मधुर आग्रह की खींचातानी होती रही।

(११)

नगर-सुधार-अकाल-फ़ण्ड

समाज के एक भी अंग का ख़राब बना रहना मुझे हमेशा खलता रहा है। लोगों की बुराइयों को ढक कर उनका बचाव करना अथवा उन्हें दूर किये बिना अधिकार प्राप्त करना मुझे हमेशा अरुचिकर हुआ है। दक्षिण आफ्रिका-स्थित हिन्दुस्तानियों पर एक आक्षेप हुआ करता था। वह यह कि हिन्दुस्तानी अपने घर-बार साफ़-सुथरे नहीं रखते और बहुत मैले रहते हैं। बार-बार यह बात कही जाती थी। उसमें कुछ सचाई भी थी। मेरे वहाँ स्थिर होने के आरम्भ-काल ही में मैंने उसे दूर करने का विचार किया था। इस इलज़ाम को मिटाने के लिए शुरुआत में समाज के लब्ध-प्रतिष्ठ लोगों के घरों में सफ़ाई तो शुरू हो गई थी; परन्तु घर-घर जा कर प्रचार करने का काम तो तभी शुरू हो पाया, जब डरबन में प्लेग के प्रवेश और प्रकोप का भय उत्पन्न हुआ। इसमें म्युनिसिपैलिटी के अधिकारियों का भी भाग था और उनकी सम्मति भी थी। हमारी मदद से उनका काम आसान हो गया और हिन्दुस्तानियों को कम कष्ट और

असुविधा हुई। क्योंकि प्लेग इत्यादि का प्रकोप जब कभी होता है तब आम तौर पर अधिकारी लोग अधीर हो जाते हैं, और उसका उपाय करने में सीमा से आगे बढ़ जाते हैं, एवं जो लोग उनकी नजरों में अप्रिय होते हैं, उनपर इतना दबाव डाला जाता है कि वह असह्य हो जाता है। चूंकि लोगों ने खुद ही काफ़ी इलाज करने का आयोजन कर लिया था, इसलिए वे इस सख्ती और ज्यादती से बच गये।

इस संबंध में मुझे कितने ही कड़वे अनुभव भी हुए। मैंने देखा कि स्थानिक सरकार से अपने हक़ों का मतालबा करने में अपने लोगों से मैं जितनी सहायता ले सकता था, उतनी आसानी से मैं उनसे स्वयं अपने कर्त्तव्यों का पालन करने में न ले सका। कितनी ही जगह अपमान होता, कितनी ही जगह विनय-पूर्वक लापरवाही बताई जाती। गंदगी दूर करने का कष्ट उठाना एक आफ़त मालूम होती थी। और इसके लिए पैसा खर्च करना तो और भी मुश्किल पड़ता था। इससे मैं यह पाठ और अधिक अच्छी तरह सीखा कि यदि लोगों से कुछ भी काम कराना हो तो हमें धीरज रखना चाहिए। सुधार की गरज तो होती है खुद सुधारक को; जिस समाज में वह सुधार चाहता है, उससे तो उसे विरोध की, तिरस्कार की और जान की भी जोखिम की ही आशा रखनी चाहिए। सुधारक जिस बात को सुधार समझता है, समाज उसे 'कुधार' क्यों न माने? और यदि कुधार न भी माने तो उसकी तरफ से उदासीन क्यों न रहे?

इस आन्दोलन का परिणाम यह हुआ कि भारतीय समाज में घर-बार स्वच्छ रखने की आवश्यकता थोड़ी-बहुत मात्रा में

मान ली गई। राज्याधिकारियों के नजदीक मेरी साख बढ़ी। वे समझे कि मैं महज शिकायतें करने वाला अथवा हक़ माँगने वाला ही नहीं हूँ, बल्कि इन बातों में मैं जितना दृढ़ हूँ उतना ही उत्साही आन्तरिक सुधारों के लिए भी हूँ।

परन्तु समाज की मनोवृत्ति का विकास अभी एक और दिशा में होना बाक़ी था। यहाँ के भारतीयों को अभी प्रसंगोपात्त भारतवर्ष के प्रति अपने धर्म को समझना और उसका पालन करना बाकी था। भारतवर्ष तो कंगाल है। लोग धन कमाने के लिए विदेश जाते हैं। मैंने सोचा, उनकी कमाई का कुछ न कुछ अंश भारतवर्ष को आपत्ति के समय मिलना चाहिए। १८९७ ई० में अकाल पड़ा। १८९९ में एक और भारी अकाल हुआ। दोनों अकाल के समय दक्षिण आफ्रिका से खासी मदद गई। पहले अकाल के समय जितनी रकम एकत्र हो सकी थी उससे बहुत ज्यादा रकम दूसरे अकाल के समय गई थी। इसमें हमने अंग्रेजों से भी चन्दा माँगा था, और उनकी तरफ से अच्छी सहायता मिली थी। गिरमिटिया हिन्दुस्तानियों ने भी अपनी तरफ से चन्दा दिया था।

इस तरह इन दोनों अकाल के समय जो प्रथा पड़ गई वह अभी तक कायम है। और हम देखते हैं कि भारतवर्ष में सार्वजनिक संकट के समय दक्षिण आफ्रिका के हिन्दुस्तानी अच्छी रकमें भेजा करते हैं।

उस तरह दक्षिण आफ्रिका के भारतीयों की सेवा करते हुए मैं खुद बहुतेरी बातें एक के बाद एक अनायास सीख रहा था। सत्य एक विशाल वृक्ष है। उसकी ज्यों-ज्यों सेवा की जाती है

त्यों-त्यों उसमें अनेक फल आते हुए दिखाई देते हैं। उसका अंत ही नहीं होता। ज्यों-ज्यों हम गहरे पैठते हैं, त्यों-त्यों उसमें से रत्न निकालते हैं, सेवा के अवसर हाथ आते ही रहते हैं।

(१२)

देश-गमन

लड़ाई के काम से मुक्त होने के बाद मैंने सोचा कि अब मेरा काम दक्षिण आफ्रिका में नहीं, बल्कि देश में है। दक्षिण आफ्रिका में बैठे बैठे मैं कुछ-न-कुछ सेवा तो ज़रूर कर पाता था, परन्तु मैंने देखा कि यहाँ वहीं मेरा मुख्य काम धन कमाना ही न हो जाय।

देश से मित्र लोग भी देश लौट आने का आकर्षण कर रहे थे। मुझे भी जँचा कि देश जाने से मेरा अधिक उपयोग हो सकेगा। नेटाल में मि० खान और मनसुखलाल नाज़र थे ही।

मैंने साथियों से छुट्टी देने का अनुरोध किया। बड़ी मुश्किल से उन्होंने एक शर्त पर छुट्टी स्वीकार की। वह यह कि यदि एक साल के अन्दर लोगों को मेरी ज़रूरत मालूम हो तो मैं फिर दक्षिण आफ्रिका आजाऊँ। मुझे वह शर्त कठिन मालूम हुई, परन्तु मैं प्रेम-पाश में बँधा हुआ था।

काचे रे तांतणे मने हरजीए बांधी
जेम ताणे तेम तेमनी रे
मने लागी कटारी प्रेम नी। *

---

*प्रभुजी ने मुझे कच्चे सूत के प्रेम-धागे से बाँध लिया है, ज्यों-ज्यों वे उसे तानते हैं त्यों-त्यों मैं उनकी होती जाती हूँ।

मीराबाई की यह उपमा न्यूनाधिक अंश में मुझपर घटित होती थी। पंच भी परमेश्वर ही हैं। मित्रों की बात को मैं टाल नहीं सकता था। मैंने वचन देकर इजाजत ली।

इस समय मेरा निकट सम्बन्ध प्रायः नेटाल के ही साथ था। नेटाल के हिन्दुस्तानियों ने मुझे प्रेमामृत से नहला डाला। स्थान स्थान पर अभिनन्दनपत्र दिये गये, और हर जगह से कीमती चीजें नज़र की गईं।

१८९६ में जब मैं देश आया था, तब भी भेंटें मिली थीं; पर इस बार की भेंटों और सभाओं के दृश्यों से मैं घबराया। भेंट में सोने-चाँदी की चीज़ें तो थी हीं; पर हीरे की चीज़ें भी थीं।

इन सब चीजों को स्वीकार करने का मुझे क्या अधिकार हो सकता है? यदि मैं इन्हें मंजूर कर लूँ तो फिर अपने मन को यह कहकर कैसे मना सकता हूँ कि मैं पैसा लेकर लोगों की सेवा नहीं करता था। मेरे मवक्किलों की कुछ रक़मों को छोड़कर बाकी सब चीज़ें मेरी लोक-सेवा के ही उपलक्ष्य में दी गई थीं। पर मेरे मन में तो मवक्किल और दूसरे साथियों में कुछ भेद न था। मुख्य-मुख्य मवक्किल सब सार्वजनिक काम में भी सहायता देते थे।

फिर उन भेंटों में एक पचास गिनी का हार कस्तूरबाई के लिए था। मगर उसे जो चीज़ मिली वह भी थी तो मेरी ही सेवा के उपलक्ष्य में; अतएव उसे पृथक् नहीं मान सकते थे।

जिस शाम को इनमें से मुख्य-मुख्य भेंटें मिलीं, वह रात मैंने एक पागल की तरह जागकर काटी। कमरे में यहाँ से वहाँ

टहलता रहा। परन्तु गुत्थी किसी तरह सुलझती न थी। सैकड़ों रुपयों की भेंटें न लेना भारी पड़ रहा था; पर ले लेना उससे भी भारी मालूम होता था।

मैं चाहे इन भेंटों को पचा भी सकता; पर मेरे बालक और पत्नी? उन्हें तालीम तो सेवा की मिल रही थी। सेवा का दाम नहीं लिया जा सकता, यह हमेशा समझाया जाता था। घर में क़ीमती जेवर आदि मैं नहीं रखता था। सादगी बढ़ती जाती थी। ऐसी अवस्था में सोने की घड़ियाँ कौन रक्खेगा? सोने की कंठी और हीरे की अंगूठियाँ कौन पहनेगा? गहनों का मोह छोड़ने के लिए मैं उस समय भी औरों से कहता रहता था। अब इन गहनों और जवाहरात को लेकर मैं क्या करूँगा?

मैं इस निर्णय पर पहुँचा कि ये चीजें मैं हरगिज नहीं रख सकता। पारसी रुस्तमजी इत्यादि को इन गहनों के ट्रस्टी बना कर उनके नाम एक चिट्ठी तैयार की और सुबह स्त्री-पुत्रादि से सलाह करके अपना बोझ हलका करने का निश्चय किया।

मैं जानता था कि धर्मपत्नी को समझाना मुश्किल पड़ेगा। मुझे विश्वास था कि बालकों को समझाने में ज़रा भी दिक़्क़त न पेश आवेगी, अतएव उन्हें वकील बनाने का विचार किया।

बच्चे तो तुरन्त समझ गये। वे बोले, 'हमें इन गहनों से कुछ मतलब नहीं ये सब चीजें हमें लौटा देनी चाहिएँ। और यदि जरूरत होगी तो क्या हम खुद न बना सकेंगे?'

मैं प्रसन्न हुआ। 'तो तुम बा—माताजी—को समझाओगे न?' मैंने पूछा।

'ज़रूर-ज़रूर। यह हमसे आया। वह कहाँ इन गहनों को पहनने चली है? वह रखना चाहेगी भी तो हमारे ही लिए न? पर जब हमें ही इनकी ज़रूरत नहीं है, तब फिर वह क्यों ज़िद करने लगीं?'

परन्तु काम अंदाज़ से ज्यादा मुश्किल साबित हुआ।

'तुम्हें चाहे ज़रूरत न हो और लड़कों को भी न हो। बच्चों का क्या? जैसा समझा दें समझ जाते हैं। मुझे चाहे न पहनने दो; पर मेरी बहुओं को क्या ज़रूरत न होगी? और कौन कह सकता है कि कल क्या होगा? जो चीज़ लोगों ने इतने प्रेम से दी है उसे वापस लौटाना ठीक नहीं।' इस प्रकार वाग्धारा शुरू हुई और उसके साथ अश्रुधारा आ मिली। लड़के दृढ़ रहे, और मैं भला क्यों डिगने लगा?

मैंने धीरे से कहा—'पहले लड़कों की शादी तो हो लेने दो। हम बचपन में तो इनके विवाह करना चाहते ही नहीं हैं। बड़े होने पर जो इनका जी चाहे सो करें। फिर हमें क्या गहनों-कपड़ों की शौकीन बहुयें खोजनी हैं? फिर भी अगर कुछ बनवाना ही होगा तो मैं कहाँ चला गया हूँ?'

'हाँ, जानती हूँ तुमको। वही न हो, जिन्होंने मेरे भी गहने उतार लिये हैं! जब मुझे ही नहीं पहनने देते हो तो मेरी बहुओं को ज़रूर ला दोगे! लड़कों को तो अभी से वैरागी बना रहे हो! इन गहनों को मैं नहीं वापस देने दूँगी। और फिर मेरे हार पर तुम्हारा क्या हक़?'

'पर यह हार तुम्हारी सेवा के खातिर मिला है या मेरी?' मैंने पूछा।

'जैसा भी हो। तुम्हारी सेवा में क्या मेरी सेवा नहीं है? मुझसे जो रात-दिन मजूरी कराते हो, क्या वह सेवा नहीं है? मुझे रुला-रुलाकर जो ऐरें-गैरों को घर में रक्खा और मुझसे सेवा-टहल कराई, वह कुछ भी नहीं?'

ये सब बाण तीखे थे। कितने ही तो मुझे चुभ रहे थे। पर गहने वापस लौटाने का मैं निश्चय ही कर चुका था। अन्त को बहुतेरी बातों में मैं जैसे-तैसे सम्मति प्राप्त कर सका। १८९६ और १९०१ में मिली भेंटें वापस लौटाईं। उनका ट्रस्ट बनाया गया और लोक-सेवा के लिए उसका उपयोग मेरी अथवा ट्रस्टियों की इच्छा के अनुसार होने की शर्त पर वह रक़म बैंक में रक्खी गई। इन चीज़ों को बेचने के निमित्त से मैं बहुत बार रुपया एकत्र कर सका हूँ। आज भी आपत्ति कोष के रूप में वह रक़म मौजूद है और उसमें वृद्धि होती जाती है।

इस बात के लिए मुझे कभी पश्चात्ताप न हुआ। आगे चल कर कस्तूरबाई को भी उसका औचित्य जँचने लगा। इस तरह हम अपने जीवन में बहुतेरे लालचों से बच गये हैं।

मेरा यह निश्चित मत हो गया है कि लोक-सेवक को जो भेंटें मिलती हैं, वे उसकी निजी चीज़ कदापि नहीं हो सकतीं।

(१३)

देश में

इस तरह देश के लिए रुखसत हुआ। रास्ते में मारीशस पड़ता था। वहाँ जहाज़ बहुत देर तक ठहरा। मैं उतरा और वहाँ की स्थिति का ठीक-ठीक अनुभव प्राप्त कर लिया। एक रात वहाँ के गवर्नर सर चार्ल्स ब्रुस के यहाँ भी बिताई थी।

हिन्दुस्तान पहुँचने पर कुछ समय इधर-उधर घूमने में व्यतीत किया। यह १९०१ की बात है। इस साल राष्ट्रीय महासभा का अधिवेशन कलकत्ते में था। दीनशा एदलजी वाच्छा सभापति थे। मैं महासभा में जाना तो चाहता ही था। महासभा का मेरा यह पहला अनुभव था।

बंबई से जिस गाड़ी में सर फ़िरोज़शाह चले, उसी में मैं भी रवाना हुआ। उनसे मुझे दक्षिण आफ्रिका के विषय में बातें करनी थीं। उनके डब्बे में एक स्टेशन तक जाने की मुझे आज्ञा मिली। वह ख़ास सैलून में थे। उनके शाही वैभव और ख़र्च-बर्च से मैं वाक़िफ था। निश्चित स्टेशन पर मैं उनके डब्बे में गया। उस समय उनके डब्बे में तत्कालीन दीनशाजी और चिमनलाल

सेतलवाड बैठे थे। उनके साथ राजनीति की बातें हो रही थीं। मुझे देखकर सर फिरोजशाह बोले—'गांधी, तुम्हारा काम पूरा पड़ने का नहीं। प्रस्ताव तो हम जैसा तुम कहोगे पास कर देंगे; पर पहले यही देखो न, कि हमारे ही देश में हमें कौनसे हक़ मिल गये हैं? मैं तो मानता हूँ कि जब तक अपने देश में ही हमें सत्ता नहीं मिली है तब तक उपनिवेशों में हमारी हालत अच्छी नहीं हो सकती।'

मैं तो सुनकर स्तंभित हो गया। सर चिमनलाल ने भी उन्हींकी हाँ में हाँ मिलाई। परंतु सर दीनशा ने मेरी ओर दया भरी दृष्टि से देखा।

मैंने उन्हें समझाने का प्रयत्न किया। परन्तु बम्बई के बिना ताज के बादशाह को भला मुझ जैसा आदमी क्या समझा सकता था? मैंने इसी बात पर सन्तोष माना कि चलो महासभा में प्रस्ताव तो पेश हो जायगा।

'प्रस्ताव बना कर मुझे दिखाना भला, गांधी!' सर दीनशा मुझे उत्साहित करने के लिए बोले।

मैंने उन्हें धन्यवाद दिया। दूसरे स्टेशन पर गाड़ी खड़ी रहते ही मैं वहाँ से खिसका और अपने डब्बे में आकर बैठ गया।

कलकत्ते पहुँचा। नगरवासी अध्यक्ष इत्यादि नेताओं को धूम-धाम से स्थान पर ले गये। मैंने एक स्वयं-सेवक से पूछा—'ठहरने का प्रबंध कहाँ है?'

वह मुझे रिपन कालेज ले गया। वहाँ बहुतेरे प्रतिनिधि ठहरे हुए थे। सौभाग्य से जिस विभाग में मैं ठहरा था, वहीं लोकमान्य भी ठहराये गये थे। मुझे ऐसा स्मरण है कि वह एक दिन बाद आये थे। जहां लोकमान्य होते वहाँ छोटा सा दरबार लगा ही रहता था। यदि मैं चितेरा होऊं तो जिस चारपाई पर वह बैठते थे उसका चित्र

खींचकर दिखाऊँ—उस स्थान का और उनकी बैठक का इतना स्पष्ट स्मरण मुझे है ! उनसे मिलने आने वाले असंख्य लोगों में एक का नाम मुझे याद है—'अमृतबाजारपत्रिका' के स्व० मोती बाबू । इन दोनों का कहकहा लगाना और राज्य-कर्त्ताओं के अन्याय-सम्बन्धी उनकी बातें कभी भुलाई नहीं जा सकतीं।

पर ज़रा यहाँ के प्रबन्ध की ओर दृष्टिपात करें।

स्वयं-सेवक एक दूसरे लड़ पड़ते थे। जो काम जिसे सौंपा जाता वह उसे नहीं करता था। वह तुरन्त दूसरे को बुलाता और दूसरा तीसरे को। बेचारा प्रतिनिधि न इधर का रहता न उधर का।

मैंने कुछ स्वयं-सेवकों से मेल-मुलाक़ात की। दक्षिण आफ्रिका की कुछ बातें उनसे की। इससे वे कुछ शरमाये। मैंने उन्हें सेवा का मर्म समझाने की कोशिश की। वे कुछ-कुछ समझे। परन्तु सेवा का प्रेम कुम्भी की तरह जहाँ-तहाँ उग नहीं निकलता। उसके लिए एक तो इच्छा होनी चाहिए और फिर अभ्यास। इन भोले और भले स्वयं-सेवकों में इच्छा तो बहुत थी; पर तालीम और महावरा कहाँ से हो सकता था? महासभा साल में तीन दिन होती और फिर सो रहती। हर साल तीन दिन की तालीम से कितनी बातें सीखी जा सकती हैं?

जो स्वयं-सेवकों का हाल था, वही प्रतिनिधियों का। उन्हें भी तीन ही दिन तालीम मिलती थी। वे अपने हाथों कुछ भी नहीं करते थे। हर बात में हुक्म से काम लेते थे। 'स्वयं-सेवक, यह लाओ' और 'वह लाओ' यही हुक्म छूटा करते।

छुआछूत का विचार भी बहुतों में था। द्राविड़ी रसोई-घर बिलकुल जुदा था। इन प्रतिनिधियों को तो दृष्टि-दोष

भी बरदाश्त न होता था। उनके लिए कम्पाउण्ड में एक जुदी पाकशाला बनाई गई थी। उसमें धुआँ इतना होता था कि आदमी का दम घुट जाय। खान-पान सब उसी में होता। रसोईघर क्या था, मानों एक सन्दूक था—सब तरफ से बंद!

मुझे यह वर्ण-धर्म अखरा। महासभा में आने वाले प्रतिनिधियों को जब इतनी छूत लगती है तो जो लोग इन्हें अपना प्रतिनिधि बनाकर भेजते हैं उन्हें कितनी छूत लगती होगी, इसकी त्रैराशिक लगाने लगा। और इसका जो उत्तर मिला, उसपर मेरे मुँह से निकल पड़ा—'ओफ़!'

गंदगी की सीमा नहीं। चारों ओर पानी ही पानी हो रहा था। पाखाने कम थे। उनकी बदबू की याद से आज भी रोंगटे खड़े होजाते हैं। मैंने एक स्वयंसेवक का ध्यान उसकी ओर खींचा। उसने बेधड़क होकर कहा—'यह तो भंगी का काम है'। मैंने झाड़ू मँगाई। वह मेरा मुँह ताकता रहा। आखिर मैं ही झाड़ू खोज लाया। पाखाना साफ किया। पर यह तो हुआ अपनी सुविधा के लिए। लोग इतने ज्यादा थे और पाखाने इतने कम थे कि कई बार उनके साफ होने की जरूरत थी। पर यह मेरे काबू के बाहर था। इसलिए मुझे सिर्फ अपनी सुविधा करके सन्तोष मानना पड़ा। मैंने देखा कि औरों को यह गंदगी खलती न था।

पर यहीं तक बस नहीं है। रात के समय तो कोई कमरे के बरामदे में ही पाखाने बैठ जाता था। सुबह मैंने स्वयं-सेवक को वह मैला दिखाया। पर कोई साफ करने के लिए तैयार न था। यह गौरव आखिर मुझे ही प्राप्त हुआ।

आजकल इन बातों में यद्यपि बहुत थोड़ा सुधार हुआ है, तथापि अविचारी प्रतिनिधि अब भी महासभा के कैंप को जहाँ-तहाँ मल-त्याग करके बिगाड़ देते हैं, और सब स्वयं-सेवक उसे साफ करने के लिए तैयार नहीं होते।

मैंने देखा कि यदि ऐसी गंदगी में महासभा की बैठक अधिक दिनों तक जारी रहे तो अवश्य बीमारियाँ फैल निकलें।

(१४)

कारकुन और 'बेरा' *

महासभा के अधिवेशन को एक-दो दिन की देर थी। मैंने निश्चय किया था कि महासभा के दफ्तर में यदि मेरी सेवा स्वीकार हो तो कुछ सेवा करके अनुभव प्राप्त करूँ।

जिस दिन हम आये उसी दिन नहा-धो कर महासभा के दफ्तर में गया। श्री भूपेन्द्रनाथ बसु और श्री घोषाल मन्त्री थे। भूपेन बाबू के पास पहुँचकर कोई काम माँगा। उन्होंने मेरी ओर देखकर कहा—

'मेरे पास तो कोई काम नहीं है—पर, शायद, मि० घोषाल तुमको कुछ बतावेंगे। उनसे मिलो।'

मैं घोषाल बाबू के पास गया। उन्होंने मुझे नीचे से ऊपर तक देखा। कुछ मुस्कराये और बोले—

'मेरे पास कारकुन का काम है—करोगे?'

मैंने उत्तर दिया—'जरूर करूँगा। मेरे बस-भर सब-कुछ करने के लिए मैं आपके पास आया हूँ।'

---

* अंग्रेज़ी 'बेअरर' शब्द का अपभ्रंश। खिदमतगार। कलकत्ते में घर के नौकर को 'बेरा' कहने का रिवाज पड़ गया है।

'नवयुवक सच्चा सेवा-भाव इसीको कहते हैं ।'

कुछ स्वयंसेवक उनके पास खड़े थे। उनकी ओर मुखातिब होकर कहा—

'देखते हो, इस नवयुवक ने क्या कहा ?'

फिर मेरी ओर देखकर कहा—'तो लो यह चिट्ठियों का ढेर और यह मेरे सामने पड़ी है कुरसी । उसे ले लो । देखते हो न, सैकड़ों आदमी मुझसे मिलने आया करते हैं । अब मैं उनसे मिलूँ या ये लोग फालतू चिट्ठियाँ लिखा करते हैं इन्हें उत्तर दूँ ? पास ऐसे कारकुन नहीं कि जिनसे मैं यह काम ले सकूँ । इन चिट्ठियों में बहुतेरी तो फिजूल ही होंगी । पर तुम सबको पढ़ जाना । जिनकी पहुँच लिखना जरूरी हो उनकी पहुँच लिख देना और जिनके उत्तर के लिए मुझसे पूछना हो पूछ लेना ।' उनके इस विश्वास से मुझे बड़ी खुशी हुई ।

श्री घोषाल मुझे पहचानते न थे । नाम-धाम तो मेरा उन्होंने बाद को जाना । चिट्ठियों के जवाब आदि का काम बहुत आसान था । उन सबको मैंने तुरन्त निपटा दिया । घोषाल बाबू खुश हुए । उन्हें बातें करने की आदत थी । मैं देखता था कि वह बातों में बहुत समय लगाया करते थे । मेरा इतिहास जानने के बाद तो मुझे कारकुन का काम देने की उन्हें जरा शर्म मालूम हुई । पर मैंने उन्हें निश्चिंत किया ।

'कहाँ मैं और कहाँ आप ! आप महासभा के पुराने सेवक, मेरे नजदीक तो आप बुजुर्ग हैं । मैं ठहरा अनुभवहीन नवयुवक, यह काम सौंप कर मुझ पर तो आपने अहसान ही किया है । क्योंकि मुझे आगे चलकर महासभा में काम करना है । उसके

काम-काज को समझने का अलभ्य अवसर आपने मुझे दिया है।

'सच पूछो तो यही सच्ची मनोवृत्ति है। परन्तु आजकल के नवयुवक ऐसा नहीं मानते। पर मैं तो महासभा को उसके जन्म से पहचानता हूँ। उसकी स्थापना करने में मि० ह्यूम के साथ मेरा भी हाथ था।' घोषाल बाबू बोले।

हम दोनों में खासा सम्बन्ध हो गया। दोपहर के खाने के समय वह मुझे साथ रखते घोषाल बाबू के बटन भी 'बेरा' लगाता। यह देखकर 'बेरा' का काम खुद मैंने ले लिया। मुझे वह अच्छा लगता। बड़े-बूढ़ों की ओर मेरा बड़ा आदर रहता था। जब वह मेरे मनोभाव से परिचित हो गये, तब अपनी निजी सेवा का सारा काम मुझे करने देते थे। बटन लगवाते हुए मुँह पिचका कर मुझे कहते—'देखो न, महासभा के सेवक को बटन लगाने तक की फुरसत नहीं मिलती। क्योंकि उस समय भी वे काम में लगे रहते हैं, इस भोलेपन पर मुझे मन में हँसी तो आई। परन्तु ऐसी सेवा के लिए मन में अरुचि बिलकुल न हुई। उससे जो लाभ मुझे हुआ उसकी कीमत नहीं आँकी जा सकती।

थोड़े ही दिनों में मैं महासभा के तंत्र से परिचित हो गया। बहुत से अगुओं से भेंट हुई। गोखले, सुरेन्द्रनाथ आदि योद्धा आते-जाते रहते। उनका रंग-ढंग मैं देख सका। महासभा में समय जिस तरह बर्बाद होता था, वह मेरी नजर में आया। अंग्रेजी भाषा का दौर-दौरा भी देखा। इससे उस समय भी दुःख हुआ था। मैंने देखा कि एक आदमी के करने के काम में उससे अधिक आदमी लग जाते थे, और कुछ जरूरी कामों को तो कोई भी नहीं करता था।

मेरा मन इन तमाम बातों की आलोचना किया करता था। परन्तु चित्त उदार था—इसलिए, यह मान लेता कि शायद इससे अधिक सुधार होना असंभव होगा। फलतः किसी के प्रति मन में दुर्भाव उत्पन्न न हुआ।

(१५)

महासभा में

महासभा शुरू हुई। मण्डप का भव्य दृश्य, स्वयंसेवकों की कतार, मंच पर बड़े-बूढ़ों के समुदाय को देखकर मैं दंग हो गया। इस सभा में भला मेरा क्या पता चलेगा? इस विचार से मैं बेचैन हुआ।

सभापति का भाषण एक खासी पुस्तक थी। उसका पूरा पढ़ा जाना मुश्किल था। कोई-कोई अंश ही पढ़े गये।

फिर विषय-विचारणी समिति के सदस्य चुने गये। गोखले मुझे उसमें ले गये थे।

सर फ़िरोज़शाह ने मेरा प्रस्ताव लेना स्वीकार तो कर ही लिया था। मैं यह सोचता हुआ समिति में बैठा था कि उस प्रस्ताव को समिति में कौन पेश करेगा, कब करेगा, आदि। हर प्रस्ताव पर लम्बे-लम्बे भाषण होते थे—और, सब के सब अंग्रेजी में। प्रत्येक प्रस्ताव के समर्थक कोई न कोई प्रसिद्ध पुरुष थे। इस नक्कारखाने में मुझ तूती की आवाज कौन सुनेगा? ज्यों-ज्यों रात जाती थी, त्यों-त्यों मेरा दिल धड़कता था। मुझे याद आता है कि अन्त में रह जाने वाले प्रस्ताव आजकल के वायुयान की गति से

चलते थे। सब घर भागने की तैयारी में थे। रात के ११ बज गये। मेरी बोलने की हिम्मत न होती थी। पर मैं गोखले से मिल लिया था और उन्होंने मेरा प्रस्ताव देख लिया था।

उनकी कुरसी के पास जाकर मैंने धीरे से कहा—

'मेरी बात न भूलिएगा।'

उन्होंने कहा—'तुम्हारा प्रस्ताव मेरे ध्यान में है। यहाँ की जल्दी तो तुम देख ही रहे हो। पर मैं उसे भूल में न पड़ने दूँगा।'

'क्या अब सब खतम हुआ न?' सर फ़िरोजशाह बोले।

'अभी तो दक्षिण अफ्रिका का प्रस्ताव बाकी है न? मि० गाँधी बैठे राह देख रहे हैं।' गोखले बोल उठे।

'आपने उस प्रस्ताव को देख लिया है?' सर फ़िरोजशाह ने पूछा!

'हाँ, जरूर।'

'आपको ठीक जँचा है?'

'हाँ, सब ठीक है।'

'तो गाँधी, पढ़ो तो।'

मैंने काँपते हुए पढ़ सुनाया।

गोखले ने उसका समर्थन किया।

'सर्वसम्मति से पास' सब बोल उठे।

'गाँधी, तुम पाँच मिनट बोलना।' वाच्छा बोले।

इस दृश्य से मुझे खुशी न हुई। किसी ने प्रस्ताव को समझ लेने का कष्ट न उठाया। सब दौड़-भाग में थे। गोखले के देख लेने से औरों ने देखने-सुनने की जरूरत न समझी।

सुबह हुई।

मुझे तो अपने भाषण की पड़ी थी। पाँच मिनट में क्या कहूँगा? मैंने तैयारी अपनी तरफ से तो ठीक-ठीक की थी; परन्तु आवश्यक शब्द न सूझते थे। इधर यह निश्चय कर लिया था कि कुछ भी हो, लिखित भाषण न पढ़ूँगा। पर ऐसा प्रतीत हुआ, मानों दक्षिण अफ्रिका में बोलने की जो निःसंकोचता आ गई थी वह यहाँ खो गई।

मेरे प्रस्ताव का समय आया और सर दीनशा ने मेरा नाम पुकारा। मैं खड़ा हुआ; सिर चक्कर खाने लगा। ज्यों-त्यों करके प्रस्ताव पढ़ा। किसी कवि ने अपनी एक कविता समस्त प्रतिनिधियों में बाँटी थी। उसमें विदेश जाने और समुद्र-यात्रा करने की स्तुति की गई थी। मैंने उसे पढ़ सुनाया और दक्षिण आफ्रिका के दुःखों की कुछ बात सुनाई। इतने में सर दीनशा ने घंटी बजाई। मुझे निश्चय था कि अभी पाँच मिनिट नहीं हुए हैं। पर मैं यह नहीं जानता था कि यह घंटी तो मुझे चेतावनी देने के लिए दो मिनट पहले ही बजा दी गई थी। मैंने बहुतों को आध-आध घंटे तक बोलते सुना था, पर घंटी न बजी थी। इससे मुझे दुःख हुआ। घण्टी बजते ही मैं बैठ गया। परन्तु मेरी अल्प बुद्धि ने उस समय मान लिया कि उस कविता के द्वारा सर फ़िरोजशाह को उत्तर मिल गया था।

प्रस्ताव के पास होने के संबन्ध में तो पूछना ही क्या? उस समय प्रेक्षक और प्रतिनिधि—यह भेद क्वचित ही था प्रस्तावों का विरोध भी कोई न करता था। सब हाथ ऊँचा कर देते थे। तमाम प्रस्ताव एक-मत से पास होते थे। मेरे प्रस्ताव का भी यही

हाल हुआ। इस कारण मुझे इस प्रस्ताव का महत्व न जँचा। फिर भी महासभा में उस प्रस्ताव का होना ही मेरे आनन्द के लिए बस था। महासभा की मुहर जिसपर लग गई उसपर सारे भारतवर्ष की मुहर है—यह ज्ञान किसके लिए काफी नहीं है ?

(१६)

लार्ड कर्ज़न का दरबार

महासभा तो समाप्त हुई, परन्तु मुझे दक्षिण आफ्रिका के काम के लिए कलकत्ते में रह कर चेम्बर आफ़ कामर्स इत्यादि संस्थाओं से मिलना था, इसलिए मैं एक महीना कलकत्ते ठहर गया। इस बार होटल में ठहरने के बदले, परिचय प्राप्त करके, 'इण्डिया क्लब' में रहने का प्रबन्ध किया। इसमें मुझे लोभ यह था कि यहाँ गण्य मान्य हिन्दुस्तानी ठहरा करते हैं, अतएव उनके संपर्क में आकर दक्षिण आफ्रिका के काम में उनकी दिलचस्पी पैदा कर सकूँगा। इस क्लब में गोखले हमेशा नहीं तो समय-समय पर बिलियर्ड खेलने आते थे। उन्हें इस बात की खबर मिलते ही कि मैं कलकत्ते में रहने वाला हूँ, उन्होंने मुझे अपने साथ रहने का निमन्त्रण दिया। मैंने उसे सादर स्वीकार किया। परन्तु अपने आप वहाँ जाना मुझे ठीक न मालूम हुआ। एक-दो दिन राह देखी थी कि गोखले खुद आकर अपने साथ मुझे ले गये। मेरी संकोच-वृत्ति देखकर उन्होंने कहा—

'गांधी, तुम्हें तो इसी देश में रहना है, इसलिए ऐसी शरम से काम न चलेगा। जितने लोगों के संपर्क मे आ सको, तुम्हें

आना चाहिए। मुझे तुमसे महासभा का काम लेना है।'

गोखले के यहाँ जाने से पहले 'इण्डिया क्लब' का एक अनुभव यहाँ दे देता हूँ।

इन्हीं दिनों लार्ड कर्जन का दरबार था। उसमें जाने वाले कोई राजा-महाराजा इस क्लब में थे। क्लब में मैं उन्हें हमेशा उम्दा बंगाली धोती-कुरता पहने तथा चादर डाले देखता था। आज उन्होंने पतलून, चोगा, खानसामा जैसी पगड़ी और चमकीले बूट पहने। यह देखकर मुझे दुःख हुआ और इस वेशान्तर का कारण उनसे पूछा।

'हमारा दुःख हमीं जानते हैं। हमारी धन-सम्पत्ति और उपाधियों को कायम रखने के लिए हमें जो जो अपमान सहन करने पड़ते हैं, उन्हें आप कैसे जान सकते हैं?' उत्तर मिला।

'परन्तु, यह खानसामा जैसी पगड़ी और बूट क्यों?'

हममें और खानसामा में आपने फर्क क्या समझा? वे हमारे खानसामा हैं तो हम लार्ड कर्जन के खानसामा हैं? यदि मैं दरबार में गैर-हाजिर रहूँ तो मुझे उसका फल भोगना पड़े। अपने मामूली लिबास में जाऊँ तो यह अपराध समझा जाय। और वहाँ जाकर भी क्या मैं लार्ड कर्जन से बात-चीत कर सकूँगा? बिलकुल नहीं।'

मुझे इस शुद्ध हृदय भाई पर दया आई।

इसी तरह का एक और दरबार याद आता है। जब काशी-हिन्दू-विश्व विद्यालय का शिलारोपण लार्ड हार्डिंग के हाथों से हुआ तब उनके लिए दरबार किया गया था। उसमें राजा-महाराजा तो थे ही, भारत-भूषण मालवीयजी ने मुझे भी उसमें

उपस्थित रहने के लिए खास तौर पर आग्रह किया था। मैं वहाँ गया। राजा-महाराजाओं के वस्त्राभूषणों को, जो केवल स्त्रियों को ही शोभा दे सकते थे, देखकर मुझे बड़ा दुःख हुआ। रेशमी पजामे, रेशमी अंगरखे और गले में हीरे मोतियों की मालायें, बाँह पर बाज़ूबन्द औ पगड़ियों पर हीरे-मोतियों की लड़ियाँ और तुर्रे! इन सब के साथ कमर में सोने की मूठ की तलवार लटकती रहती। किसीने कहा—यह इनके राज्याधिकार के नहीं बल्कि गुलामी के चिन्ह हैं। मैं समझता था कि ऐसे नामर्दी के आभूषण वे स्वेच्छा से पहनते होंगे। परन्तु मुझे मालूम हुआ कि ऐसे समारोह में अपने तमाम कीमती वस्त्राभूषण पहनकर आना इसके लिए लाज़िमी था। मुझे पता लगा कि कितने ही राजाओं को तो ऐसे वस्त्राभूषण से नफ़रत थी, और ऐसे दरबार के अवसरों के अलावा वे कभी उन्हें न पहनते थे। मैं नहीं कह सकता कि यह बात कहाँ तक सच है। दूसरे अवसरों पर वे चाहे पहनते हों या न पहनते हों, वाइसराय के दरबार में हों अथवा दूसरी जगह हों, स्त्रियोचित आभूषण पहन कर उन्हें जाना पड़ता है, यही काफ़ी दुःखदायक है। धन, सत्ता और मान मनुष्य से क्या-क्या पाप और अनर्थ नहीं कराते!

(१७)

गोखले के साथ एक मास

पहले ही दिन गोखले ने मुझे महमान न समझने दिया। मुझे अपने छोटे भाई की तरह रक्खा । मेरी तमाम जरूरतें मालूम कर लीं और उनका प्रबन्ध कर दिया । खुशकिस्मती से मेरी जरूरतें बहुत कम थीं । सब काम खुद कर लेने की आदत डाल ली थी, इसलिए औरों से मुझे बहुत ही कम काम कराना पड़ता था । स्वावलम्बन की मेरी इस आदत की, उस समय के मेरे कपड़े-लत्तों की सुघरता की, मेरी उद्योग-शीलता और नियमितता की बड़ी गहरी छाप उनपर पड़ी और उनकी इतनी स्तुति करने लगे कि मैं परेशान हो जाता ।

मुझे यह न मालूम हुआ कि उनकी कोई बात मुझसे गुप्त थी । जो कोई बड़े आदमी उनसे मिलने आते उनका परिचय वह मुझे कराते थे । इन परिचयों में जो आज सबसे प्रधान रूप से मेरी नजरों के सामने खड़े हो जाते हैं वह हैं डा० प्रफुल्लचन्द्रराय । वह गोखले के मकान के पास ही रहते थे और प्रायः हमेशा आया करते थे ।

'यह हैं प्रोफेसर राय, जो ८००) मासिक पाते हैं; पर अपने

खर्च के लिए सिर्फ ४०) लेकर बाकी सब लोक-सेवा में लगा देते हैं। इन्होंने शादी नहीं की है, न करना ही चाहते हैं।' इन शब्दों में गोखले ने मुझे उनका परिचय कराया।

आज के डा० राय में और उस समय के प्रो० राय में मुझे थोड़ा ही भेद दिखाई देता है। जैसे कपड़े उस समय पहनते थे आज भी लगभग वैसे ही पहनते हैं —हाँ, अब खादी आ गई। उस समय खादी तो थी ही नहीं। स्वदेशी मिलों के कपड़े होंगे। गोखले और प्रो० राय की बातें सुनते हुए मैं न अघाता था। क्योंकि उनकी बातें या तो देश-हित के संबंध में होतीं या होतीं ज्ञान-चर्चा। कितनी ही बातें दुःखद भी होतीं; क्योंकि उनमें नेताओं की आलोचना भी होती थी। जिन्हें मैं महान् योद्धा मानना सीखा था, वे छोटे दिखाई देने लगे।

गोखले की काम करने की पद्धति से मुझे जितना आनन्द हुआ। उतना ही बहुत-कुछ सीखा भी। वह अपना एक भी क्षण व्यर्थ न जाने देते थे। मैंने देखा कि उनके तमाम संबंध देश-कार्य के ही लिए होते थे। बातें भी तमाम देश-कार्य के ही निमित्त होती थीं। बातों में कहीं भी मलिनता, दम्भ या असत्य न दिखाई दिया। हिन्दुस्तान की ग़रीबी और पराधीनता उन्हें प्रतिक्षण चुभती थी। अनेक लोग उन्हें अनेक बातों में दिलचस्पी कराने आते। वे उन्हें एक ही उत्तर देते—'आप इस काम को कीजिए, मुझे अपना काम करने दीजिए। मुझे तो देश की स्वाधीनता प्राप्त करनी है। उसके बाद मुझे दूसरी बातें सूझेंगी। अभी तो इस काम से मुझे एक क्षण फुरसत नहीं रहती।'

रानडे के प्रति उनका पूज्य भाव बात-बात में टपक पड़ता था।

'रानडे ऐसा कहते थे', यह तो उनकी बातचीत का मानों 'सूत उवाच' ही था। मेरे वहाँ रहते हुए रानडे की जयंती (या पुण्य-तिथि, अब ठीक याद नहीं है) पड़ती थी। ऐसा जान पड़ा, मानों गोखले सर्वदा उसको मनाते हों। उस समय मेरे अलावा उनके मित्र प्रोफेसर काथवटे तथा दूसरे एक सज्जन थे। उन्हें उन्होंने जयंती मनाने के लिए निमंत्रित किया। और उस अवसर पर उन्होंने हमें रानडे के कितने ही संस्मरण कह सुनाये। रानडे, तैलंग और माण्डलिक की तुलना की थी। ऐसा याद पड़ता है कि तैलंग की भाषा की स्तुति की थी। माण्डलिक की सुधारक के रूप में प्रशंसा की थी। अपने मवक्किलों की वह कितनी चिन्ता रखते थे, इसका एक उदाहरण दिया। एक बार गाड़ी चूक गई, तो माण्डलिक स्पेशल ट्रेन करके गये। यह घटना कह सुनाई। रानडे की सर्वाङ्गीण शक्ति का वर्णन करके बताया कि वे तत्कालीन अग्रणियों में सर्वोपरि थे। रानडे अकेले न्यायमूर्ति न थे। वह इतिहासकार थे, अर्थशास्त्री, थे, सुधारक थे। सरकारी जज होते हुए भी महासभा में प्रेक्षक के रूप में निर्भय होकर आते थे। फिर उनकी समझदारी पर लोगों का इतना विश्वास था कि सब उनके निर्णयों को मानते थे। इन बातों का वर्णन करते हुए गोखले के हर्ष का ठिकाना न रहता था।

गोखले घोड़ा-गाड़ी रखते थे। मैंने उनसे शिकायत की। मैं उनकी कठिनाइयाँ न समझ सका था। 'क्या आप सब जगह ट्राम में नहीं जा सकते? क्या इससे नेताओं की प्रतिष्ठा कम हो जायगी?'

कुछ दुःखित होकर उन्होंने उत्तर दिया—'क्या तुम भी मुझे

न पहचान सके ? बड़ी धारासभा में जो कुछ मुझे मिलता है उसे मैं अपने काम में नहीं लेता। तुम्हारे ट्राम के सफ़र पर मुझे ईर्ष्या होती है। पर मैं ऐसा नहीं कर सकता। जब तुमको मेरे जितने लोग पहचानने लग जावेंगे तब तुम्हें भी ट्राम में बैठना असंभव नहीं तो मुश्किल ज़रूर हो जायगा। नेता लोग जो कुछ करते हैं, केवल आमोद-प्रमोद ही के लिए करते हैं, यह मानने का कोई कारण नहीं। तुम्हारी सादगी मुझे पसंद है। मैं भरसक सादगी से रहता हूँ। पर यह बात निश्चित समझना कि कुछ ख़र्च तो मुझ जैसों के लिए अनिवार्य हो जाता है।'

इस तरह मेरी एक शिकायत तो ठीक तरह से रद हो गई पर मुझे एक दूसरी शिकायत भी थी और उसका वह सन्तोष-जनक उत्तर न दे सके।

'पर आप घूमने भी तो पूरे नहीं जाते। ऐसी हालत में आप बीमार क्यों न रहें ? क्या देश-कार्य से व्यायाम के लिए भी फ़ुरसत नहीं मिल सकती ?' मैंने कहा।

'मुझे तुम कब फ़ुरसत में देखते हो कि जिस समय मैं घूमने जाता ?' उत्तर मिला।

गोखले के प्रति मेरे मनमें इतना आदर-भाव था कि मैं उनकी बातों का जवाब न देता था। इस उत्तर से मुझे संतोष न हुआ, पर मैं चुप रहा। मैं मानता था और अबभी मानता हूँ कि जिस तरह हम भोजन-पान के लिए समय निकालते हैं उसी तरह व्यायाम के लिए भी निकालना चाहिए। मेरी यह नम्र सम्मति है कि उससे देश-सेवा कम नहीं, अधिक होती है।

(१८)

गोखले के साथ एक मास—२

गोखले की छत्रच्छाया में रह कर यहाँ मैंने अपना सारा समय घर में बैठ कर नहीं बिताया।

मैंने अपने दक्षिण आफ्रिका वाले ईसाई मित्रों से कहा था कि भारत में मैं अपने देशी-ईसाइयों से ज़रूर मिलूँगा और उनकी स्थिति को जानूँगा। कालीचरण बनर्जी का नाम मैंने सुना था। राष्ट्रीय महासभा में वह आगे बढ़-बढ़ कर काम करते थे। इसलिए उनके प्रति मेरे मन में आदर-भाव हो गया था। क्योंकि हिन्दुस्तानी ईसाई आम तौर पर महासभा से और हिन्दुओं तथा मुसलमानों से अलग रहते थे। इसलिए जो अविश्वास उनके प्रति था वह कालीचरण बनर्जी के प्रति न दिखाई दिया। मैंने गोखले से कहा कि मैं उनसे मिलना चाहता हूँ। उन्होंने कहा—'वहाँ जा कर तुम क्या करोगे? वह हैं तो बहुत भले आदमी; परन्तु मैं समझता हूँ कि उनसे मिलकर तुम्हें सन्तोष न होगा। मैं उनको खूब जानता हूँ। फिर भी तुम जाना चाहो तो खुशी से जा सकते हो।'

मैंने कालीबाबू से मिलने का समय माँगा। उन्होंने तुरंत समय दिया और मैं मिलने गया। घर में उनकी धर्मपत्नी मृत्यु-

शय्या पर पड़ी हुई थीं। वहाँ सर्वत्र सादगी फैली हुई थी। महा-सभा में वह कोट-पतलून पहने हुए थे, पर घर में बंगाली धोती व कुरता पहने हुए देखा। यह सादगी मुझे भाई। उस समय यद्यपि मैं पारसी कोट-पतलून पहने हुए था, तथापि उनकी पोशाक और सादगी मुझे बहुत ही प्रिय लगी। मैंने और बातों में उनका समय न लेकर अपनी उलझनें उनके सामने पेश कीं।

उन्होंने मुझसे पूछा, 'आप यह बात मानते हैं या नहीं कि हम अपने पापों को साथ लेकर जन्म पाते हैं?'

मैंने उत्तर दिया—'हाँ, ज़रूर!'

"तो इस मूल पाप के निवारण का उपाय हिन्दू-धर्म में नहीं, पह ईसाई धर्म में है।'

यह कह कर उन्होंने कहा—'पाप का बदला है मौत। बाइबल कहती है कि इस मौत से बचने का मार्ग है ईसा की शरण में जाना।'

मैंने भगवद्गीता का भक्ति-मार्ग उनके सामने उपस्थित किया। परंतु मेरा यह उद्योग निरर्थक था। मैंने उनकी सज्जनता के लिए उनको धन्यवाद दिया। मुझे संतोष तो न हुआ, फिर भी इस मुलाक़ात से लाभ ही हुआ।

इसी महीने में मैंने कलकत्ते की एक एक गली की ख़ाक छान डाली। प्रायः पैदल ही जाता था। इसी समय मैं न्यायमूर्ति मित्र से मिला, सर गुरुदास बनर्जी से भी मिला। इन सज्जनों की सहायता दक्षिण आफ्रिका के काम के लिए आवश्यक थी। राजा सर प्यारीमोहन मुकर्जी के दर्शन भी इसी समय हुए।

कालीचरण बनर्जी ने मुझसे काली-मंदिर का जिक्र किया था। उसे देखने की मुझे प्रबल इच्छा थी। एक पुस्तक में मैंने

वहाँ का वर्णन भी पढ़ा था। सो एक दिन वहाँ चला गया। न्याय-मूर्ति मित्र का मकान उसी मुहल्ले में था। इसलिए मैं जिस दिन उनसे मिला, उसी दिन कालीमंदिर गया। रास्ते में बलिदान के बकरों की कतार जाती हुई देखी। मंदिर की गली में पहुँचते ही भिखारियों की भीड़ दिखाई दी। बाबा-वैरागी तो थे ही। उस समय भी मेरा यह नियम था कि हट्टे-कट्टे भिखारी को कुछ न दिया जाय। पर भिखारी तो बहुत ही पीछे पड़े थे।

एक बाबाजी एक चौंतरे पर बैठे थे। उन्होंने मुझे बुलाया, 'क्यों बेटा कहाँ जाते हो?' मैंने यथोचित उत्तर दिया। उन्होंने मुझे तथा मेरे साथी को बैठने के लिए कहा, हम बैठ गये।

मैंने पूछा—'इन बकरों के बलिदान को आप धर्म समझते हैं?'

उन्होंने कहा—'जीव-हत्या को धर्म कौन मानेगा?'

'तो आप यहाँ बैठे-बैठे लोगों को उपदेश क्यों नहीं देते?'

'यह हमारा काम नहीं। हम तो यहाँ बैठ कर भगवद्भक्ति करते हैं।'

'पर आपको भक्ति के लिए यही स्थान मिला, दूसरा नहीं?'

'कहीं भी बैठें, हमारे लिए सब जगह एकसी है। लोगों का क्या, वे तो भेड़-बकरी के झुण्ड की तरह हैं। जिधर हांकें उधर चले जायँ। हम साधुओं को इससे क्या मतलब?' बाबाजी बोले।

मैंने संवाद आगे न बढ़ाया। उसके बाद हम मंदिर में पहुँचे। सामने लहू की नदी बह रही थी। दर्शन करने के लिए खड़े रहने की इच्छा न रही। मेरे मन में बड़ा क्षोभ उत्पन्न हुआ। मैं छटपटाने लगा। इस दृश्य को मैं अबतक नहीं भूल सका हूँ।

उसी समय बंगाली मित्रों की एक पार्टी में मुझे निमंत्रण था,

वहाँ मैंने एक सज्जन से इस घातकी पूजा के संबन्ध में बातचीत की। उन्होंने कहा—'वहाँ बलिदान के समय खूब नौबत बजती है, जिसकी गूँज में बकरों को कुछ मालूम नहीं होता। हम मानते हैं कि ऐसी गूँज में चाहे जिस तरह मारें, उन्हें तकलीफ नहीं होती।'

मुझे यह बात न जँची। मैंने कहा, 'यदि वे बकरे बोल सकें तो इससे भिन्न बात कहेंगे।' मुझे लगा कि यह घातक रिवाज अवश्य बंद होना चाहिए। मुझे बुद्धदेव वाली कथा याद आई। परंतु मैंने देखा कि यह काम मेरे सामर्थ्य के बाहर था।

उस समय इस सम्बन्ध में जो मेरी धारणा हुई वह अब भी मौजूद है। मेरे नजदीक बकरे के प्राण की कीमत मनुष्य के प्राण से कम नहीं है। मनुष्य-देह को कायम रखने के लिए बकरे का खून करने को मैं कभी तैयार न होऊँगा। मैं मानता हूँ कि जो प्राणी जितना ही अधिक असहाय होगा, वह मनुष्य की घातकता से बचने के लिए मनुष्य के आश्रय का उतना ही अधिक अधिकारी है। परन्तु इसके लिए काफ़ी योग्यता वा अधिकार प्राप्त किये बिना मनुष्य ऐसा आश्रय देने में समर्थ नहीं हो सकता। बकरों को इस क्रूर होम से बचाने के लिए मुझे बहुत आत्मशुद्धि और त्याग की आवश्यकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि अभी तो इस शुद्धि और त्याग का रटन करते-करते ही मुझे यह देह छोड़ना पड़ेगा। परमात्मा करे, ऐसा कोई तेजस्वी पुरुष अथवा कोई तेजस्वी सती उत्पन्न हो, जो इस महापातक से मनुष्य को बचावे, निर्दोष जीवों की रक्षा करे, और मन्दिर को शुद्ध करे। मैं निरंतर यह प्रार्थना किया करता हूँ। ज्ञानी, बुद्धिवान, त्याग-वृत्ति और भावना-प्रधान बंगाल क्योंकर इस हत्या को सहन कर रहा है?

(१५)

गोखले के साथ एक मास--३

काली-माता के निमित्त यह जो विकराल यज्ञ हो रहा है, उसको देखकर बंगाली जीवन का अध्ययन करने की मेरी इच्छा तीव्र हुई। उसमें से ब्रह्म-समाज के विषय में तो मैंने ठीक तौर पर साहित्य पढ़ा था और सुना भी था। प्रतापचन्द्र मजूमदार के जीवन-वृत्तान्त से मैं थोड़ा-बहुत परिचित था। उनके व्याख्यान सुने थे। उनका लिखा केशवचन्द्र सेन का जीवन-चरित्र लेकर बड़े चाव से पढ़ा, और साधारण ब्रह्म समाज तथा आदि ब्र-ह्मसमाज का भेद मालूम किया। पण्डित शिवनाथ शास्त्री के दर्शन किये। महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर के दर्शन करने प्रो० काथवटे और मैं गये। पर उस समय वह किसी से मिलते-जुलते न थे। अतएव हम उनके दर्शन न कर सके। परंतु उनके यहाँ ब्रह्म-समाज का उत्सव था। उसमें हम भी निमंत्रित किये गये थे। वहाँ ऊँचे दर्जे का बंगाली संगीत सुना। तभी से बंगाली संगीत से मेरा अनुराग हो गया।

ब्रह्म-समाज का, जितना हो सकता था, अध्ययन करने के बाद भला यह कैसे हो सकता था कि स्वामी विवेकानन्द के दर्शन

न करता ? बड़ी उत्सुकता के साथ मैं बेलूर-मठ तक प्रायः पैदल गया। कितना पैदल चला था, यह अब याद नहीं पड़ता है। मठ का एकान्त स्थान मुझे बड़ा सुहावना मालूम हुआ। वहाँ जाने पर मालूम हुआ कि स्वामीजी बीमार हैं, उनसे मुलाकात नहीं हो सकती, और वह अपने घर कलकत्ते में हैं। यह समाचार सुन कर मैं निराश हुआ। भगिनी निवेदिता के घर का पता पूछा। चौरंगी के एक महल में उनके दर्शन हुए। उनकी शान को देख-कर मैं भौंचक रह गया। बात-चीत में भी हमारी पटरी बहुत न बैठी। मैंने गोखले से इसका जिक्र किया। उन्होंने कहा, 'वह बाई बड़ी तेज़ है, तुम्हारी-उसकी पटरी बैठनी मुश्किल है।'

एक बार और उनसे मेरी भेंट पेस्तनजी पादशाह के यहाँ हुई थी। जिस समय मैं वहाँ पहुँचा, वह पेस्तनजी की वृद्धा माता को उप-देश दे रही थीं। इसलिए मैं अनायास उनका दुभाषिया बन गया। यद्यपि भगिनी का और मेरा मेल न बैठता था, तथापि मैं इतना अवश्य देख सका कि हिंदू-धर्म के प्रति उनका प्रेम अगाध है। उनकी पुस्तकें मैंने बाद को पढ़ीं।

अपने दैनिक कार्यक्रम के मैंने दो विभाग किये थे। आधा दिन दक्षिण आफ्रिका के काम के सिलसिले में कलकत्ते के नेताओं से मिलने में बिताता; और आधा दिन कलकत्ते की धार्मिक संस्थाओं तथा दूसरी सार्वजनिक संस्थाओं को देखने में। एक दिन मैंने डा० मल्लिक की अध्यक्षता में एक व्याख्यान दिया। उसमें मैंने यह बताया कि बोअर-युद्ध के समय हिन्दुस्तानियों के परिचारक दल ने क्या काम किया था। 'इंगलिशमैन' के साथ जो मेरा परिचय था, वह इस समय भी सहायक साबित हुआ।

मि० साण्डर्स का स्वास्थ्य इन दिनों खराब रहता था, फिर भी १८९६ की तरह इस समय भी उनसे मुझे उतनी ही मदद मिली। मेरा यह भाषण गोखले को पसंद आया, और जब डा० राय ने मेरे व्याख्यान की तारीफ़ उनसे की तो उसे सुनकर वह बड़े प्रसन्न हुए थे।

इस तरह गोखले की छत्रच्छाया में रहने के कारण बंगाल में मेरा काम बहुत सरल होगया। बंगाल के अग्रगण्य परिवारों से मेरा परिचय आसानी से होगया, और बंगाल के साथ मेरा निकट-सम्बन्ध हुआ। इस चिरस्मरणीय महीने के कितने ही संस्मरण मुझे छोड़ देने पड़ेंगे। उसी महीने में ब्रह्मदेश में भी गोता लगा आया था। वहाँ के फुंगियों से मिला। उनके आलस्य को देखकर बड़ा दुःख हुआ। सुवर्ण पेगोड़े के भी दर्शन किये। मंदिर में असंख्य छोटी-छोटी मोमबत्तियाँ जल रही थीं, वे कुछ जँची नहीं। मन्दिर के गर्भ-गृह में चूहों को दौड़ते हुए देखकर स्वामी दयानंद का अनुभव याद आया। ब्रह्मदेश की महिलाओं की स्वतंत्रता और उत्साह को देखकर मैं मुग्ध होगया और पुरुषों की मंदता देख कर दुःख हुआ। उसी समय मैंने देख लिया कि जैसे बंबई हिन्दुस्तान नहीं, उसी तरह रंगून ब्रह्मदेश नहीं है; और जिस प्रकार हिन्दुस्तान में हम अंग्रेज़-व्यापारियों के कमीशन-एजेंट बन गये हैं, उसी तरह ब्रह्मदेश में अंग्रेजों के साथ मिलकर हमने ब्रह्मदेश-वासियों को कमीशन-एजेंट बनाया है।

ब्रह्मदेश से लौटकर मैंने गोखले से बिदा माँगी। उनका वियोग मेरे लिए दुःसह था। परंतु मेरा बंगाल का—अथवा सच पूछिए तो यहाँ कलकत्ते का काम समाप्त होगया था।

मेरा किसी काम में पड़ने के पहले यह विचार था कि मैं थोड़ा-बहुत सफर तीसरे दर्जे में करूँ, जिससे तीसरे दर्जे के मुसाफिरों की हालत को जान लूँ और दुःखों को समझ लूँ। गोखले के सामने मैंने अपना यह विचार रक्खा। पहले-पहल तो उन्होंने इसे हँसी में गुज़ार दिया। पर जब मैंने यह बताया कि इसमें मैंने क्या-क्या बातें सोच रक्खी हैं, तब उन्होंने खुशी से मेरी योजना को स्वीकार किया। सबसे पहले मैंने काशी जाना और वहाँ जाकर विदुषी एनी बेसेंट के दर्शन करना स्थिर किया। वह उस समय बीमार थीं।

तीसरे दर्जे की यात्रा के लिए मुझे नया साज-सामान, जुटाना था। पीतल का एक डब्बा गोखले ने खुद ही दिया, और उसमें मेरे लिए मगद के लड्डू और पूरी रखवा दी। बारह आने का एक केनवास का बेग खरीदा। छाया (होरबंदर के नजदीक एक गाँव) के ऊन का एक लंबा कोट बनवाया था, बेग में यह कोट, तौलिया, कुरते और धोती रक्खे। ओढ़ने के लिए एक कम्बल साथ लिया। इसके अलावा एक लोटा भी साथ रक्खा था। इतना सामान लेकर मैं रवाना हुआ।

गोखले और डा० राय मुझे स्टेशन पहुँचाने आये। मैंने दोनों से अनुरोध किया था कि वे न आवें, पर उन्होंने एक न सुनी। 'तुम यदि पहले दर्जे में सफर करते तो मैं नहीं आता, पर अब तो जरूर चलूँगा'—गोखले बोले।

प्लेटफार्म पर जाते हुए गोखले को तो किसी न रोका। उन्होंने सिर पर अपना रेशमी साफ़ा बाँधा था, और धोती तथा कोट पहना था। डा० राय बंगाली लिबास में थे। इसलिए

टिकट बाबू ने अन्दर आते हुए पहले तो रोका, पर गोखले ने कहा 'मेरे मित्र हैं,' तब डा० राय भी अंदर आ सके। इस तरह दोनों ने मुझे विदा दी।

(२०)

काशी में

यह सफ़र कलकत्ते से राजकोट तक का था। उसमें काशी, आगरा, जयपुर और पालनपुर होते हुए राजकोट जाना था। इन स्थानों को देख लेने के सिवाय अधिक समय नहीं दे सकता था। हरएक जगह एक-एक दिन रहा। पालनपुर को छोड़ कर और सब जगह मैं यात्रियों को तरह धर्मशाला में या पण्डों के मकान पर ठहरा था। जहाँ तक मुझे याद है इस यात्रा में रेल किराये सहित इकत्तीस रुपये लगे थे। तीसरे दर्जे में प्रवास करते हुए भी मैं अक्सर डाकगाड़ी में नहीं जाता था, क्योंकि मैं जानता था कि उसमें भीड़ ज्यादा होती है और तीसरे दर्जे के किराये के हिसाब से वहाँ पैसे भी अधिक देने पड़ते थे। मेरे लिए यह अड़चन भी थी ही।

तीसरे दर्जे के डब्बों में जो गन्दगी और पाखानों की बुरी हालत इस समय है, वही पहले भी थी। शायद इन दिनों कुछ सुधार हो गया हो, पर तीसरे और पहले दर्जे की सुविधाओं में जो अंतर है, वह इन दोनों दर्जों के किराये के अंतर की अपेक्षा बहुत अधिक मालूम हुआ। तीसरे दर्जे के यात्री तो मानों

भेड़-बकरी होते हैं, और इनके बैठने के डब्बे भी भेड़-बकरियों के लायक होते हैं। यूरोप में तो मैंने अपनी सारी यात्रा तीसरे दर्जे में ही की थी; केवल अनुभव के लिए एक बार मैं पहले दर्जे में बैठा था। पर वहाँ मुझे पहले और तीसरे दर्जे के बीच यहाँ का सा अन्तर न दिखाई दिया। दक्षिण आफ्रिका में तो तीसरे दर्जे के मुसाफिर प्रायः हबशी लोग होते हैं, पर फिर भी वहाँ के तीसरे दर्जे के डब्बों में यात्रियों के आराम का ध्यान अधिक रक्खा जाता है। कहीं-कहीं तो मुसाफिरों के लिए तीसरे दर्जे के डब्बों में सोने का भी प्रबन्ध है, और बैठकों पर गद्दी भी लगी रहती है। प्रत्येक खाने में बैठने वाले यात्रियों की संख्या की मर्यादा का पालन किया जाता है, पर यहाँ तो मुझे कभी ऐसा अनुभव नहीं हुआ कि यात्रियों की संख्या की इस मर्यादा का पालन किया गया हो।

रेलवे-विभाग की इन असुविधाओं के अलावा यात्रियों की खराब आदतें भी सुघड़ यात्रियों के लिए तीसरे दर्जे की यात्रा को दण्ड-स्वरूप बना देती हैं। चाहे जहाँ थूक दिया, जहाँ चाहा कचरा फेंक दिया, जब जी में आया और जिस तरह चाहा बीड़ी फूँकने लगे पान और जरदा चबाकर जहाँ बैठे हों वहीं पिचकारी लगा दी, जूठन वहीं फर्श पर डाल दी, जोर-जोर से बातें करना, पास बैठे मनुष्य की परवा न करना, और गन्दी भाषा वगैरा, हैं तीसरे दरजे का सार्वजनिक अनुभव है।

तीसरे दर्जे की मेरी १९२० ई० की यात्रा के अनुभव में और १९१५ से १९१९ तक के दूसरी बार के अखण्ड अनुभव में मुझे कोई विशेष अन्तर नहीं दिखाई दिया। इस महा-व्याधि

का तो मुझे एकही उपाय दिखाई देता है। वह यही कि शिक्षित समाज तीसरे दर्जे में ही यात्रा करके इन लोगों की आदतें सुधारने का यत्न करे। इसके सिवाय रेलवे के अधिकारियों को शिकायतें कर-करके तंग कर डालना, अपने लिए सुविधा प्राप्त करने या सुविधा की रक्षा के लिए किसी प्रकार की रिश्वत न देना, और खिलाफ कानून बात को बर्दाश्त न करना—ये भी इसके उपाय हैं। मेरा अनुभव है कि ऐसा करने से बहुत-कुछ सुधार हो सकता है। अपनी बीमारी के कारण १९२० ई० से मुझे तीसरे दर्जे की यात्रा प्रायः बन्द करनी पड़ी है। इसपर मुझे सर्वदा दुःख और लज्जा मालूम होती रहती है। यह तीसरे दर्जे की यात्रा मुझे ऐसे समय पर बन्द करना पड़ी, जब कि तीसरे दर्जे के यात्रियों की कठिनाइयाँ दूर करने का काम रास्ते पर आता जाता था। रेलवे और जहाज में प्रवास करने वाले गरीबों को जो कष्ट एवं असुविधायें होती हैं, और जो उनकी निजी कुटेवों के कारण और भी अधिक हो जाती हैं, साथ ही सरकार की ओर से विदेशी व्यापारियों के लिए जो अनुचित सुविधायें की जाती हैं, इत्यादि बातें हमारे सार्वजनिक जीवन में एक स्वतंत्र और महत्व-पूर्ण प्रश्न बन बैठी हैं और इसे हल करने के लिए यदि एक-दो सुदक्ष और उद्योगी सज्जन अपना सारा समय दे डालें, तो वह अधिक नहीं होगा।

पर अब तीसरे दर्जे की यात्रा की चर्चा यहीं छोड़ कर काशी के अनुभव सुनिए। सुबह मैं काशी उतरा। मैं किसी पण्डे के ही यहाँ उतरना चाहता था। कई ब्राह्मणों ने मुझे चारों ओर से घेर लिया। उनमें से जो मुझे साफ़-सुथरा दिखाई दिया,

उसके घर जाना मैंने पसंद किया। मेरी पसंदगी ठीक भी निकली। ब्राह्मण के आँगन में गाय बँधी थी। घर दुमंजिला था। ऊपर मुझे ठहराया। मैं यथाविधि गंगा-स्नान करना चाहता था और तबतक निराहार रहना था। पंडे ने सारी तैयारी कर दी। मैंने पहले से कह रक्खा था कि १।) रुपये से अधिक दक्षिणा मैं नहीं दे सकूँगा, इसलिए उसी योग्य तैयारी करना। पंडे ने बिना किसी झगड़े के मेरी बात मानली। कहा—'हमतो क्या गरीब और क्या अमीर, सबसे एकही सी पूजा करवाते हैं। यजमान अपनी इच्छा और श्रद्धा के अनुसार जो दक्षिणा देदे वही सही।' मुझे ऐसा नहीं मालूम हुआ कि पंडे ने पूजा में कोई कोर-कसर रक्खी हो। बारह बजे तक पूजा-स्नान से निवृत्त होकर मैं काशी-विश्वनाथ के दर्शन करने गया। पर वहाँ जो कुछ देखा उससे मनमें बड़ा दुःख हुआ।

सन १८९१ ई० में जब मैं बम्बई में वकालत करता था, एक दिन प्रार्थना-समाज-मंदिर में 'काशी-यात्रा' पर एक व्याख्यान सुना था, इसलिए कुछ निराशा के लिए तो वहीं से तैयार हो गया था, पर प्रत्यक्ष देखने पर जो निराशा हुई वह तो धारणा से अधिक थी।

सकड़ी-फिसलनी गली से होकर जाना पड़ता था। शांति का कहीं नाम नहीं। मक्खियाँ चारों ओर भिनभिना रही थीं। यात्रियों और दूकानदारों का हो-हल्ला असह्य मालूम हुआ।

जिस जगह मनुष्य ध्यान एवं भगवच्चिन्तन की आशा रखता हो, वहाँ उनका नामोनिशान नहीं; ध्यान करना हो तो वह अपने अंतर में करले। हाँ, ऐसी भावुक बहनें मैंने जरूर देखीं, जो ऐसी ध्यान-मग्न थीं कि उन्हें अपने आस-पास का कुछ भी हाल मालूम न होता था। पर इसका श्रेय मंदिर के संचालकों को नहीं मिल

सकता। संचालकों का कर्तव्य तो यह है कि काशी-विश्वनाथ के आस-पास शांत, निर्मल, सुगंधित, स्वच्छ वातावरण—क्या बाह्य और क्या आंतरिक—उत्पन्न करें, और उसे बनाये रक्खें। पर इसकी जगह मैंने देखा कि वहाँ गुण्डे लोगों की नये से नये तर्ज की मिठाई और खिलौने की दूकानें लगी हुई थीं।

मंदिर पर पहुँचते ही मैंने देखा कि दरवाजे के सामने सड़े हुए फूल पड़े थे और उनमें से दुर्गन्ध निकल रही थी। अंदर बढ़िया संगमरमरी फर्श था। उसपर किसी अंधश्रद्धालु ने रुपये जड़ रक्खे थे, रुपयों में मैल-कचरा घुसा रहता था।

मैं ज्ञान-वापी के पास गया। यहाँ मैंने ईश्वर की खोज की, वह होगा, पर मुझे न मिला। इससे मैं मन ही मन घुट रहा था। ज्ञान-वापी के पास भी गंदगी देखी। भेंट रखने की मेरी जरा भी इच्छा न हुई, इसलिए मैंने तो सचमुच ही एक पाई वहाँ चढ़ाई। इस पर पंडाजी उखड़ पड़े! उन्होंने पाई उठाकर फेंकदी और दो चार गालियाँ सुनाकर बोले—'तू इस तरह अपमान करेगा तो नरक में पड़ेगा!'

मैं चुप रहा। मैंने कहा—'महाराज! मेरा तो जो होना होगा वह होगा, पर आपके मुँह से हलकी जबान शोभा नहीं देती। यह पाई लेना हो तो लें, वर्ना इसे भी गवायेंगे।' 'जा तेरी पाई मुझे नहीं चाहिए' कह कर उन्होंने ज्यादा भला-बुरा कहा। मैं पाई लेकर चलता हुआ। मैंने सोचा कि महाराज ने पाई गँवाई और मैंने बचाली। पर महाराज पाई खोने वाले न थे। उन्होंने मुझे फिर बुलाया और कहा—'अच्छा रखदे, मैं तेरे जैसा नहीं होना चाहता। मैं न लूँ तो तेरा बुरा होगा।'

मैंने चुपचाप पाई देदी और एक लंबी साँस लेकर चलता बना। इसके बाद भी दो-एक बार काशी-विश्वनाथ गया हूँ, पर वह तो तब, जब 'महात्मा' बन चुका था। इसलिए १९०२ के अनुभव भला कैसे मिलते? खुद मेरे ही दर्शन करने वाले मुझे क्या दर्शन करने देते? 'महात्मा' के दुःख तो मुझ जैसे 'महात्मा' ही जान सकते हैं। किंतु गंदगी और हो-हल्ला तो जैसे के तैसे ही वहाँ देखो।

परमात्मा की दया पर जिसे शंका हो वे ऐसे तीर्थ-क्षेत्रों को देखें। वह महायोगी अपने नाम पर होने वाले कितने ढोंग, अधर्म और पाखंड इत्यादि को सहन करते हैं। उन्होंने तो कह रक्खा है:—

"ये यथा मां प्रपद्यंते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

अर्थात्, "जैसा करना वैसा भरना"। कर्म को कौन मिथ्या कर सकता है? फिर भगवान को बीच में पड़ने की क्या जरूरत है? वह तो अपने क़ानून बतला कर अलग हो गया।

यह अनुभव लेकर मैं मिसेज़ बेसेंट के दर्शन करने गया। वह अभी बीमारी से उठी थीं। यह मैं जानता था। मैंने अपना नाम पहुँचाया। वह तुरंत मिलने आईं। मुझे तो सिर्फ दर्शन ही करने थे। इसलिए, मैंने कहा—

"मुझे आपकी तबीयत का हाल मालूम है, मैं तो सिर्फ आपके दर्शन करने आया हूँ। तबीयत ख़राब होते हुए भी आपने मुझे दर्शन दिये, केवल इसीसे मैं संतुष्ट हूँ; अधिक कष्ट मैं आपको नहीं देना चाहता।"

इसके बाद मैंने उनसे विदा ली।

(२१)

बम्बई में स्थिर हुआ

गोखले की बड़ी इच्छा थी कि मैं बम्बई रह जाऊँ, वहीं बैरिस्टरी करूँ, और उनके साथ सार्वजनिक जीवन में भाग लूँ। उस समय सार्वजनिक जीवन का मतलब था महासभा का काम। उनकी प्रस्थापित संस्था का ख़ास काम महासभा के तंत्र का संचालन था।

मेरी भी यही इच्छा थी, पर यहाँ काम मिल जाने के विषय में मुझे आत्म-विश्वास न था। पहले अनुभव की याद भूला न था, और खुशामद करना तो मेरे लिए मानों ज़हर था।

इसलिए पहले तो मैं राजकोट ही रहा। वहाँ मेरे पुराने हितैषी और मुझे विलायत भेजने वाले केवलराम मावजी दवे थे, उन्होंने मुझे तीन मुक़द्दमें दिये। दो अपीलें काठियावाड़ के ज्युडिशियल असिस्टेंट के इजलास में थीं, और ख़ास मुक़द्दमा जामनगर में था। यह मामला महत्व का था। इस मामले की ज़िम्मेदारी लेने में मैंने आनाकानी की, तब केवलराम बोल उठे—"हारेंगे तो हम हारेंगे न? तुमसे जितना हो सके करना, और मैं भी तो तुम्हारे साथ ही रहूँगा?'

इस मामले में प्रतिपक्षी की तरफ स्व० समर्थ थे। मेरी तैयारी भी ठीक थी। यहाँ के क़ानून की तो मुझे ठीक जानकारी न थी, पर इस सम्बन्ध में मुझे केवलराम दवे ने पूरा तैयार कर दिया था। दक्षिण आफ्रिका जाने से पहले मित्र लोग मुझे कहा करते थे—"एविडेन्स-एक्ट (साक्षी-विधान) फ़िरोज़शाह की जबान पर रक्खा है, और यही उनकी सफलता की चाबी है।" यह मैंने ध्यान में रक्खा, और दक्षिण आफ्रिका जाते समय मैंने भारत के इस कानून को टीका सहित पढ़ लिया था। इसके अतिरिक्त दक्षिण आफ्रिका का अनुभव तो था ही।

मुक़द्दमे में मेरी जीत हुई। इससे मुझे कुछ विश्वास हुआ। पहली दो अपीलों के विषय में तो मुझे पहले से ही भय न था। मन में सोचा कि अब बम्बई जाने पर वहाँ भी कोई हर्ज नहीं है।

इस विषय पर अधिक लिखने से पहले ज़रा अंग्रेज़ अधिकारियों के अविचार और अज्ञान का अनुभव भी कह डालूँ। ज्युडिशियल असिस्टेंट कहीं एक जगह नहीं बैठते थे। उनकी सवारी घूमती रहती थी और जहाँ यह साहब जाते वहीं वकील और मवक्किलों को भी जाना ही पड़ता। और वकील की फ़ीस जितनी उसके रहने की जगह पर हो, बाहर उससे अधिक होती ही है। इसलिए मवक्किल को सहज ही दुगुना खर्च पड़ता। पर इसका विचार करने की जज को ज़रूरत ?

इस अपील की सुनवाई वेरावल में होने वाली थी। वेरावल में उस वक्त प्लेग कसरत से था। जहाँ तक मुझे याद है, रोज़ ५० मृत्यु होती थीं। वहाँ की बस्ती ५,५०० के लगभग थी। क़रीब-क़रीब सारा गाँव खाली हो गया था। मेरे ठहरने का स्थान

वहाँ की निर्जन धर्मशाला में था। गाँव से वह कुछ दूरी पर थी। पर मवक्किलों का क्या हाल? यदि वे गरीब हों तो उनका मालिक बस ईश्वर ही को समझिए!

मुझे वकील मित्रों ने तार दिया कि मैं साहब से प्रार्थना करूँ कि प्लेग के कारण अदालत का स्थान बदल दें। प्रार्थना करने पर साहब ने पूछा—'क्या तुम्हें प्लेग से डर लगता है?'

मैंने कहा—"यह मेरे डरने का प्रश्न नहीं है। मुझे अपने बचने का तरीका मालूम है। पर मवक्किलों का क्या होगा?"

साहब बोले—'प्लेग ने तो हिन्दुस्तान में घर कर लिया है, उससे क्या डरना? वेरावल की हवा तो कितनी सुन्दर है! (साहब गाँव से दूर दरिया किनारे महल के समान एक तम्बू में रहते थे) लोगों को इस प्रकार बाहर रहना सीखना चाहिए।"

इस फिलासफी के सामने मेरी क्या चलने लगी? साहब ने सरिश्तेदार से कहा—"मि० गाँधी का कहना ध्यान में रखना। यदि वकील और मवक्किलों को ज्यादा तकलीफ मालूम दे, तो मेरा ध्यान आकर्षित करना।"

इसमें साहब ने तो स्पष्ट रूप से अपनी मति के माफिक उचित ही किया, पर उसे दीन हिन्दुस्तान की असुविधाओं का अन्दाज कैसे हो? वह बेचारा हिन्दुस्तान की आवश्यकताओं, आदतों, कुटेवों, और रिवाजों को क्या समझे? पन्द्रह रुपये की मुहर की गिनती करने वाला पाई की गिनती कैसे झट लगा सकता है? अच्छे से अच्छा हेतु होने पर भी जैसे हाथी चींटी के लिए विचार करने में असमर्थ होता है, उसी प्रकार हाथी के समान जरूरत वाला अंग्रेज भी चींटियों के समान जरूरत वाले हिन्दु-

स्तानी के लिए विचार करने और नियम-निर्माण करने में असमर्थ ही होगा।

अब ख़ास विषय पर आता हूँ। इस प्रकार सफलता मिलने पर भी थोड़े समय राजकोट में ही रहने का विचार कर रहा था। इतने में एक दिन केवलराम मेरे पास आये, और बोले—'अब तुमको यहाँ न रहने देंगे, तुम्हें तो बम्बई में ही रहना पड़ेगा।'

"पर वहाँ मेरी पूछ ही ज्यादा न होगी; क्या आप मेरा ख़र्च चलायेंगे?" मैंने कहा।

"हाँ, हाँ, मैं तुम्हारा ख़र्च चलाऊँगा, तुम्हें बड़े-बड़े बैरिस्टरों की तरह किसी वक्त यहाँ लाऊँगा, और लिखने-लिखाने का काम तो तुम्हारे लिए वहीं भेज दिया करूँगा। बैरिस्टरों को बड़े-छोटे बनाने का काम तो हम वकीलों का है न? तुमने जाजानगर और वेरावल में जैसा काम किया है, इससे मैं बेफिकर हूँ। तुम जो लोक-सेवा करने के लिए पैदा हुए हो, उसे हम यहाँ काठियावाड़ में दफ़न नहीं होने देंगे। बोलो, कब जारहे हो?"

"नेटाल से मेरे कुछ रुपये आने बाकी हैं, उनके आने पर जाऊँगा।"

दो-एक सप्ताह में रुपये आगये और मैं बम्बई चला गया। वहाँ मैंने पेईन, गिल्बर्ट और समानी के आफिस में "[illegible]" किराये पर लिये और वहीं स्थिर हो गया।

(२२)

धर्म-संकट

आफिस के अलावा मैंने गिरगाँव में घर भी लिया। परन्तु ईश्वर ने मुझे स्थिर नहीं रहने दिया। घर लिये बहुत दिन नहीं हुए थे कि मेरा दूसरा लड़का बीमार होगया। काल-ज्वर ने उसे घेर लिया था। बुखार उतरा नहीं था। घबराहट तो थी ही। पर रात को सन्निपात के लक्षण भी दिखाई देने लगे। इस व्याधि से पहले, बचपन में, उसे शीतला भी खूब निकल चुकी थी।

डाक्टर की सलाह ली। डाक्टर ने कहा—'इसके लिए दवा का उपयोग नहीं हो सकता, अब तो इसे अण्डे और मुर्गी का शोरबा देने की जरूरत है।'

मणिलाल की वय दस साल की थी, उससे तो मुझे क्या पूछना था? जिम्मेदार तो मैं ही था, मुझे ही निर्णय करना था। डाक्टर एक भले पारसी सज्जन थे। मैंने कहा—"डाक्टर, हम तो सब अन्नाहारी हैं। मेरा विचार तो मेरे लड़के को इन दोनों में से एक भी वस्तु देने का नहीं है। दूसरी कोई वस्तु न बतलाँयगे?"

डाक्टर बोले—"तुम्हारे लड़के की जान खतरे में है। दूध और पानी मिलाकर दिया जा सकता है, पर उससे पूरा संतोष नहीं हो सकता। तुम जानते हो कि मैं तो बहुत से हिंदू परिवारों में

जाया करता हूँ. पर दवा के लिए तो हम जो चाहते हैं वही चीज उन्हें देते हैं, और वे उसे लेते भी हैं। मैं समझता हूँ कि तुम भी अपने लड़के के साथ ऐसी सख्ती न करो तो अच्छा होगा।"

"आप जो कहते हैं वह तो ठीक है, और आपको ऐसा कहना ही चाहिए। पर मेरी जिम्मेदारी बहुत बड़ी है। यदि लड़का बड़ा होता तो जरूर उसकी इच्छा के जानने का प्रयत्न भी करता और और जो वह चाहता वही उसे करने देता, पर यहाँ तो इसके लिए मुझे ही विचार करना पड़ रहा है। मैं तो समझता हूँ कि मनुष्य के धर्म की कसौटी ऐसे ही समय होती है। चाहे ठीक हो चाहे गलत, मैंने तो इसीको धर्म माना है कि मनुष्य को मांसा-दिक न खाना चाहिए। जीवन के साधनों की भी सीमा होती है। जीने के लिए भी अमुक वस्तुओं को हमें नहीं ग्रहण करना चाहिए। मेरे धर्म की मर्यादा मुझे और मेरे लोगों को भी ऐसे समय पर माँस इत्यादि का उपयोग करने से रोकती है। इसलिए आप जिस खतरे को देखते हैं मुझे उसे उठाना ही चाहिए। पर आपसे मैं एक बात चाहता हूँ। आपके उपचार तो मैं नहीं करूँगा, पर मुझे इस बालक की नाड़ी और हृदय को देखना नहीं आता है। जल-चिकित्सा की मुझे थोड़ी जानकारी है। उन उपचारों को मैं करना चाहता हूँ। परन्तु जो आप नियम से मणिलाल की तबीयत देखने को आते रहें, और उसके शरीर में होनेवाले फेरफारों से मुझे अभिज्ञ करते रहेंगे, तो मैं आपका उपकार मानूँगा।"

सज्जन डाक्टर मेरी कठिनाइयों को समझ गये। और मेरी इच्छानुसार उन्होंने मणिलाल को देखने के लिए आना मंजूर कर लिया।

यद्यपि मणिलाल अपनी राय कायम करने लायक नहीं था, तो भी डाक्टर के साथ जो मेरी बात-चीत हुई थी वह उसे मैंने सुनाई और अपने विचार प्रकट करने को कहा।

'आप सुखपूर्वक जल-चिकित्सा कीजिए। मैं शोरबा नहीं पीऊँगा और न अण्डे खाऊँगा।' उसके इन वाक्यों से मैं प्रसन्न होगया, यद्यपि मैं जानता था कि अगर मैं उसे दोनों चीजें खाने को कहता तो वह खा भी लेता।

मैं क्यूनी के उपचारों को जानता था, उनका उपयोग भी किया था। बीमारी में उपवास का स्थान बड़ा है, यह भी मैं जानता था। क्यूनी की पद्धति के अनुसार मैंने मणिलाल को कटि-स्नान कराना शुरू किया। तीन मिनट से ज्यादा उसे मैं टब में नहीं रखता। तीन दिन तक तो सिर्फ नारंगी के रस में पानी मिला कर देता रहा और उसीपर रक्खा।

बुखार दूर नहीं होता था और रात को वह कुछ-कुछ बड़-बड़ाता भी था। बुखार १०४ डिग्री तक हो जाता था। मैं घबराया। यदि बालक को खो बैठा तो जगत् में लोग मुझे क्या कहेंगे? बड़े भाई क्या कहेंगे? दूसरे डाक्टर को क्यों न बुलाया जाय? वैद्य को क्यों न बुलाऊँ? माँ-बाप को अपनी अधूरी अक़्ल आजमाने का क्या हक़ है?

ऐसे विचार उठते। पर ये विचार भी उठते—'जीव! जो तू अपने लिए करता है, वही लड़के के लिए भी कर। इससे परमेश्वर सन्तोष मानेंगे। तुझे जल-चिकित्सा पर श्रद्धा है, दवा पर नहीं। डाक्टर जीवन-दान तो देते नहीं। उनके भी तो आखिर में प्रयोग ही न हैं, जीवन की डोरी तो एकमात्र ईश्वर के ही

हाथ में है। ईश्वर का नाम ले और उस पर श्रद्धा रख। अपने मार्ग को न छोड़।'

मन में इस तरह उथल-पुथल मचती रही। रात हुई। मैं मणिलाल को अपने पास लेकर सोया हुआ था। मैंने निश्चय किया कि उसे भिगोकर निचोड़े हुए कपड़ों में रक्खा जाय। मैं उठा, कपड़ा लिया, ठंडे पानी में उसे डुबोया और निचोड़ कर उसमें पैर से लेकर सिर तक उसे लपेट दिया, और ऊपर से दो कम्बल ओढ़ा दिये। सिर पर भीगा हुआ टुवाल भी रख दिया। शरीर तवे की तरह तप रहा था। वह सूखा था, पसीना तो आता ही न था।

मैं खूब थक गया था। मणिलाल को उसकी माँ को सौंप कर मैं आध घण्टे के लिए खुली हवा में ताजगी और शांति प्राप्त करने के इरादे से चौपाटी की तरफ गया। रात के दस बजे होंगे। मनुष्यों का आमद-रफ्त कम होगया था। पर मुझे इस का ख़याल न था! मैं विचार सागर में गोते लगा रहा था। "हे ईश्वर! इस धर्म-संकट में तू मेरी लाज रखना।" मुँह से 'राम-राम' का रटन तो चल ही रहा था। कुछ देर के बाद मैं वापस लौटा। मेरा कलेजा धड़क रहा था। घर में घुसते ही मणिलाल ने आवाज दी—'बापू! आप आगये?'

'हाँ, भाई!'

'मुझे इसमें से निकालिए न? मैं तो मारे आग के मरा जा रहा हूँ।'

'क्यों पसीना छूट रहा है क्या?'

'अजी मैं तो पसीने से तर होगया। अब तो मुझे निकालिए न?'

मैंने मणिलाल का सिर देखा। उसपर मोती की तरह पसीने

की बूँदें चमक रहीं थी। बुखार कम हो रहा था। मैंने ईश्वर को धन्यवाद दिया।

'मणिलाल, घबरा मत। अब तेरा बुखार चला जायगा। पर कुछ और पसीना आजावे तो कैसा ?' मैंने उससे कहा।

उसने कहा—'नहीं बापू ! अब तो मुझे छुड़ाइए। फिर दूसरे वक्त देखा जायगा।'

मुझे धैर्य आ गया था। इसलिए बातों ही में कुछ मिनट गुजार दिये। सिर से पसीने की धारा बह चला। मैंने चद्दर को अलग किया, और शरीर को पोंछ कर सूखा कर दिया। फिर बाप-बेटे दोनों सो गये। दोनों खूब सोये।

सुबह देखा तो मणिलाल का बुखार बहुत कम हो गया है। दूध, पानी तथा फलों पर वह चालीस दिन तक रहा। मैं निडर हो गया था। बुखार हठीला था, पर वह काबू में आ गया था। आज मेरे लड़कों में मणिलाल ही सबसे अधिक स्वस्थ और मजबूत है।

इसका निर्णय कौन कर सकता है कि यह रामजी की कृपा है, या जल-चिकित्सा, अल्पाहार अथवा और किसी उपाय की ? भलेही सभी अपनी-अपनी श्रद्धा के अनुसार बरतें, पर उस वक्त मेरी तो ईश्वर ने ही लाज रक्खी। यही मैंने माना, और आज भी मानता हूँ।

(२३)

फिर दक्षिण आफ्रिका

मणिलाल तो अच्छा हो गया, पर मैंने देखा कि गिरगाँव वाला मकान रहने लायक न था। उसमें सील थी। प्रकाश भी काफी न था। इसलिए रेवाशंकर भाई से सलाह करके हम दोनों ने बम्बई के किसी खुली जगह वाले मुहल्ले में मकान लेने का निश्चय किया। मैं बाँदरा, सांताक्रुज, वगैरा में भटका। बाँदरा में कसाई-खाना था, इसलिए वहाँ रहने की हमारी इच्छा नहीं हुई। घाटकोपर वगैरा समुद्र से दूर मालूम हुए। सांताक्रुज में एक सुन्दर बंगला मिल गया। वहाँ रहने गये। हमें मालूम हुआ कि आरोग्य की दृष्टि से हम सुरक्षित हो गये। चर्चगेट जाने के लिए मैंने वहाँ से पहले दर्जे का पास ले लिया। मुझे स्मरण है कि कई बार पहले दर्जे में मैं अकेला ही रहता। इसलिए मुझे कुछ अभिमान भी होता। कई बार बाँदरा से चर्चगेट जानेवाली खास गाड़ी पकड़ने के लिए सांताक्रुज से चलकर जाता। मेरा धन्धा आर्थिक दृष्टि से भी ठीक चलता हुआ मालूम होने लगा। दक्षिण आफ्रिका के मवक्किल भी मुझे कुछ काम देते थे। मुझे मालूम हुआ कि इससे मेरा खर्च सहूलियत से निकल सकेगा।

हाइकोर्ट का काम तो अभी मुझे नहीं मिलता था; पर उस समय वहाँपर जो 'मूट' (चर्चा) चलती रहती थी, उसमें मैं जाया करता था। पर उसमें भाग लेने की मेरी हिम्मत नहीं होती थी। मुझे याद है कि उसमें जमीयतराम नाना भाई काफी भाग लेते थे। दूसरे नये बैरिस्टरों की भांति मैं भी हाइकोर्ट के मुकदमे सुनने के लिए जाने लगा। पर वहाँ कुछ जानने के बदले समुद्र की फर-फर चलने वाली हवा में झोंके खाने में अच्छा आनन्द मिलता था। दूसरे साथी भी ऊँघते ही थे. इससे मुझे शर्म भी न आती। मैंने देखा कि ऊँघना भी 'फैशन' में शुमार है!

हाइकोर्ट के पुस्तकालय का उपयोग शुरू किया; और वहाँ कुछ जान-पहचान भी शुरू की। मुझे लगा कि थोड़े ही समय में मैं भी हाइकोर्ट में काम करने वाला हो जाऊँगा।

इस प्रकार एक ओर मुझे अपने धन्धे के विषय में कुछ निश्चिन्तता होने लगी। दूसरी तरफ गोखले की नजर तो मुझपर थी ही। सप्ताह में दो-तीन बार चेम्बर में आकर वह मेरी खबर ले जाते, और कभी-कभी अपने खास मित्रों को भी ले आते थे। बीच-बीच वह अपने काम करने के ढंग से भी मुझे वाकिफ करते जाते थे।

पर मेरे भविष्य के विषय में यह कहना ठीक होगा कि ईश्वर ने ऐसा कोई काम नहीं होने दिया, जिसे करने का मैंने पहले सोच रक्खा हो।

जैसे ही मैंने स्थिर होने का निश्चय किया और स्वस्थता का अनुभव करने लगा, एकाएक दक्षिण आफ्रिका से तार आ गया, "चेम्बरलेन यहाँ आ रहे हैं, तुम्हें शीघ्र आना चाहिए।" मेरे

वचन मुझे याद थे। मैंने तार दिया—'खर्च भेजिए, मैं आने को तैयार हूँ।" उन्होंने तत्काल रुपये भेजे और मैं आफिस समेटकर रवाना हो गया।

मैंने सोचा था कि मुझे वहाँ एक वर्ष तो यों ही लग जायगा। बंगला रहने दिया और बाल-बच्चों को भी वहीं रखना ठीक समझा

मैं यह मानता था कि जो युवक देश में कमाई न करते हों और साहसी हों उन्हें विदेशों में जाना चाहिए। इसलिए मैं अपने साथ चार-पाँच युवकों को भी ले गया। उनमें मगनलाल गाँधी भी थे।

गाँधी-कुटुम्ब बड़ा था, आज भी है। मेरी इच्छा थी कि उसमें से जो लोग स्वतंत्र होना चाहें वे स्वतंत्र हो जायँ। मेरे पिता कइयों का निर्वाह करते थे; पर वह थे रजवाड़ों की नौकरी में। मैं चाहता था कि वह इस नौकरी से निकल सकतो ठीक हो। यह हो नहीं सकता था कि मैं उन्हें दूसरी नौकरी दिलवाने का यत्न करता; शक्ति होने पर भी इच्छा नहीं थी। मेरी धारणा तो यह थी कि वह स्वयं और दूसरे भी स्वावलम्बी बनें तो अच्छा।

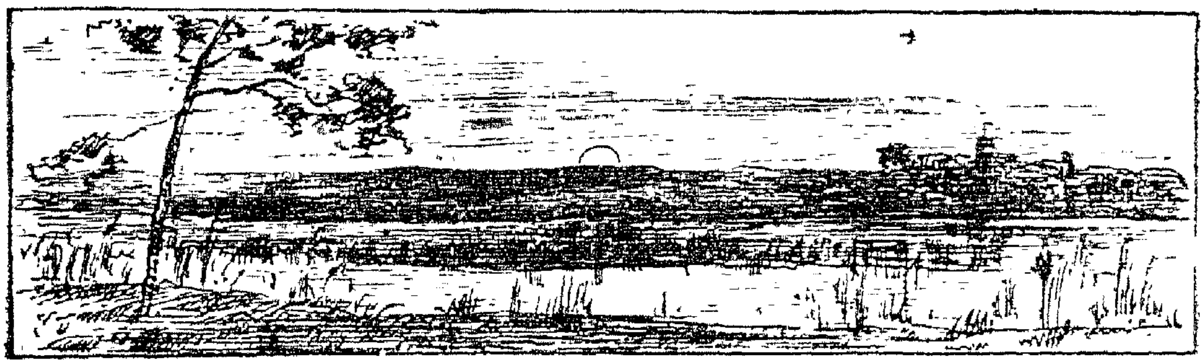
पर अन्त में तो ज्यों-ज्यों मेरे आदर्श आगे बढ़े (यह मैं मानता हूँ) त्यों-त्यों उन युवकों के आदर्श को बनाना भी मैंने आरम्भ किया। उनमें मगनलाल गाँधी को बनाने में मुझे बड़ी सफलता मिली; पर इस विषय पर आगे चलकर लिखा जायगा।

बाल-बच्चों का वियोग, जमा हुआ काम तोड़ देना, निश्चितता से अनिश्चितता में प्रवेश करना—यह सब क्षणभर के लिए खटका, पर मैं तो अनिश्चित जीवन का आदी हो गया था। इस

दुनिया में ईश्वर या सत्य। कुछ भी कहिए, उसके सिवा दूसरी कोई चीज निश्चित नहीं। यहाँ निश्चितपन को मानना ही भ्रम है। यह सब जो अपने आस-पास हमें दिखाई पड़ता है, और बनता रहता है, अनिश्चित और क्षणिक है; उसमें जो एक परमतत्व निश्चित रूप से छिपा हुआ है। उसकी 'झांकी' सर्वदा हो और उस पर श्रद्धा बनी रहे, तभी हमारा जीवन सार्थक हो सकता है। उसकी खोज ही परम-पुरुषार्थ है।

मैं डरबन एक दिन भी पहले पहुँचा, यह नहीं कहा जा सकता। मेरे लिए तो काम तैयार ही रक्खा था। मि० चेम्बरलेन से मिलने वाले डेप्यूटेशन की तारीख तय हो चुकी थी। मुझे उनके सामने पढ़ने के लिए अर्ज़ी तैयार करनी थी, और डेप्यूटेशन के साथ जाना था।

भाग तीसरा, खंड पहला, समाप्त



म० गांधी के कुछ विचार

शिक्षा

परोपकार करना, दूसरे की सेवा करना, और उसमें जरा-भी अहंकार न करना—यही सच्ची शिक्षा है।

❀ ❀ ❀

तुम्हें पढ़ने की इतनी चिन्ता क्यों है? यदि कमाने योग्य होने के लिए यह चिन्ता हो तो उसे छोड़ दो। क्योंकि परमात्मा सबके पेट के लिए देता है। तुम मजदूरी करके भी अपना पेट भर सकते हो। अगर तुम्हें देश-सेवा के लिए पढ़ना हो तो वह अब भी करते ही हो। अगर आत्मा को पहचानने के लिए पढ़ना हो तो पहले अच्छे बनो।

❀ ❀ ❀

जबतक तुम अपने चरित्र को पवित्र बनाये रख सकते हो, अपना कर्त्तव्य किये जाते हो, मैं तुम्हारे अक्षर-ज्ञान के विषय में निश्चित हूँ।

❀ ❀ ❀

मनुष्य का सच्चा धंधा तो यह है कि वह अपना चरित्र बनावे। कमाने के लिए कुछ सीखने की जरूरत नहीं। जो मनुष्यता को नहीं छोड़ता वह कभी भूखों नहीं मर सकता। और यदि कहीं ऐसा समय आ भी जाय तो वह घबराता नहीं।

❀ ❀ ❀

हमारी सम्पूर्ण शिक्षा-पद्धति सड़ी हुई है। इसकी फिर नये सिर से रचना करने की जरूरत है।

अगर मेरी चले तो आजकल पाठशाला में जो पुस्तकें पढ़ाई जाती हैं उनमें अधिकांश को मैं नष्ट कर दूँ; और ऐसी पुस्तकें

लिखवाऊँ, जिनका गृह-जीवन से निकट-सम्बन्ध हो। इससे उनकी पढ़ाई का उपयोग उनके गृह-जीवन में भी हो सकेगा।

❀ ❀ ❀

स्वदेशी

स्वदेशी वह भावना है, जो हमें अपने आसपाप की परिस्थिति का उपयोग करने एवं उसकी सेवा करने की प्रेरणा करती है।

❀ ❀ ❀

अगर मुझमें स्वदेशी-भावना है तो धर्म के विषय में मैं अपने पूर्वजों के धर्म पर ही दृढ़ रहूँगा। इससे मैं अपनी परिवर्ती धार्मिक परिस्थति का उपयोग करता हूँ। अगर मुझे उसमें खामी दिखाई दे तो उसे दूर करके मुझे अपने धर्म की सेवा करनी चाहिए। राजनैतिक बातों में भी मुझे देशी संस्थाओं का ही उपयोग करना चाहिए। आर्थिक विषय में मुझे अपने आसपास रहने वालों की बनाई चीजों का ही उपयोग करना चाहिए।

अगर आदमी स्वदेशी-भावना के अनुसार आचरण करे तो दुनिया में सतयुग जल्दी आ जायगा।

❀ ❀ ❀

मेरा तो खयाल है कि मेरी तमाम प्रवृत्तियों में चरखा सबसे अधिक स्थायी और कल्याणकारी है। हिन्दुस्तान के लाखों परिवारों की दरिद्रता और अकालों का वह रामबाण उपाय है।

अकालों के कारण लोग इतने भूखों मरते हैं कि कितने ही परिवार डूब मरते हैं। इसका कारण यह नहीं कि बाजार में अनाज नहीं मिलता, बल्कि यह है कि अनाज खरीदने के लिए

उनके पास पैसे नहीं। आठ घंटे कातने वाली औरतों को चरखा प्रति दिन तीन आने दे सकता है।

❀ ❀ ❀

जो आदमी एक बार खादी खरीदता है वह कम से कम तीन आने ग़रीबों के यहाँ देता है। खादी में कितना स्वदेशाभिमान है, यह वही आदमी जानता है, जो आग्रह-पूर्वक खादी पहनता है। स्वदेशी, करोड़ों के लिए कल्याणकारक है।

❀ ❀ ❀

खादी हिन्दू-मुसलिम एकता की निशानी है और दरिद्रों के प्रति सहानुभूति का चिन्ह है।

❀ ❀ ❀

असहयोग

यदि हमारे असहयोग के मानी सचमुच आत्म-शुद्धि है तो वह हमें और इंग्लैण्ड को भी ऊँचा उठा देगा। जहाँ एक भी आदमी तपश्चर्या करता है, वहाँ का वायु-मण्डल शुद्ध हो जाता है।

❀ ❀ ❀

असहयोग आत्म-शुद्धि का मार्ग है। और हमें हमसे जुदे होने वालों के अंतः करण और भावनाओं को जागृत करने का सतत प्रयत्न करते हुए उनके बाल को भी चोट नहीं पहुँचानी चाहिए।

❀ ❀ ❀

प्रत्येक स्त्री-पुरुष को चाहिए कि महासभा की प्रतिज्ञा ले, महासभा का चन्दा देकर अपना नाम उसके सभासदों में लिखवाये, तिलक-स्वराज्य-कोष में धन दे, राष्ट्रीय शालाओं की सहायता करे, विदेशी कपड़े छोड़ दे, चरखा चलावे, अछूतों की सहायता करे, पंचायतों की स्थापना करे, और बीमारों की सेवा करे।